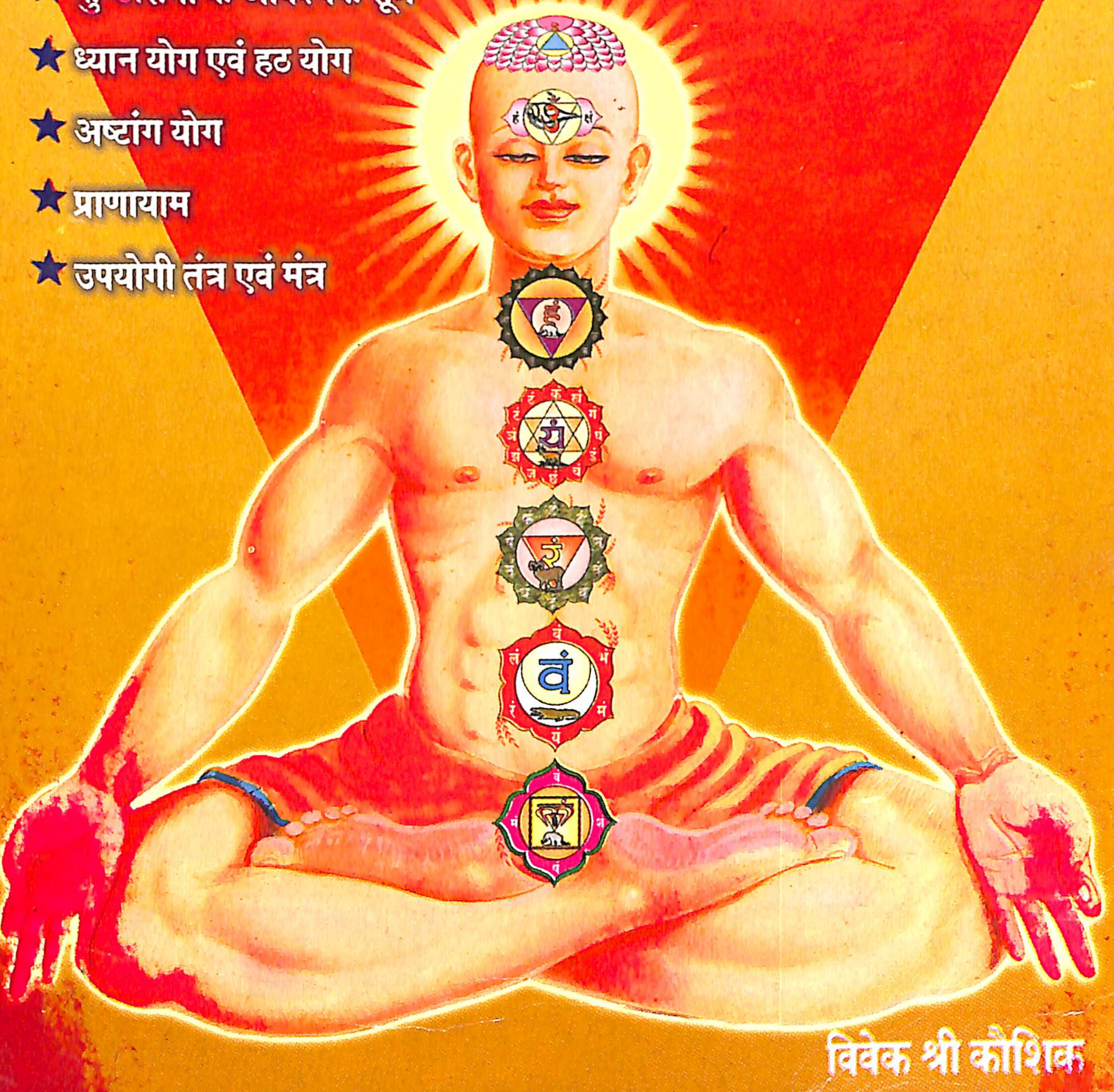
गोल्ड बुक्स

कुण्डलिनी शक्ति
कैसे जागृत करें

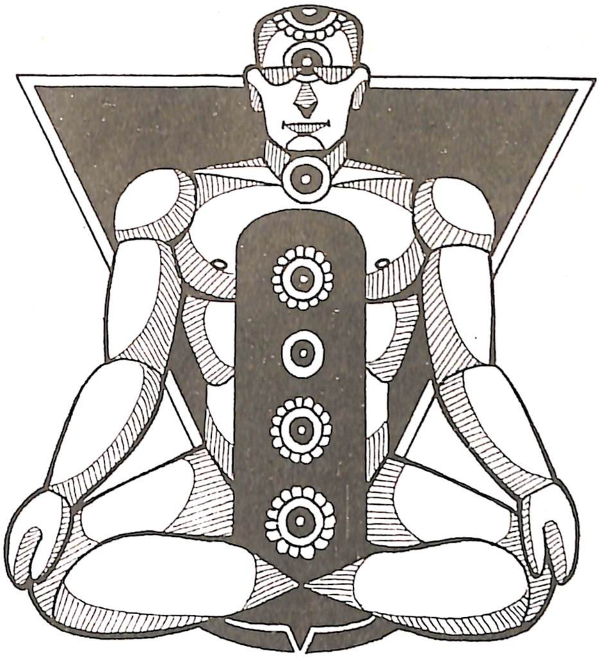
स्व से परम बनने की चमत्कारी साधना

- कुण्डलिनी जागरण में सावधानियां
- कुण्डलिनी के आवश्यक सूत्र
- ध्यान योग एवं हठ योग
- अष्टांग योग
- प्राणायाम
- उपयोगी तंत्र एवं मंत्र



विवेक श्री कौशिक

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें



प्रस्तुत पुस्तक में कुण्डलिनी महाविद्या का विस्तृत सचित्र एवं सरल विवरण हैं। पुस्तक में कुण्डलिनी परिचय, कुण्डलिनी जागरण के उपाय, अष्टांग योग, ध्यान योग, हठयोग, सभी मुद्राएं एवं तंत्र एवं मंत्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जागृत कर अब आप भी उन चमत्कारी एवं अलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं जो स्व का परम से मिलन का मार्ग प्रशस्त करती हैं।



समर्पण

योगी, मुनि, तपस्वी, विचारक, महात्मा,

धन्वन्तरि, कवि और सैलानी

परमपूज्य पिता

डॉ. केशव कौशिक

के श्रीचरणों में सादर समर्पित

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति के गुप्त रहस्यों का सरल, एवं प्रामाणिक विवरण

प्रस्तुति

विवेक श्री कौशिक 'विश्वमित्र'

पवन पॉकेट बुक्स

4537, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-110006

प्रकाशक :

पवन पॉकेट बुक्स

4537, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली– 110006

दूरभाष : 23918311, 23912515

लेखक : वी.बी.जोशी

मूल्य:

सौ रुपये मात्र (100/-)

मुद्रक :

डी.जी. प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली– 32

अनुक्रमणिका

आपस की बात

अपनी पिछली पुस्तक 'सम्पूर्ण योग शास्त्र' (गोल्ड बुक्स 'इण्डिया' से ही प्रकाशित) में मैंने पाठकों से वादा किया था कि, यदि वे इच्छा करेंगे तो योग के शेष अंगों, आध्यात्मिक और कुण्डलिनी शक्ति पर अगली किसी पुस्तक में विस्तार से चर्चा करूंगा। प्रसन्नता का विषय है कि पाठकों ने इस विषय पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की अत्यन्त जोरदार मांग प्रकाशक से की है। आपके द्वारा भेजे गए प्रशंसा और प्रतिक्रियाओं के ढेरों पत्रों में से अधिकांश में कुण्डलिनी और योग विद्या पर एक सम्पूर्ण पुस्तक की मांग भी शामिल थी—जो एक अभिभूत और गद्‌गद् हो जाने का विषय है (कम से कम मेरे लिए)। क्योंकि यह विषय रोचक होते हुए भी इतना सूक्ष्म, गहन, विशद, अथाह, महत्त्वपूर्ण, रहस्यमय, ज्ञानमय और उलझा हुआ है कि वर्षों से गुप्त और रहस्यपूर्ण रहा है। इसीलिए विभिन्न पुराणों व ग्रन्थों में इसे 'गुप्त विद्या' के नाम से भी पुकारा गया है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि भारत में भी ऐसे जिज्ञासु, ज्ञानार्थी और जागरूक बुद्धिजीवी हैं जो अध्यात्म और साधना में इतनी रुचि रखते हैं।

मैंने आमतौर पर विदेशियों को ही ऐसे गूढ़ व शुद्ध भारतीय विषयों में अधिक रुचि लेते देखा है। प्रायः भारतीय व्यक्ति तो अपनी ही संस्कृति और देश में बिखरे ज्ञान और विद्याओं की अपेक्षा धन कमाने में अथवा विदेशी संस्कृतियों में ही अधिक रुचि लेते हैं या फिर हल्के-फुल्के मनोरंजन में, किन्तु पाठकों द्वारा प्रकाशक को भेजे गए ढेरों पत्र इस बात का खुला ऐलान हैं कि भारतीय जनमानस में काफी परिवर्तन आया है, और हिन्दी के पाठकों की रुचि बहुत परिष्कृत हो चुकी है। भारतीय पाठकों में आई यह चेतना, यह जागृति, यह क्रांति अभिभूत कर देने वाली और स्वागत के योग्य है। बुद्धिजीवी पाठकों की इस तीव्र इच्छा का सम्मान करते हुए, मैं पाठकों के सम्मुख कुण्डलिनी शक्ति महाविद्या के रहस्यों को लेकर उपस्थित हूं और इस गूढ़ विषय को सहजता के साथ किन्तु सम्पूर्णता के साथ इस पुस्तक में मैंने संयोजित किया है, साथ ही प्रामाणिकता और सारगर्भिता अथवा मूल तत्त्व—पुस्तक को सरल व रोचक बनाने के प्रयास में नष्ट न हो जाएं अथवा विकृत होकर अपना वास्तविक रूप व अर्थ न खो बैठें—इस मामले में भी मैंने पूरी सावधानी बरती है और मेरी धारणा है कि मैं इसमें सफल रहा हूं।

सम्भवतः इस विषय पर पाठकों को खोजने पर कुछ अन्य पुस्तकें भी मिल जाएं, परन्तु यह मेरा दावा है कि पाठक इस पुस्तक को ज्ञान व जानकारी के विषय में अधिक सरल व रोचक पाएंगे। इससे अधिक कुछ कहना—अपनी ही पुस्तक के विषय में—खुद मियां मिट्ठू बनना होगा। और शायद इससे अधिक कहने की ज़रूरत भी नहीं है। क्योंकि समझदार को इशारा ही बहुत होता है।

इस गहन विषय पर जो कुछ भी कहने-लिखने का साहस कर पाया हूं—सब अपने आदरणीय, परमपूज्य, योगी, महाविद्वान और चिन्तक पिता **श्री डॉ. केशव कौशिक** के प्रसाद के प्रभाव से—जो प्रत्येक क्षेत्र में सदा ही मेरे पथप्रदर्शक और प्रेरणा स्तम्भ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक जैसे गहन, क्लिष्ट और रहस्यपूर्ण विषय तो बिना उनकी कृपा और स्नेह के मैं कभी इतना न समझ पाता कि इस पर कुछ लिख भी सकूं।

आभारी हूं अपने प्रकाशक मित्र **श्री बादल शर्मा** का भी जिन्होंने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय पाठकों तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया और मुझे इस योग्य समझा कि इस विषय पर अधिकार पूर्वक कह सकूं।

समस्त विश्व के कल्याण की शुभेच्छा के साथ—

'विश्वमित्र'

प्राक्कथन

ईश्वर द्वारा मनुष्य को दिए गए उपहारों या ताकतों में बुद्धि का विशेष महत्त्व है। जिज्ञासा बुद्धि का प्रधान लक्षण है, बुद्धि है और सही तरह काम कर रही है तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त किए बिना रुक नहीं सकता। जानकारियां जुटाना बुद्धि का प्रथम मूल कार्य है। प्राप्त जानकारी का विश्लेषण करना भी बुद्धि ही का कार्य है और कसौटियों पर कस कर प्रमाण जुटाना अथवा तथ्य को सिद्ध कर लेना भी बुद्धि के ही कार्य क्षेत्र में आता है। यह बात अलहदा है कि बुद्धि ही मनुष्य को माया में उलझा भी देती है, लेकिन यह भी सत्य है कि बुद्धि ही ब्रह्म की ओर जाने का प्रथम सोपान भी है।

बहरहाल—जीवन है, तो बुद्धि है। बुद्धि है तो जिज्ञासा है। जिज्ञासा है तो ज्ञान है। ज्ञान ही जीवन का मधुरतम फल है। ज्ञान से पूर्णता और शांति उत्पन्न होती है— जो वैराग्य उत्पन्न करते हैं। वैराग्य माया को नष्ट करता है। माया के प्रभाव से मुक्ति ब्रह्म तक पहुंचने का ठोस आधार है। अतः अपना हित चाहने वाले को सदैव ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

जिस प्रकार विश्व को जीतने की इच्छा रखने वाले को सर्वप्रथम स्वयं को जीतना चाहिए (क्योंकि खुद को जीत लेने के बाद कुछ भी जीतने को शेष नहीं रह जाता), उसी प्रकार ज्ञान चाहने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम अपने बारे में जानना चाहिए—अपने शरीर के विषय में नहीं, अपने 'स्व', अपनी आत्मा के विषय में। दूसरे शब्दों में उसे अध्यात्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान पा लेने के बाद किसी और ज्ञान को पाना शेष नहीं रह जाता)। इसीलिए अध्यात्म विद्या को महाविद्या या गुह्यविद्या (गुप्त विद्या) कहा गया है। इसे गुप्त रखा भी गया है—क्योंकि एक तो यह इतनी गहन, गूढ़, क्लिष्ट, महत्त्वपूर्ण, उलझाव पूर्ण और रहस्यमयी है कि जन सामान्य की रुचि इसमें सहज ही उत्पन्न नहीं होती। दूसरे इस विद्या का साधक ऐसी चमत्कारिक और विलक्षण, दिव्य शक्तियां सहज ही प्राप्त कर लेता है, जो किसी अपात्र को मिल जाएं तो शक्तियों का दुरुपयोग होने से अनर्थ हो जाए। इन्हीं कारणों से इस विद्या को गुप्त रखा गया। सुयोग्य गुरु से सुपात्र शिष्य का मेल होने पर ही इस विद्या को आगे सौंपा गया।

हम इस विद्या को जन सामान्य में प्रचारित व प्रसारित कर हैं। इस सम्भावना के बावजूद कि अपात्र पर भी विद्या जा सकती है और उसका दुरुपयोग भी हो

सकता है। ऐसा करने का भी एक ठोस तर्क है। वह यह कि लाखों लोगों में से कुछ हज़ार परमात्मा या अध्यात्म के विषय में सोचते अथवा चर्चा करते हैं। उन हज़ारों में से कुछ सौ इस विषय पर पुस्तक पढ़कर अथवा अपने से अधिक योग्य जनों से उपदेश लेकर इसे समझने का प्रयास करने और इस दिशा में साधना करने को प्रेरित होते हैं। उन सौ में से भी दस व्यक्ति इस प्रेरणा और प्राप्त ज्ञान के आधार पर दृढ़ संकल्प होकर साधना आरम्भ करते हैं अथवा इस दिशा पर अग्रसर होते हैं। उन दस में कोई एक ही ऐसा होता है जो मन को जीत कर, पक्की लगन के साथ, धैर्यपूर्वक, मार्ग की विषमताओं, कठिनाइयों व बाधाओं को लांघकर नियमपूर्वक चलता हुआ या साधना करता हुआ लक्ष्य तक पहुंचता है। उसी को 'लाखों में एक' कहते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अयोग्य, अपात्र या अधकचरा व्यक्ति तो इस क्षेत्र में रुचि ही नहीं लेता, रुचि लेता है तो मात्र चर्चा के लिए, जिज्ञासा शांति के लिए। वह साधना के लिए प्रेरित नहीं होता, प्रेरित हो जाए तो संकल्प नहीं करता। संकल्प भी कर ले तो धैर्यपूर्वक नियमित साधना नहीं कर पाता, बीच में ही छोड़ देता है। और अगर ऐसा न होकर वह लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तो वह अवश्य ही एक सुयोग्य व सुपात्र होता है। क्योंकि इतनी कसौटियों पर खरा उतरकर समस्त विघ्न-बाधाओं व कठिनाइयों को जीतता हुआ जो अन्ततः विजय प्राप्त कर लेता है, वह लाखों में एक—भला अपात्र या अयोग्य कैसे हो सकता है?

फिर जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा भी है—**"He who has chooses the divine, has been choosen by the divine before."—Sri Arvindo** (वह जिसने परमात्मा को चुना है, परमात्मा द्वारा पहले ही चुना जा चुका है।)

और जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है कि—'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।' अथवा—

बिनु सत्संग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

अर्थात्—बिना सत्संग के (बिना संतों, विद्वानों अथवा ज्ञानियों के साथ चर्चा किए) विवेक नहीं होता। (विवेक के बिना कल्याण सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान ही प्रकाश का कारक है) और सत्संग राम की कृपा के बिना नहीं होता। बिना परमत्मा की कृपा के साधक को सन्त या गुरु या मार्गदर्शक नहीं मिलता। अतः परमात्मा जिसका कल्याण करना चाहता है उसे ही सत्संग का लाभ देता है, ताकि वह ज्ञान प्राप्त करके जागृत हो और सत्य का साक्षात्कार कर सके। (यहां ध्यान दीजिए कि एक अच्छी पुस्तक भी इकतरफा सत्संग ही है। क्योंकि पुस्तक लेखक की वाणी है। पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक, प्रेरक व मार्गदर्शक है। इसीलिए पुस्तकों को मानव का सर्वोत्तम मित्र कहा गया है। किन्तु पुस्तक के चयन में सावधानी आवश्यक है।)

सृष्टि शरीर के बाहर भी है। सृष्टि शरीर के भीतर भी है। बाहर की ओर अनन्त है। कोई छोर नहीं है। भीतर की ओर केन्द्र है। साधक की यात्रा शीघ्र ही लक्ष्य को

प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में बाहर शून्य है और भीतर बिन्दु है। महाशून्य और बिन्दु दोनों ही विराट हैं। दोनों ही अपरिमेय हैं अतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। परमाणु में भी उतनी ही शक्ति और ऊर्जा छिपी है, जितनी विराट या अनन्त में। (सभी जानते हैं कि परमाणु को तोड़ने से उत्पन्न विस्फोट कितना शक्तिशाली और विध्वंसक होता है। परमाणु बम इसी सिद्धांत पर क्रियान्वित होता है)। बिन्दु और महाशून्य दोनों की परिभाषा एक है। दोनों का अस्तित्व है किन्तु उसे नापा नहीं जा सकता। वे अपरिमेय हैं, असीम हैं।

अतः बिन्दु को पा लेना विराट को पा लेना है। या विराट को जान लेना, बिन्दु को जान लेना है। बाहर की ओर (शरीर से बाहर की ओर) की यात्रा विज्ञान है। यह बहिर्मुखी प्रगति करता है। अन्दर की ओर (शरीर से भीतर की ओर) की यात्रा योग है। यह अन्तर्मुखी है। विज्ञान भौतिक प्रणाली है, जो उपकरणों, यन्त्रों व साधनों पर निर्भर है। योग जबकि आध्यात्मिक प्रणाली है जिसमें बाह्य या भौतिक उपकरणों या साधनों की आवश्यकता नहीं है। वैज्ञानिक को प्रयोगशाला की जरूरत होती है। योगी के लिए उसका शरीर ही प्रयोगशाला की भूमिका निभाता है। दोनों ही सत्य की खोज करते हैं, दोनों ही चमत्कारिक उपलब्धियां प्राप्त करते हैं। किन्तु बहिर्मुखी प्रगति में अधिक समय, श्रम व साधनों की आवश्यकता पड़ती है। अधिक बाधाएं व अनिश्चितताएं रहती हैं और दिशाभ्रम की पूरी सम्भावना रहती है। जबकि अन्तर्मुखी प्रगति कम समय, श्रम व साधनों के साथ हो जाती है। अवरोध भी कम होते हैं और निश्चितता भी रहती है। दिशाभ्रम की सम्भावनाएं होती ही नहीं।

वृत्त की त्रिज्या या व्यास पर चलता हुआ आदमी निश्चित रूप से केन्द्र पर जा पहुंचता है। किन्तु यदि त्रिज्या पर नहीं चल रहा अपितु परिधि पर घूम रहा है, या परिधि की ओर चल रहा है, तो वह तमाम जीवन भी चलता रहकर केन्द्र को प्राप्त नहीं कर सकता।

विज्ञान की प्रगति इसीलिए कई युगों में, निरंतर पीढ़ी-दर-पीढ़ी शोध के बाद होती है। इसके बावजूद अक्सर निश्चित सिद्धांत पर पहुंचा नहीं जाता। न्यूटन के सिद्धांत को आईंस्टीन फेल कर देता है। विज्ञान के शोध द्वारा बनाए गए सिद्धांत अक्सर वास्को डिगामा की भारत की खोज सिद्ध होते हैं। यह अनिश्चितता और भ्रम युगों तक की गई मेहनत से प्राप्त उपलब्धियों में शामिल रहते हैं। ऐसा भी होता है कि किसी और पदार्थ या सत्ता की खोज में कोई और पदार्थ या सत्ता अकस्मात् सामने आ जाती है। यूं अंधे के हाथ बटेर लग जाने की कहावत चरितार्थ होती है। बहरहाल, इस प्रगति में प्राप्त लक्ष्य या उपलब्धियां प्रायः आकस्मिक (एक्सीडेंटल) होती हैं अथवा अनिश्चित, अपूर्ण या भ्रमात्मक और वह भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी संघर्ष के बाद। जबकि योगी अपने जीवन में ही (कुछ वर्षों में ही) लक्ष्य प्राप्त करता है।

वह सिद्धांत अवश्य ही भ्रमात्मक व अपूर्ण है जो बदला जा सके। अथवा जिसे बदलने की ज़रूरत महसूस हो। दरअसल वह सिद्धांत कहा जाने का हकदार

ही नहीं होता, अलबत्ता उसे नियम कहा जा सकता है। सिद्धांत तो हर काल में, हर परिस्थिति में, हर दशा में एक-सा रहता है, वह अपरिवर्तनीय है। **सिद्धांत का अर्थ ही यह है—सिद्ध+अंत, यानी अन्त सिद्ध हो जिसका अथवा अन्त तक सिद्ध हो जो।** अत: उसके बदलने का सवाल ही नहीं उठता। नियम अलबत्ता, देश, काल, पात्र और स्थिति के अनुसार बदल जाते हैं। जैसे, 'गरम कपड़े पहनने चाहिएं। इनसे सुख मिलता है।'—यह एक नियम है। अथवा 'धूप सुहावनी होती है।' यह एक नियम है, क्योंकि सर्दियों के लिए यह फिट है, मगर गर्मियों के लिए नहीं। जबकि 'सूर्य से प्रकाश व ऊर्जा मिलती है।' यह सिद्धांत है। क्योंकि सर्दी-गर्मी, देश-विदेश हर जगह फिट है। इस बात को पाठकों को ध्यान से समझना चाहिए।

विज्ञान में नियम को सिद्धांत समझ लेने की बड़ी भूलें होती हैं। इसलिए अनिश्चितताएं और भ्रम और भी बढ़ जाते हैं—इतने कि वैज्ञानिक ही नहीं, पूरा समाज दिशा भ्रमित हो जाता है और कई बार शताब्दियों तक भ्रमित ही रहता है। उदाहरणार्थ—'सफेदे का पेड़ लगाओ।' नीति प्रारम्भ में कितने ज़ोरों पर थी, सभी जानते हैं। यूक्लिप्टस या सफेदा जल्द बढ़ता है, मंहगा बिकता है, इसे उगाने में अधिक झमेले या रख-रखाव की ज़रूरत नहीं पड़ती, सुरक्षा की भी ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि पशु-पक्षी इसे खाते नहीं, आदमी इसे (आम, अमरूद, गन्ना आदि की तरह) चुराता नहीं। अत: तब सबने खूब सफेदा उगाया। किसानों ने अपने आमों के बाग या गन्नों के खेत सफेदे के जंगलों में तब्दील कर लिए। पचास-साठ वर्षों तक यह सब चला। फिर पता चला कि सफेदा पानी सोख लेता है। भूमि की उर्वरा शक्ति कम कर देता है। ज़मीन बंजर हो जाती है। आस-पास की जमीन में भूमिगत जल का स्तर भी नीचे गिर जाता है। तब सफेदा प्रतिबन्धित कर दिया गया।

इस प्रकार के बहुत से मामले हैं। यहां तक कि बहुत-सी दवाएं जो शुरू में लाभकारी समझकर प्रचारित व प्रसारित की गई थीं, बाद में साइड इफैक्ट्स पता चलने पर प्रतिबन्धित कर दी गईं। इसी प्रकार शुरू में प्लास्टिक का प्रचलन और प्लास्टिक को बेजोड़ मानकर प्रोपैंगडा बढ़ाया गया और आजकल प्लास्टिक, पॉलीथीन को प्रतिबन्धित करने की दिशा में प्रचार हो रहा है। ऐसे अनगिनत मामले हैं जिन्हें यहां गिनाना व्यर्थ ही कलेवर बढ़ाना होगा।

मगर यह सब हुआ क्यों? नियम को सिद्धांत समझ लेने के भ्रम के कारण। अधूरे ज्ञान के कारण अदूरदर्शिता और जल्दबाजी के कारण। यह सब विज्ञान की दुर्बलताओं की स्पष्ट घोषणा है।

इन बातों को गिनाने की ज़रूरत यूं पड़ी कि अध्यात्म के महत्त्व को पाठक भली प्रकार समझ सकें और यह भी जान सकें कि अध्यात्म का विरोधी दिखाई पड़ने वाला विज्ञान वास्तव में प्रणाली के विरोधी होने से विरोधी लगता है। अन्यथा लक्ष्य दोनों ही का समान है—सत्य की खोज।

अध्यात्म का महत्त्व समझाना यूं जरूरी है, कि परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है। योग आध्यात्मिक प्रणाली है और कुण्डलिनी जागरण योग का अति विशिष्ट पहलू है, बल्कि योग के लक्ष्यों में से एक है। अतः यदि कुण्डलिनी शक्ति की बात करनी है, तो पहले इन सब बातों को समझना होगा। जड़ को जान लेने के बाद ही तने व शाखाओं से होते हुए फूल, फल, पत्तियों पर आया जाएगा। अतः पाठक पुस्तक के इस भाग को महत्त्वहीन या असम्बद्ध समझने की गलती न करें। पुस्तक को ठीक-ठीक समझने के लिए सदैव पुस्तक की भूमिका को, प्राक्कथन को पहले ढंग से पढ़ना, समझना ज़रूरी होता है।

शरीर विज्ञान शरीर की संरचना पर प्रकाश डालता है। त्वचा, मांसपेशियां, अस्थियां, नाड़ियां, धमनियां, शिराएं, तंत्रिकाएं, ऊतक, कोशिकाएं, विभिन्न अवयव, अंग और विभिन्न संस्थान, उनकी कार्यप्रणाली आदि यह सब शरीर रचना विज्ञान के अर्न्तगत आते हैं। किन्तु यह सभी स्थूल हैं, भौतिक हैं। इनसे हम शरीर के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु अधूरा। क्योंकि बहुत से रहस्य यहां अनसुलझे रह जाते हैं और बहुत कुछ ऐसा बाकी रह जाता है-जिस पर यह विज्ञान प्रकाश ही नहीं डाल पाता, क्योंकि वह सब सूक्ष्म है। कुछ सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसके विषय में शरीर रचना विज्ञान न केवल मौन है, बल्कि इसके अस्तित्त्व के विषय में भी संदिग्ध है। क्योंकि विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, और प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएं हैं। सभी कुछ प्रत्यक्ष कर पाना सम्भव नहीं होता।

शरीर में हृदय और मस्तिष्क के अलावा मन भी होता है। किन्तु विज्ञान मन नाम की किसी सत्ता को देह में मानता ही नहीं। उसे मस्तिष्क का ही एक हिस्सा मान लिया जाता है जिसका सम्बन्ध विचारों से न होकर भावों से होता है। जबकि ऐसा नहीं है। सभी जानते हैं कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, विचार नहीं होते, किन्तु भावनाएं होती हैं और वे भावों को समझते और व्यक्त करते हैं। वे प्रेमपूर्वक किए गए स्पर्श में स्नेह का भाव महसूस करते हैं। संगीत में शब्दों का अर्थ न समझते हुए भी वे भाव समझने के कारण वशीभूत हो जाते हैं। पशु तो पशु, पेड़-पौधे तक भावों को समझते हैं। वे स्पर्श और संगीत के प्रभाव को महसूस करते हैं और अपनी प्रतिक्रिया को भी व्यक्त करते हैं। फिर भला मन के अस्तित्त्व से इन्कार कैसे किया जा सकता है।

मन के अलावा आत्मा, प्राण, चेतना आदि बहुत-सी अन्य सत्ताएं भी हैं जो विज्ञान के अनुसार विवादित रही हैं। इसके अलावा इन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां यद्यपि विज्ञान स्वीकार करता है किन्तु भ्रमपूर्वक क्योंकि वह इन इन्द्रियों के उपकरणों को ही इन्द्रियां मानता है। उदाहरणार्थ—आंख को एक ज्ञानेन्द्रिय विज्ञान मानता है। परन्तु वास्तव में आंख तो दृश्येन्द्रिय का 'एप्रैटस' हैं, उपकरण है। आंख का कार्य देखना है। यदि आंख बन्द हो अथवा खराब हो तो व्यक्ति देख नहीं सकता। मगर हम आंख बन्द करके भी देख लेते हैं। कल्पना या स्वप्न में, बिना

कुछ देखे भी सब कुछ चलचित्र की भांति देखते हैं। आंख बन्द होने पर भी प्रकाश और अंधकार का अनुभव कर लेते हैं। यह कैसे सम्भव है? अगर आंख ही दृश्य-इन्द्रिय है तो? वास्तव में दृश्येन्द्रिय तो अतिसूक्ष्म सत्ता है। स्थूल रूप से दिखाई देने वाली आंख तो दृश्येन्द्रिय का माध्यम या उपकरण है। उपकरण खराब हो जाए, तो बदला जा सकता है। आंख खराब हो जाती है, तो बदलकर नई आंख लगाई जाती है, किन्तु उस आंख के माध्यम से देखता कोई और है, और यही दृश्येन्द्रिय है। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों का विचार करना चाहिए।

इसके अलावा समस्त सृष्टि पंचमहाभूतों से बनी है। शरीर भी पंच महाभूतों से निर्मित है। विज्ञान पंचमहाभूतों का अस्तित्त्व नहीं मानता। महाभूतों की अपनी तन्मात्राएं हैं और उनकी अपनी इन्द्रियां। उदाहरणार्थ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमशः पांच महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप या दृश्य, रस और गंध इनकी क्रमशः तन्मात्राएं या गुण हैं। और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका इनकी क्रमशः इन्द्रियां (यानि इन्द्रियों के उपकरण हैं। स्थूल रूप से समझने और व्यवहार में सरलता के लिए उपकरणों को ही इन्द्रिय के नाम से सम्बोधित कर लिया जाता है।)

महाभूत का अर्थ तत्त्व (एलीमेन्ट) से है। तत्त्व बिना किसी मिश्रण का शुद्ध, स्वतन्त्र पदार्थ या सत्ता होती है। तत्त्वों से यौगिकों (कम्पाउन्ड्स) का निर्माण होता है। यही सृष्टि का 'रॉ मैटीरियल' होते हैं। विज्ञान 31 तत्त्वों को मानता था फिर शनैः शनैः शोध के साथ आज तत्त्वों की संख्या 100 से ऊपर मानी जाती है। जो कन्फ्यूज़िंग हैं। सीधी सी बात यह है कि पांच ही ज्ञानेन्द्रियां (सैन्स) हैं। अतः किसी भी सत्ता, गुण या पदार्थ की पहचान, लक्षण या प्रकार मूलतः पांच ही हो सकते हैं। इससे अधिक या तो मिश्रण होंगे अथवा उपभेद। मूल भेद पांच ही होंगे जो भारतीय अध्यात्म दर्शन बताता है। (यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के लिए—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नाम रखा गया है। आकाश का मतलब SKY या जल का मतलब WATER नहीं है। सभी जानते हैं कि—WATER ऐलीमेन्ट नहीं कम्पाउण्ड है। यह हाईड्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण-'H_2O' है। अतः इनका मतलब प्रचलित अर्थों या पर्याय से नहीं लिया जाना चाहिए। इनका मतलब इनके गुणों या तन्मात्राओं के आधार पर लिया जाना चाहिए। अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। जैसे अग्नि महाभूत का गुण दृश्य है। यानि जहां-जहां रूप है वहां-वहां अग्नि महाभूत है। अग्नि का मतलब FIRE नहीं है। इसी प्रकार गन्ध जहां है, वहां पृथ्वी महाभूत है, किन्तु पृथ्वी का अर्थ EARTH नहीं है। ठीक इसी प्रकार शब्द का होना यह सिद्ध करता है कि वहां आकाश महाभूत उपस्थित है, किन्तु आकाश का अर्थ SKY नहीं है।)

इस बात को थोड़ा और समझें। **व्यवहार के लिए, पहचान के लिए किसी वस्तु या सत्ता का नाम होना आवश्यक है। नाम का महत्त्व इतना ही है।** नाम

कोई शब्द ही होगा। शब्द सार्थक भी होते हैं। बहुत से शब्द बहुअर्थी भी होते हैं। शब्द पर्यायवाची भी होते हैं—यहां से 'कन्फ्यूज़न' शुरू हो जाता है। 'सोना' का अर्थ GOLD भी है, किन्तु 'सोना' का अर्थ SLEEPING भी है। 'गो' माने ग़ाय भी है, 'गो' माने जीभ भी है और 'गो' माने इन्द्रिय भी है, जबकि ENGLISH भाषा में 'गो' का अर्थ 'जाना' हो जाता है। अब कहां किस अर्थ का प्रयोग करना है यह बुद्धि का विषय है। ठीक इसी प्रकार जहां-जहां सृष्टि में 'रस' या 'स्वाद' है, वहां-वहां जल महाभूत उपस्थित है। (महाभूत को देखा नहीं जा सकता, उसे उसकी तन्मात्रा/गुण/लक्षण के आधार पर ही जाना जा सकता है।) इसकी अनुभूति सिद्ध करती है, जल महाभूत की उपस्थिति। रस तन्मात्रा वाले महाभूत का नाम व्यवहार में सुविधा की दृष्टि से 'जल' रख दिया गया किन्तु जल का अभिप्राय WATER से लेते हैं तो अनर्थ हो जाता है। 'जल' (महाभूत) एक 'एलीमेन्ट' है। जबकि WATER एक कम्पाउण्ड है। अतः इस नाजुक मामले को बहुत ध्यान से समझने की आवश्यकता है। अन्यथा सारा दर्शन (फिलॉसोफी) ही उलटी हो जाएगी।

तो शरीर रचना विज्ञान शरीर में पंच महाभूतों की उपस्थिति नहीं स्वीकारता। इसी प्रकार अपना एक स्वभाव, गुण या प्रकृति प्रत्येक शरीर की होती है। भारतीय अध्यात्म दर्शन इसे सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण—मूलतः तीन भागों में बांटता है। किन्तु विज्ञान के पास इन गुणों को मापने का कोई पैमाना नहीं है। वह इनकी सत्ता अस्वीकारता है। इसी प्रकार अहंकार, संस्कार, विकार आदि बहुत से सूक्ष्म तत्त्व विज्ञान अस्वीकारता है और उनके विकसित या विकृत होकर बाद में प्रकट होने वाले स्थूल स्वरूप या लक्षणों को ही मान्यता देता है।

आत्मा के अस्तित्त्व को विवादित रूप से अधूरा ही स्वीकारने वाला विज्ञान—आत्मा, जीवात्मा और परमात्मा के भेद को तो खैर क्या समझेगा? इसी प्रकार बहुत सी सत्ताओं को आधुनिक विज्ञान न जानता है, न ही मानता है। 'प्राण' का अस्तित्त्व विज्ञान नहीं मानता, जबकि अध्यात्म दर्शन दस प्राणों का अस्तित्त्व शरीर में स्वीकारता है, समझाता है जिनमें पांच प्रमुख होते हैं। इन्हीं विवादित सत्ताओं में एक कुण्डलिनी भी है। शरीर रचना विज्ञान में यह रहस्य हल नहीं हो सकते। कुण्डलिनी शक्ति, प्राण शक्ति, जीव, चक्र आदि सब शरीर रचना विज्ञान में ढूंढे नहीं मिलेंगे। इन्हें समझने के लिए अध्यात्म दर्शन को समझना होगा।

इस पुस्तक के सीमित पृष्ठों में भूमिका के और भी सीमित भाग में विज्ञान और अध्यात्म के इस अन्तर को समझाना और मनवाना असम्भव सा है, किन्तु विज्ञान की सीमाएं बताए बिना और अध्यात्म का परिचय दिए बिना ही कुण्डलिनी की चर्चा भैंस के आगे बीन बजाने जैसा निरर्थक होगा। क्योंकि आवश्यक है कि जिस स्तर की बात की जा रही है पाठक का मस्तिष्क भी उसी धरातल पर उसे 'रिसीव' करे। वह मनोवैज्ञानिक और मानसिक रूप से अर्थ ग्रहण के लिए तैयार हो, एक सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ। ऐसा नहीं होगा तो उसके अपने संस्कार, अपनी

विचारधारा, अपनी हठधर्मिता, अपनी आस्था और अपना नज़रिया अर्थ ग्रहण में बाधक व अवरोधक होगा, साहचार्य नहीं करेगा। तर्क-वितर्क, शंकाएं तथा अविश्वास (पूर्वाग्रही होने के कारण) सकारात्मकता को दबा लेगा और पाठक पूर्ण लाभ नहीं उठा पाएंगे। हमारा विज्ञान से विरोध नहीं है। किन्तु विज्ञानवादी होने के दंभ में यदि हम सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण करने से हिचकेंगे या उसके प्रति अनास्था रखेंगे तो गंगाजल को ब़हता पानी या हीरों को ठीकरे समझ लेने की गलतफहमी में स्वयं ही एक बड़े लाभ से वंचित रह जाएंगे।

यह ठीक है कि प्रत्यक्ष सर्वोत्तम प्रमाण है। यह भी ठीक है कि तथ्यों को तर्क या युक्ति की कसौटी पर परखा जाना चाहिए। किन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएं हैं। ज़रा से जीवन में सभी कुछ प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। और ज्ञानार्जन के लिए, विचार-विमर्श के लिए तर्क ठीक है, किन्तु विवाद के लिए अथवा हठधर्मिता या पूर्वाग्रह के कारण कुतर्क ठीक नहीं। क्योंकि कोरा तर्क दुधारी तलवार होती है, किसी विद्वान ने कहा है—

सृष्टि के अरबों खरबों वर्षों के जीवन के आगे मानव के एक जन्म की आयु गिनती ही क्या रखती है। उस एक जन्म में सृष्टि के अनन्त विस्तार, ब्रह्मांड के असंख्य रहस्य, विषयों की बेशुमार शाखाएं, ज्ञान के अकूत भंडार में से क्या-क्या प्रत्यक्ष किया जा सकता है? आदमी अपनी ही आंख में पड़ा हुआ बाल नहीं देख सकता। अपने ही आधे शरीर को (सिर, कमर, नितम्ब, गर्दन आदि) खुद नहीं देख सकता। अपने शरीर के भीतर नहीं देख सकता। आखिर वह सब कुछ प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है?

देखने की सीमा है। दो किलोमीटर, दस किलोमीटर। आई साइड वीक हो तो उसमें भी टोटा। दूरबीन लगा कर सौ, दो सौ, पांच सौ। खगोल बीन से हज़ार, दस हज़ार किलोमीटर। मगर ब्रह्मांड तो अनन्त है। कोई कितना देखेगा? और कब तक? छोटी वस्तुओं को देखने के लिए लैंस चाहिए और छोटियों के लिए सूक्ष्मदर्शी, मगर सृष्टि में तो और भी छोटे जीव व सत्ताएं हैं। सृष्टि सूक्ष्मदर्शी या खगोलबीन पर ही खत्म नहीं हो जाती।

इसके अलावा दृश्येन्द्रिय स्वस्थ हो, मौसम साफ हो, रोशनी की व्यवस्था समुचित हो, देखने वाला स्थिर हो, जिसे देखा जा रहा है वह भी स्थिर हो, साफ हो, बीच में कोई अड़चन, पर्दा या दीवार न हो—तब कहीं जाकर आदमी कुछ प्रत्यक्ष देख पाता है। इतनी सीमाएं और शर्तें हैं प्रत्यक्ष करने की। सब प्रत्यक्ष करना असम्भव है।

आखिर हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए अनुभव का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों व पुस्तकों का, उपदेशों का सहारा लेना पड़ता है। हम सब कुछ खुद प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। यह विज्ञान की सीमा है। इतने

सहारे लेने के बाद भी बहुत से मामले अनछुए ही रह जाते हैं। जिनका कोई अन्त नहीं। अनन्त हैं, अथाह हैं।

किन्तु योग द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष कर लिया जाना सम्भव है। ऋषियों ने किया है, करके लिखा है। क्योंकि योगी कालद्रष्टा हो जाता है। वह समय के पार देखता है। भूत-भविष्य सब वर्तमान के समान स्पष्ट हो जाता है। दूरी बाधक नहीं होती। समस्त असम्भव कार्य सम्भव कर सकता है। क्योंकि वह कुण्डलिनी को जागृत कर लेता है। अपने चक्रों को सक्रिय कर लेता है। अपनी शक्तियों को ब्रह्म या परमशक्तिमान के साथ चैनेलाइज़्ड कर लेता है। महाभूतों के, भूतों के, आत्मा, जीवात्मा के—यहां तक कि परमात्मा से साक्षात्कार कर लेता है। और यह सब कपोल कल्पना नहीं, ठोस विज्ञान है। इसे हम आगे चर्चा में लेंगे। पूरी पुस्तक में यही चर्चा का विषय है। पाठक अपने सभी सम्भावित प्रश्नों का हल इस पुस्तक में पाएंगे।

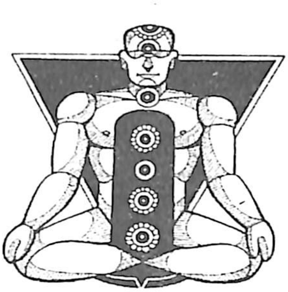
यह भूमिका आवश्यक थी। पाठकों की मन:स्थिति तैयार करने के लिए, उनका पूर्वाग्रह नष्ट करने के लिए, अध्यात्म दर्शन के प्रति जिज्ञासा को उत्कंठित करने के लिए और मानसिक रूप से उन्हें इस धरातल पर ले आने के लिए कि विषय की जटिलताओं और रहस्यों को वे भली प्रकार समझ सकें, बात सिर के ऊपर से न चली जाए। गणित की कोई समस्या ऐसे व्यक्ति को समझाने के लिए, जिसे गणित न आता हो, पहले उसे गिनती; पहाड़े बताने ही पड़ते हैं।

पाठक मेरे द्वारा दिए गए उपर्युक्त उदाहरण को अन्यथा न लें। बहुत से पाठक आध्यात्मिक धरातल पर काफी सुहृद भी होंगे। शायद कुछ मर्म को मुझसे अधिक भी जानते हों। अथवा बहुतों के लिए मेरे द्वारा बनाए इस 'प्लेटफार्म' की आवश्यकता नहीं भी होगी। लेकिन बहुत से ऐसे भी होंगे जिनके लिए इसकी सख़्त जरूरत होगी। अपने उन्हीं पाठकों का हित ध्यान में रखते हुए मैंने यह प्रयास किया है। आशा है प्रबुद्ध पाठक इसे गर्वोक्ति न समझेंगे।

जब तक 'संगति' न हो, रस उत्पन्न नहीं होता। रस के उत्पन्न हुए बिना विभोरता नहीं होती। और विभोर हुए बिना न तो आनन्द ही आता है, न तन्मयता (कन्सन्ट्रेशन) ही बनती है। प्रस्तुत विषय ऐसा है कि बिना एकाग्रता और तन्मयता के और बिना सकारात्मक ढंग से जिज्ञासु हुए मर्म को समझा नहीं जा सकता। अत: सभी पाठक पुस्तक के माध्यम से मेरे साथ 'संगति' कर सकें, यही इस भूमिका का उद्देश्य है। **'संगति का अर्थ ही है—साथ-साथ गति करना।'** कोई आगे पीछे रह जाए तो अवरोध पैदा होता है और रस भंग होता है। ताल, लय सब लिपट कर चलने चाहिए और 'सम' से बंधे होने चाहिएं। तभी सफलता सम्भव है। पाठक अवश्य मेरे मत से सहमत होंगे।



कुण्डलिनी शक्ति स्वरूपा मां ललिता देवी/त्रिपुर सुंदरी



1 कुण्डलिनी : एक परिचय

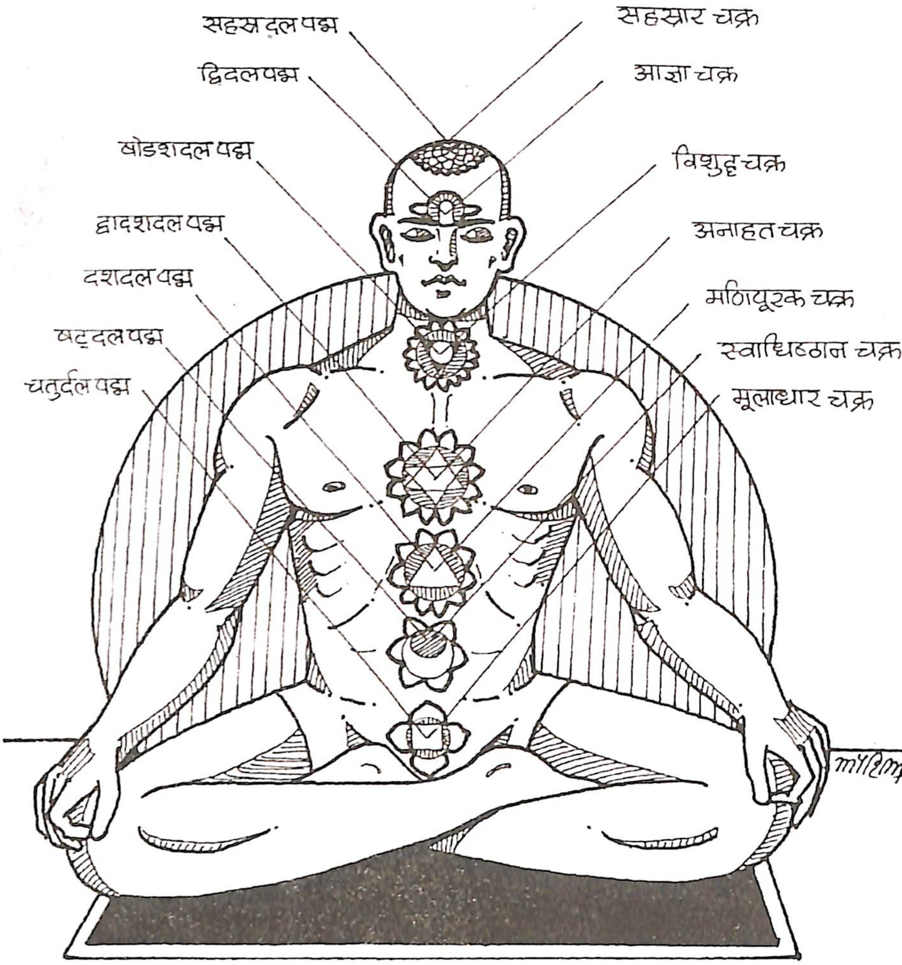
मनुष्य के भीतर कितनी ही प्रकार की शक्तियां छिपी पड़ी हैं। बहुत-सी ढूंढ ली गई हैं। बहुत-सी खोजी जा रही हैं और बहुत-सी ऐसी भी हैं जिनके विषय में हम जानते ही नहीं हैं। शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति, विचार शक्ति, इच्छा शक्ति, प्राणशक्ति, आत्मिक शक्ति, विश्लेषण शक्ति, स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, प्रतिभाशक्ति, पांचों ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, पाचन शक्ति, निर्णय शक्ति, प्रभाव शक्ति, वशीकरण शक्ति, जीवनी शक्ति, जीवेषणा शक्ति, प्रजनन शक्ति, रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति, संघर्ष शक्ति, केन्द्रियकरण शक्ति, नियंत्रण शक्ति, धारणा शक्ति, कंठस्थ करने की शक्ति, भाषण शक्ति, पूर्वाभास शक्ति, मनोभाव जानने की शक्ति, प्रेमशक्ति, ऊर्जा प्रवाहन शक्ति, वैचारिक सम्पर्क शक्ति आदि असंख्य शक्तियां हैं जिनमें बहुत सी सिद्ध हैं, बहुत-सी विवादित हैं (अभी शोध के अन्तर्गत हैं)। बहुत-सी अभी समझी जानी बाकी हैं।

डिस्कवरी चैनल पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रम—'THE MIND' के अन्तर्गत एक बार बताया गया था कि **दुनिया के श्रेष्ठतम बुद्धिजीवी, विचारक, दर्शनिक आदि भी अपने दिमाग के एक लाखवें हिस्से से भी कम की शक्ति का प्रयोग अपने जीवन में कर पाते हैं।** और यह आश्चर्य जनक सत्य है। इस वैज्ञानिक निष्कर्ष से मस्तिष्क की विराट शक्तियों का एक अंदाजा सहज ही होता है। किन्तु मानव शरीर में एकमात्र मस्तिष्क ही नहीं है जो विलक्षण और अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। मन भी है, प्राण भी है, ऊर्जा भी है, चक्र भी हैं, जो मस्तिष्क के मुकाबले अधिक सूक्ष्म, अधिक शक्तिशाली, अधिक अद्भुत और अधिक रहस्यपूर्ण हैं। फिर भला पूरी शक्तियों को गिनाया जा सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

इन समस्त सूक्ष्म और स्थूल शक्तियों को प्रसारित और चैनेलाइज़्ड करने की प्रणाली ही योग है। जैसा कि नाम ही से स्पष्ट हो जाता है। योग का अर्थ है जोड़ना या बढ़ाना।

इन समस्त शक्तियों में प्रमुख और अत्यंत विलक्षण है कुण्डलिनी। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उपर्युक्त वर्णित और इनके अलावा भी समस्त शक्तियों को सहज ही बढ़ाया जा सकता है। इनमें से कोई भी शक्ति कुण्डलिनी शक्ति के समकक्ष नहीं। कुण्डलिनी अकेली ही इन सबसे कहीं आगे, कहीं ऊंची, कहीं व्यापक और कहीं अधिक प्रभावशाली है, अद्वितीय है।

नाभि शरीर का केन्द्र है। यहीं से सभी नस-नाड़ियां पूरे शरीर में फैलती हैं।

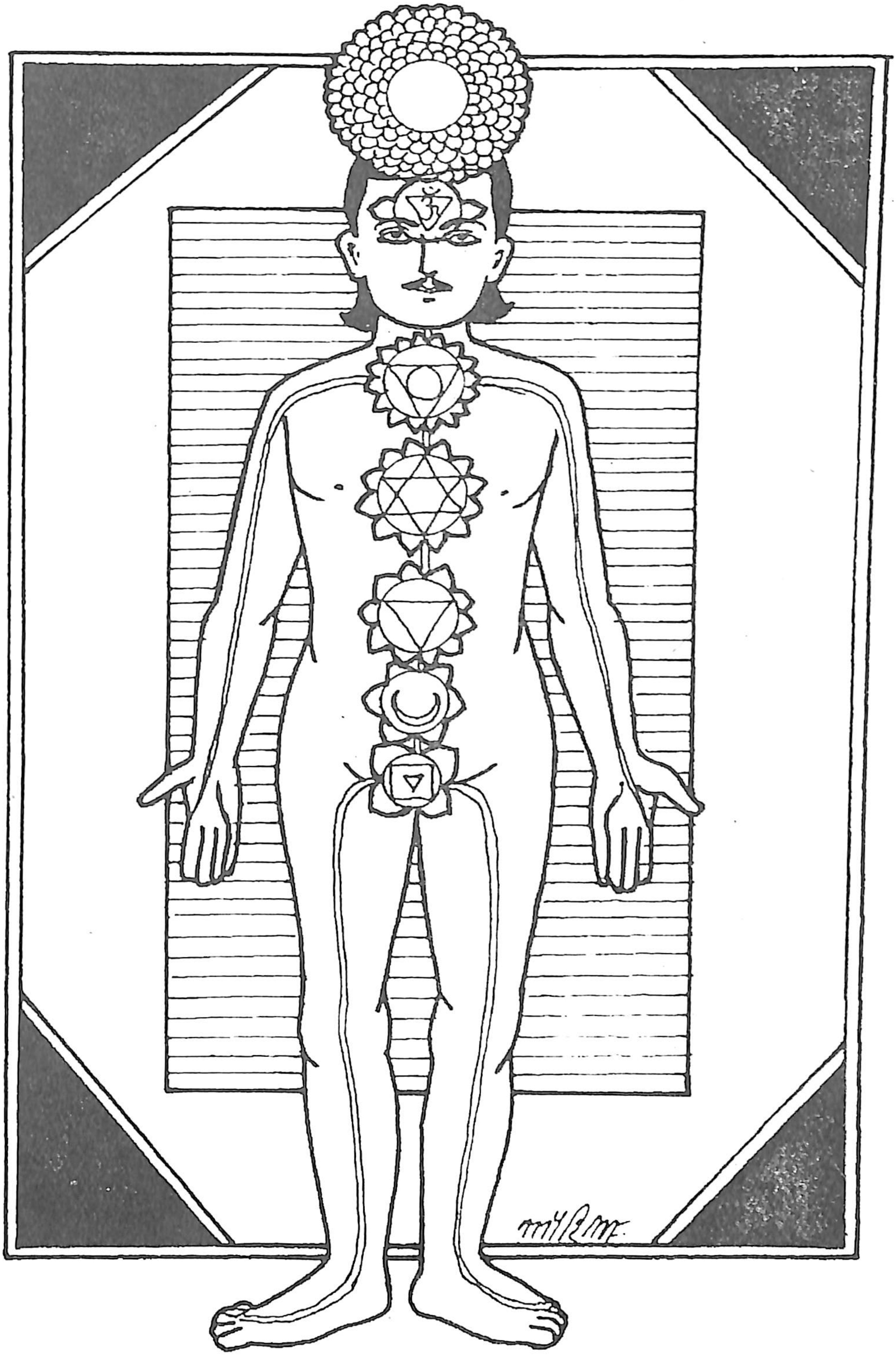


शरीर में चक्रों का स्थान व स्थिति

यहीं से गर्भ माता के साथ जुड़ा होता है और वृद्धि पाता है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रावण की नाभि में अमृत होने का कूट संकेत नाभि को सर्वाधिक नाजुक मर्म सिद्ध करता है। आयुर्वेद में भी नाभि के महत्त्व व मर्म होने को स्वीकारा गया है। कुंगफू नामक युद्धकला में विपक्षी के मर्मों पर प्रहार करते समय अंतिम व निर्णायक (मृत्युदायक) प्रहार नाभि पर ही किया जाता है। अतः नाभि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

नाभि के बाद हृदय और मस्तिष्क भी महत्त्व रखते हैं। क्योंकि रक्त संचरण (ऊर्जा सप्लाई) तथा नियंत्रण, संचालन आदि के कार्य क्रमशः हृदय व मस्तिष्क ही करते हैं। शरीर-रचना की दृष्टि से भी नस नाड़ियों का सर्वाधिक जमावड़ा इन्हीं तीन केन्द्रों—नाभि, हृदय व मस्तिष्क में होता है।

इन तीनों के अलावा कण्ठ भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसी संकीर्ण



शरीर में सात चक्रों की स्थिति व चक्र की यौन नाड़ियों का चित्रण

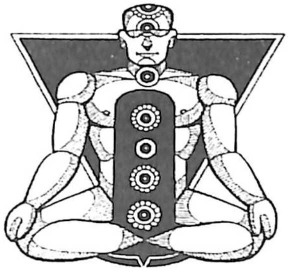
स्थान से मस्तिष्क और समस्त ज्ञानेन्द्रियों को रुधिर पहुंचाने वाली नाड़ियां गुजरती हैं। नाक, कान, आंख, जिह्वा ये चारों ज्ञानेन्द्रियां कंठ से ऊपर हैं। (केवल एक त्वचा ज्ञानेन्द्रिय समस्त शरीर में उपस्थित रहती है।) इन सभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटकों को ऊर्जा, रक्त व संदेश पहुंचाने का मार्ग कंठ ही है। कंठ ही से श्वांस, जल व भोजन आदि नीचे आकर समस्त शरीर को प्राप्त होता है। कंठ मस्तिष्क व ज्ञानेन्द्रियों को शरीर से जोड़े रखने वाला सेतु है अत: महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ शरीर का एक मर्म भी है।

गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य का स्थान, शरीर का केन्द्रिय आधार होने से 'मूलाधार' भी कहा जाता है। प्रजनन सामर्थ्य की दृष्टि से भी यह भाग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मर्म ही गुरुत्वाकर्षण के सीधे सम्पर्क में आने वाला आधार है।

पुस्तक में शरीर के इन मर्मों को गिनाने का विशेष कारण है। शरीर में स्थित सातों चक्र इन्हीं मर्मों के बीच स्थित हैं। इन सभी को परस्पर सम्बद्ध करने का कार्य करता है मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) जिस पर पूर्ण शरीर का संतुलन व संचालन आधारित रहता है। इसका आरम्भ मूलाधार के निकट से होकर अन्त मस्तिष्क के निकट तक होता है। अत: यह रीढ़ की हड्डी भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। योग विद्या या कुण्डलिनी जागरण की क्रिया में तो यह निहायत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यही कुण्डलिनी का मार्ग भी है। (इस विषय में आगे चर्चा करेंगे)। **अत: शरीर रचना विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान और योग विद्या आदि समस्त दृष्टियों से मूलाधार, नाभि, हृदय, कंठ, मस्तिष्क और मेरुदण्ड अत्यंत प्रमुखता से महत्वपूर्ण हैं।**

शरीर में स्थित सातों चक्र इन्हीं के मध्य स्थित है और यही कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह का मार्ग भी है। इस विषय को और बेहतर समझने के लिए हम चित्र का सहारा लेंगे। पीछे दिये गये चित्र में सातों चक्रों का स्थान तथा कुण्डलिनी शक्ति संचालन का मार्ग आप स्पष्ट देख सकते हैं। इन चक्रों के संक्षिप्त परिचय के बाद हम कुण्डलिनी की चर्चा करेंगे।

❑❑❑

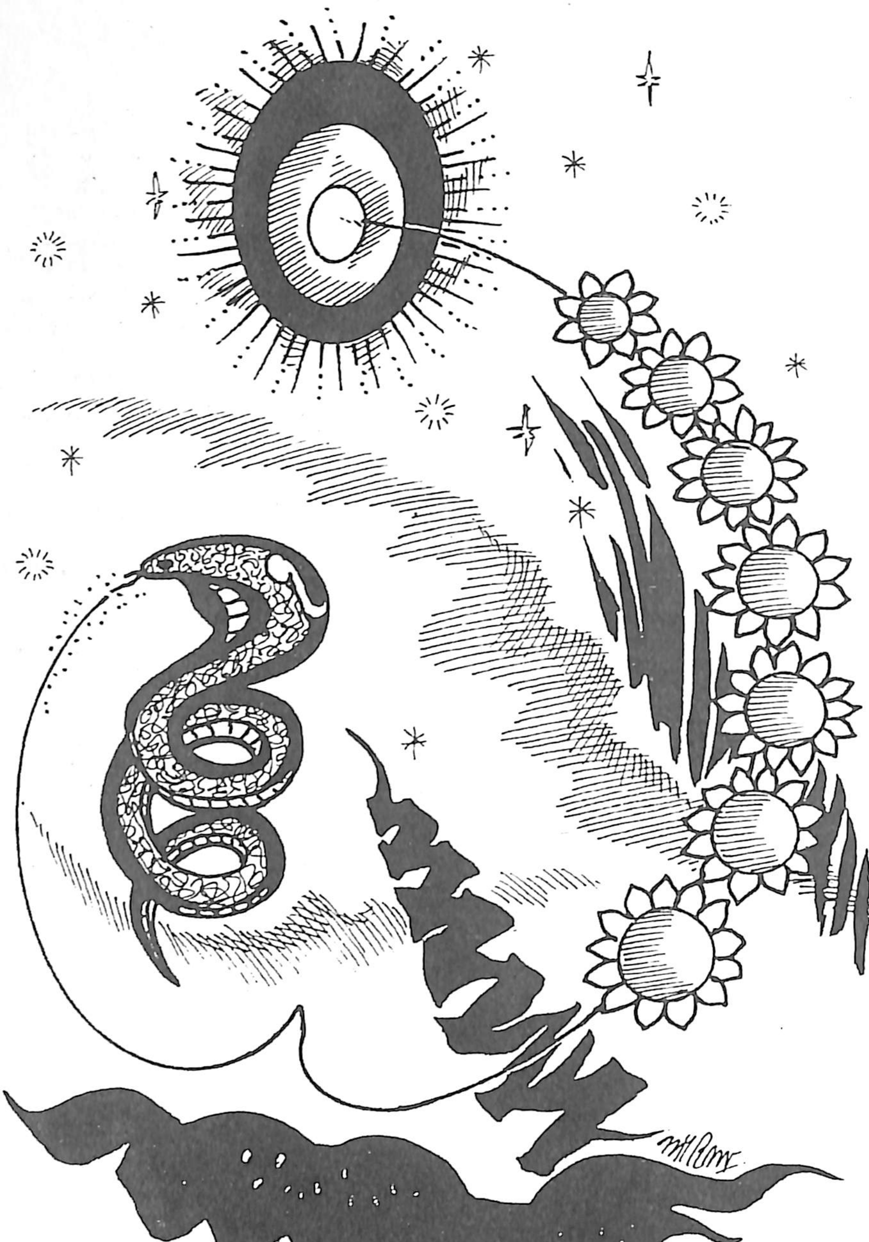


2
चक्रों का परिचय

जैसा कि पाठकगण प्रस्तुत चित्र में चक्रों का स्थान, नाम व संख्या जान चुके हैं—मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र और सहस्त्रार चक्र—ये सात चक्र हैं। जिस प्रकार स्थूल दृष्टि से नाड़ी नसों के सर्वाधिक जमावड़ा होने के कारण (जंक्शन होने के कारण) नाभि, हृदय व मस्तिष्क महत्त्वपूर्ण हैं उसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ये चक्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये शक्ति, ऊर्जा व प्राण के सूक्ष्म किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण जंक्शन ही नहीं बल्कि शरीर के विभिन्न 'पॉवर स्टेशन' हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी निश्चित शक्तियां, अपने निश्चित प्रभाव और अपने निश्चित अधिकार हैं। किन्तु ये 'पॉवर स्टेशन' सोए हुए या निष्क्रिय रहते हैं। बिल्कुल उसी प्रकार मानो समस्त यन्त्रों, साधनों, उपकरणों तथा संचालन व्यवस्था आदि से सम्पन्न और हर दृष्टि से समर्थ किसी बिजलीघर या 'पॉवर स्टेशन की बिजली चली जाए और उसकी समस्त शक्तियां व संचालन बिजली के आने तक निष्प्राण रह जाए।'

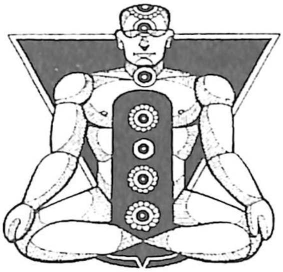
ये जो बिजली/करंट/ऊर्जा या शक्ति है—जिसके अभाव में हर दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध होते हुए भी हमारे शरीर के सातों चक्र/पॉवर स्टेशन मृतप्राय रहते हैं, यही कुण्डलिनी शक्ति है। बिजली की सप्लाई जिस-जिस उपकरण में हो जाती है, वही उपकरण क्रियाशील हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस-जिस चक्र या 'पॉवर स्टेशन' पर यह कुण्डलिनी शक्ति पहुंच जाती है, वही सक्रिय हो जाता है। किसी विशिष्ट चक्र में कुण्डलिनी शक्ति का प्रवेश और वहां से आगे/ऊपर बढ़कर क्रमश: अगले चक्र में प्रवेश 'चक्र भेदन' कहा जाता है। (इस विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे)। इस प्रकार 'षट्चक्र भेदन' (छह चक्रों को भेद कर) कुण्डलिनी को सातवें चक्र में स्थित किया जाता है। सातवें चक्र का भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के समय परमात्मा में विलीन होकर स्वयं परमात्म स्वरूप हो जाती है।

यह भी एक विलक्षण तथ्य है कि सप्त चक्रों ही की भांति कुण्डलिनी शक्ति भी मनुष्यों में सुप्त/निष्क्रिय अवस्था में ही रहती है। योग द्वारा उसे साधक को जगाना पड़ता है। योग के अतिरिक्त कुण्डलिनी जागरण के मन्त्रादि अन्य विधान भी कहे गए हैं। हम आगे यथासम्भव प्रकाश सभी विधानों पर डालेंगे, किन्तु पुस्तक में



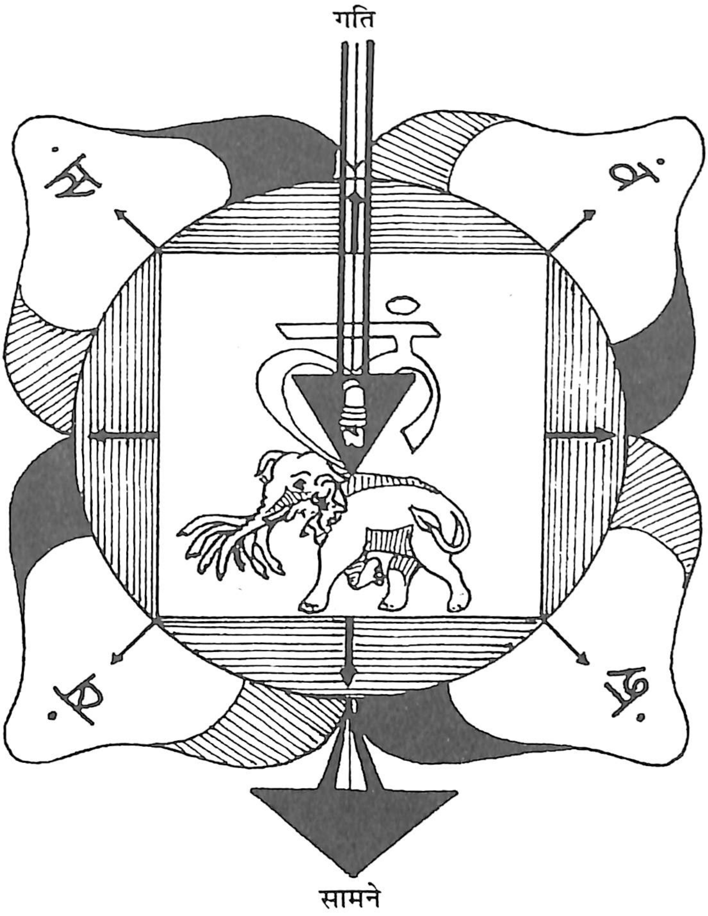
कुण्डलिनी एवं सप्तचक्र

मूल रूप से योगपद्धति/योगविधान की ही चर्चा करेंगे। क्योंकि यही सर्वमान्य, विवाद रहित, पूर्ण प्रामाणिक तथा अपेक्षाकृत सहज प्रणाली है। और इन सबसे बड़ी बात यह कि यही प्रणाली बोधगम्य भी है तथा मेरी वर्णन सामर्थ्य के भीतर भी तो सबसे पहले सप्त चक्रों के विषय में जानते हैं अगले पृष्ठों पर।



3
मूलाधार चक्र

इस चक्र को कुछ ग्रन्थों में 'आधार चक्र' भी कहा गया है। कोष्ठक में दिया गया नाम इस चक्र का पर्याय नहीं है, किन्तु इसका स्थान ठीक-ठीक समझ पाने में पाठकों के लिए सहायक होगा, अत: लिख दिया गया है। इस चक्र का नाम आधार या मूल आधार इसलिए है, क्योंकि यह चक्र सुषुन्ना के मूल में अवस्थित है। यही भाग शरीर का आधार भी है और समस्त चक्रों के मूल में यही सर्वप्रथम है।

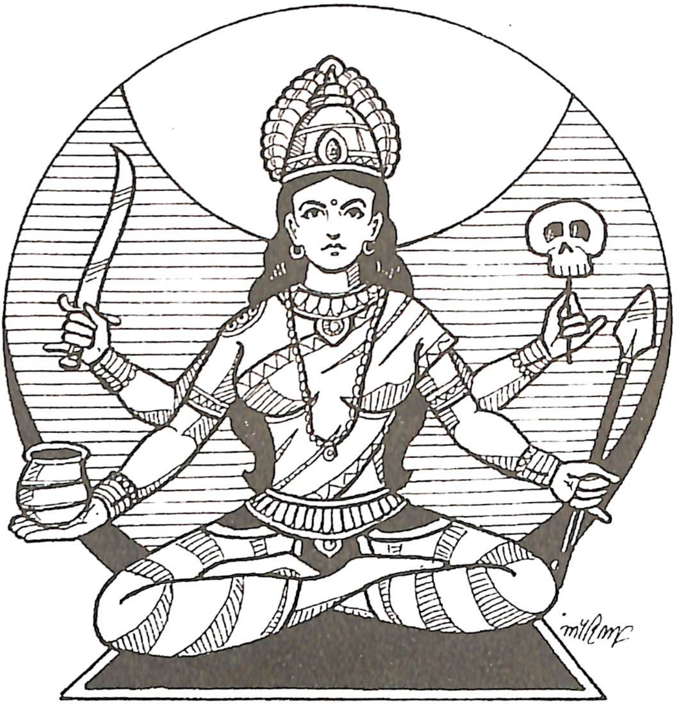


मूलाधार चक्र

योग विद्या या कुण्डलिनी की दृष्टि से यह चक्र न केवल अति अधिक महत्त्वपूर्ण है अपितु सम्पूर्ण योग प्रणाली का मूल या आधार भी है। कारण—



देवता—ब्रह्मा



शक्ति—डाकिनी

कुण्डलिनी शक्ति इसी चक्र में अवस्थित होती है (इस विषय में हम आगे विस्तार से पढ़ेंगे)। जीवन के प्रारम्भिक सातवें वर्षों में बालक की चेष्टाएं प्राय: इसी चक्र से प्रभावित होती हैं। स्वयं में ही रत रहना तथा असुरक्षा बोध से ग्रस्त रहना इसका

प्रबल प्रमाण है। मूलाधार चक्र के विशिष्ट प्रभाव में आया हुआ मनुष्य प्राय: दस से बारह घंटे तक रात्रि में पेट के बल सोता है। मोह, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, कामुकता, प्रजनन एवं माया—इसी चक्र के प्रभाव के ही अन्तर्गत आते हैं। स्वास्थ्य, बल, बुद्धि, स्वच्छता तथा पाचन शक्ति भी इसी चक्र से सम्बन्धित है। शरीर की धातुओं, उपधातुओं व चैतन्य शक्ति को इसी चक्र से बल मिलता है। शारीरिक मलिनता का इस चक्र की अशुद्धि से सीधा सम्बन्ध है। सांसारिक प्रगति और चैतन्यता का मूल यह चक्र मनुष्य के देवत्व की ओर किए जाने वाले विकास का आधार है।

मूलाधार चक्र का स्थान सुषुम्ना मूल में गुदा से दो अंगुल आगे व उपस्थ से दो अंगुल पीछे 'सीवनी' के मध्य में है। मूलबन्ध लगाते समय इसी प्रदेश को पैर की एड़ी से दबाया जाता है। नीचे की ओर चलने वाली अपान वायु का यह मुख्य स्थान है। इसका सम्बन्धित लोक 'भूलोक' है। पंच महाभूतों में यह पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है। पृथ्वी तत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण इसका प्रधान ज्ञान अथवा गुण 'गन्ध' है। अत: इसकी कर्मेन्द्रिय गुदा और ज्ञानेन्द्रिय नासिका है। इसका तत्त्वरूप चतुष्कोण चतुर्भुज (वर्गाकार) है, जो सुनहरे अथवा भूमिपीत वर्ण का है। इसकी यन्त्राकृति पीत वर्ण चतुष्कोण है, जो रक्त वर्ण से प्रकाशित चार पंखुड़ियों/दलों से युक्त है। सुरक्षा, शरण और भोजन इस चक्र के प्रधान भौतिक गुण हैं।

इस चक्र का तत्त्व बीच 'लं' है, जो इसकी बीज ध्वनि का सूचक है। कमल दल ध्वनियां क्रमश: वं, शं, षं और सं हैं जो इसकी पंखुड़ियों के अक्षर हैं। इसके तत्त्व बीज का वाहन ऐरावत हाथी है। (जिस पर इन्द्र विराजमान हैं)। जो इसकी सामने की ओर की बीजगति को दर्शाता है। इस चक्र के अधिपति देवता चतुर्भुज ब्रह्मा हैं, और उनकी शक्ति चतुर्भुज डाकिनी भी साथ हैं जो चक्र की शक्ति की सूचक है। इस चक्र के अधिकारी गणेश हैं तथा इसका बीज वर्ण स्वर्णिम है। अत: यन्त्राकृति व तत्त्वरूप में पीतवर्ण के साथ स्वर्ण-सी आभा भी रहती है। इस चक्र पर ध्यान के समय प्रयुक्त होने वाली कर मुद्रा में अंगूठे तथा कनिष्ठा अंगुली के सिरों को दबाया जाता है, जिसके प्रभाव में चैतन्य का मानवीकरण होता है।

ध्यान के समय जब मूलाधार की तत्त्वबीज ध्वनि 'लं' का शुद्ध रूप से बार-बार उच्चारण किया जाता है तो 'लं' उच्चारण से उत्पन्न होने वाली विशेष तरंगें मूलाधार की नाड़ियों को उत्तेजित करती हैं तथा उर्ध्व मस्तिष्क को तरंगित करती हैं। परिणामस्वरूप शक्ति के अधोगति में अवरोध उत्पन्न होकर शक्ति उर्ध्वगति (ऊपर की ओर गति करने वाली) होती है जिससे मूल आधार के प्रभावों—असुरक्षा, भय आदि का लोप होता है तथा मनोबल की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वान इसे 'यौनचक्र' भी कहते हैं।

योग मार्ग पर न जाने वाले साधकों के लिए भी मूलबन्ध का अभ्यास

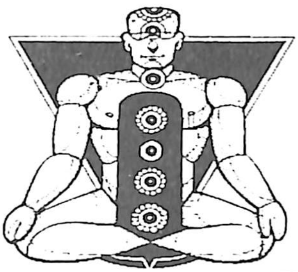
लाभकारी है (इस विषय में हम बन्ध प्रकरण में विस्तार से चर्चा करेंगे)। किन्तु एड़ी द्वारा सीवन को दबाते समय मूलबंध दृढ़ता से लगा रहे तथा लंगोट कसी रहे क्योंकि सीवनी मर्मस्थान है। शौर्यकला कुंगफू के सिद्धांतानुसार यहां पर किया प्रहार, आघात अथवा अनुचित दबाव नपुंसकत्व उत्पन्न करता है।

मूलाधार के अधिपति देवता ब्रह्मा ही क्यों हैं? शक्ति डाकिनी ही क्यों है? अधिकारी गणेश ही क्यों हैं? आदि तत्त्वों की मीमांसा भी की जा सकती है, किन्तु उससे न केवल पुस्तक के कलेवर में वृद्धि होगी, अपितु यह चर्चा मूल विषय की सुगम्यता और लयबद्ध प्रस्तुति में बाधक भी होगी। तिस पर इस चर्चा से योगमार्ग के साधकों अथवा कुण्डलिनी जागरण के इच्छुक पाठकों को कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि वे कन्फ्यूज़ हो सकते हैं। अत: केवल पाण्डित्य सिद्ध करने के लिए ऐसी चेष्टा युक्ति संगत नहीं होगी—ऐसा सोचकर इस विषय में चर्चा नहीं कर रहा हूं। इच्छुक पाठक पत्र व्यवहार से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

वैसे तो चक्रों के स्वरूप का विराटता से वर्णन करना भी आवश्यक नहीं था, क्योंकि कार चलाना सीखने के लिए इंजन के सभी पुर्जों का पूर्ण ज्ञान पाना अनिवार्य नहीं होता। आवश्यक भी नहीं होता, तथापि जिज्ञासा शांति के अलावा कुण्डलिनी जागरण के मन्त्र उपाय की चर्चा के समय इन तमाम जानकारियों की आवश्यकता पाठकों को पड़ेगी अत: पहले ही प्रसंगवश पूर्ण विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है।

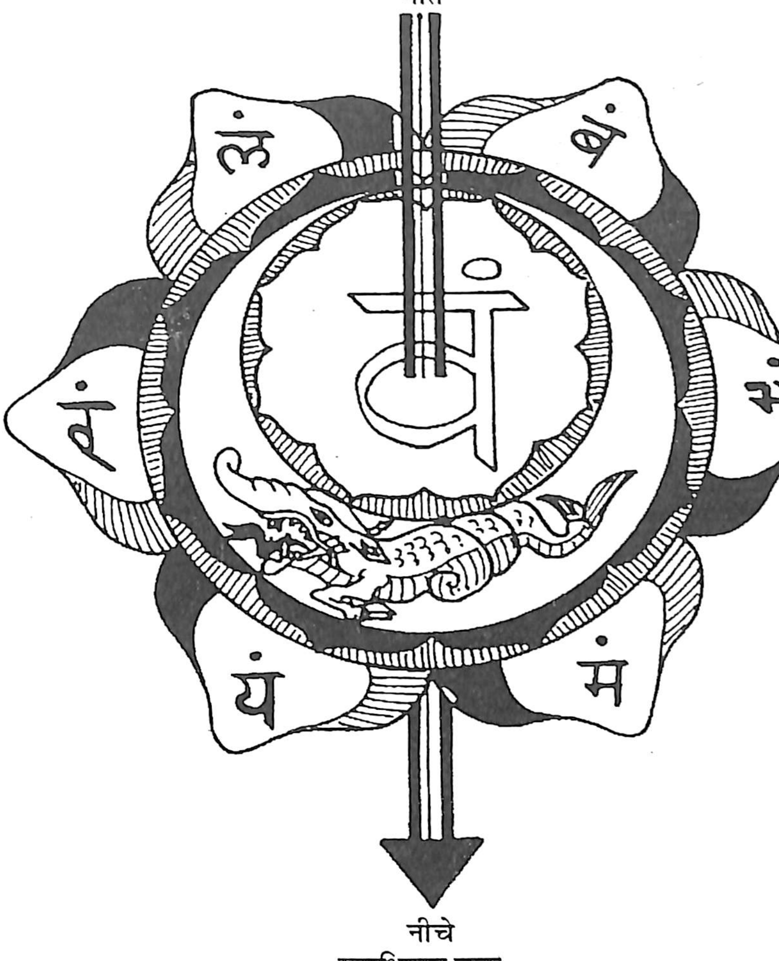
बात मूलाधार चक्र की चल रही थी। मूलाधार चक्र से होकर ही योग मार्ग या कुण्डलिनी यात्रा आरम्भ होती है। यही इस यात्रा का मूल उद्‌गम और प्रथम सोपान है। अत: इसे ध्यान से समझें।

❑❑❑



4
स्वाधिष्ठान चक्र

कुण्डलिनी की रहस्यमयी और विलक्षण यात्रा का दूसरा पड़ाव, मानव शरीर में स्थित दूसरा प्रमुख चक्र स्वाधिष्ठान है। जननेन्द्रिय के ऊपर तथा नाभि के नीचे 'पेड़ू' में यह चक्र अवस्थित है। यह पुरुषों के वीर्य व स्त्रियों में रज का स्थान कहा जाता है। पंच महाभूतों में यह 'जल' तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् जल



स्वाधिष्ठान चक्र

तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। जल तत्त्व का प्रतिनिधि होने के कारण इसका प्रधान ज्ञान या गुण 'रस' है (जो जल तत्त्व की तन्मात्रा है)। इसलिए इसकी ज्ञानेन्द्रिय



देवता—विष्णु



शक्ति—राकिनी

रसना/जिह्वा और कर्मेंद्रिय लिंग व योनि (जननांग) हैं। इसका रूप चन्द्राकार है। जो सफेद रंग का है। इसके यन्त्र का रूप अर्धचन्द्र युक्त वृत्ताकार है जो श्वेत है। रक्ताभ हिंगुल वर्ण (सिंदूरी रंग) से प्रकाशित छः पंखुड़ियों या दलों से यह युक्त है। इन दलों के अक्षर बं, भं, मं, यं, रं और लं हैं। यही इसकी कमल दल ध्वनि है। इस चक्र की बीज ध्वनि वं है। क्योंकि वं इसका तत्त्व बीज है।

इस चक्र का बीज वाहन मकर है, जो इसके तत्त्व बीज की गति को दर्शाता है, यानि मगरमच्छ द्वारा लगाई जाने वाली डुबकी की भांति नीचे की ओर। इसका बीज वर्ण स्वर्णिम श्वेत है जल के समान प्रांजल। 'भुवः' लोक इस चक्र का लोक कहा गया है। पूर्ण शरीर में फैलकर गति करने वाले व्यान वायु का यह मुख्य स्थान है। इस चक्र के अधिपति देवता विष्णु हैं जो अपनी चतुर्भुज 'राकिनी' के साथ हैं। इससे चक्र की शक्ति का 'राकिनी' होना भी सिद्ध होता है। स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान लगाते समय प्रयुक्त की जाने वाली कर मुद्रा में अंगूठे व अनामिका के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। जिस प्रकार चैतन्यता का प्रभाव मूलाधार चक्र के ध्यान से उत्पन्न होता है उसी प्रकार ध्यान द्वारा स्वाधिष्ठान चक्र का अतिक्रमण कर लेने से प्रसन्नता से चैतन्यता ओत-प्रोत हो जाती है। साधक में प्रफुल्लता आती है।

जल तत्त्व का प्रतिनिधि होने से कल्पनाशीलता इस चक्र का प्रधान भौतिक प्रभाव है। इस चक्र के बिगड़ने से 'जलोदर' आदि रोग सम्भावित होते हैं। वैसे प्रायः इस चक्र से प्रभावित व्यक्ति घुटनों में सिर देकर आठ से दस घंटे रात्रि में सोता है। माना जाता है कि 8 से 14 वर्ष तक की आयु में मनुष्य स्वाधिष्ठान चक्र के विशेष प्रभाव में रहता है। उद्विग्नता, उलझन, कल्पना की उड़ान तथा कुटुम्बियों व मित्रों से बनाए जाने वाले भौतिक सम्बन्ध इसी चक्र के प्रभाव से होते हैं। इच्छाओं व कल्पनाओं के साथ बाह्य व आन्तरिक जगत से तालमेल बिठाने के प्रयास में मानव के व्यक्तित्त्व का विकास होता है, जो इसी चक्र के प्रभाव क्षेत्र में आता है।

इस चक्र की साधना बल, सामर्थ्य, विवेक, धैर्य तथा दृढ़ता व विश्वास को बढ़ाने वाली कही गई है। इसके तत्त्व बीज 'वं' की शुद्धतापूर्वक उच्चारित की गई आवृत्ति मानव शरीर के निम्न भागों के अवरोध हटाकर वहां शक्ति को प्रवाहित करती है। कल्पना शक्ति को साधकर कला आदि में उसका बेहतर उपयोग किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण चक्र है। जैसा कि नाम से भी स्पष्ट है—'स्व' का अधिष्ठान करने वाला यानि—स्वाधिष्ठान।

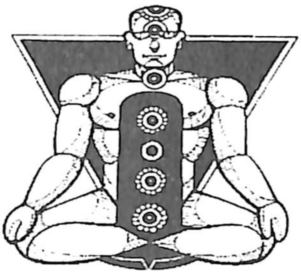
प्रजनन, कल्पना, मनोरंजन, प्रसन्नता, डाह, ईर्ष्या, दया शून्यता, द्वेष, उद्विग्नता, बेचैनी आदि गुणावगुण इसी चक्र से प्रभावित होते हैं। जल तत्त्व व चन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण, भावुकता, चंचलता आदि मन के विशिष्ट गुण इसी चक्र के प्रभाव में आते हैं। इस चक्र के तत्त्व बीज की गति को दर्शाने के लिए वाहन रूप में मकर का प्रयोग भी उचित व तर्कपूर्ण है। मकर को डुबकी मार कर नीचे जाने के

स्वभाव से न केवल बीजगति का संकेत मिलता है अपितु मकर की चालाकी (शिकार के समय), उसका तैरना (मनोरंजन) उसकी प्रबल काम शक्ति (प्रजनन सामर्थ्य तथा मन का वेग) और उसकी व्यावहारिकता जो जल और थल दोनों में रहने से सिद्ध होती है। 'मगरमच्छ के आंसू बहाना' मुहावरा ही मकर की चालाकी तथा व्यावहारिकता के गुण को सिद्ध करता है।

जबकि मूलाधार का बीज वाहन हाथी (ऐरावत, जिसकी 7 सूंडें कही गई हैं) न केवल बीज गति से निर्बाध सामने की ओर जाने को सूचित करता है बल्कि बल, बुद्धि, चैतन्यता, भोजन, सुरक्षा, अपने में ही मस्त रहना, इच्छा तथा इच्छाओं में मन के भटकाव का भी द्योतक है। महत्त्वाकांक्षाओं को भी प्रकट करता है। अंकुश द्वारा हाथी को वश में करने के समान इच्छाओं के बलवान हाथी को बुद्धि के अंकुश द्वारा वश में करने की प्रेरणा देते गणेश अपने अंकुश सहित मूलाधार के अधिकारी व निवासी देवता बताए ही गए हैं।

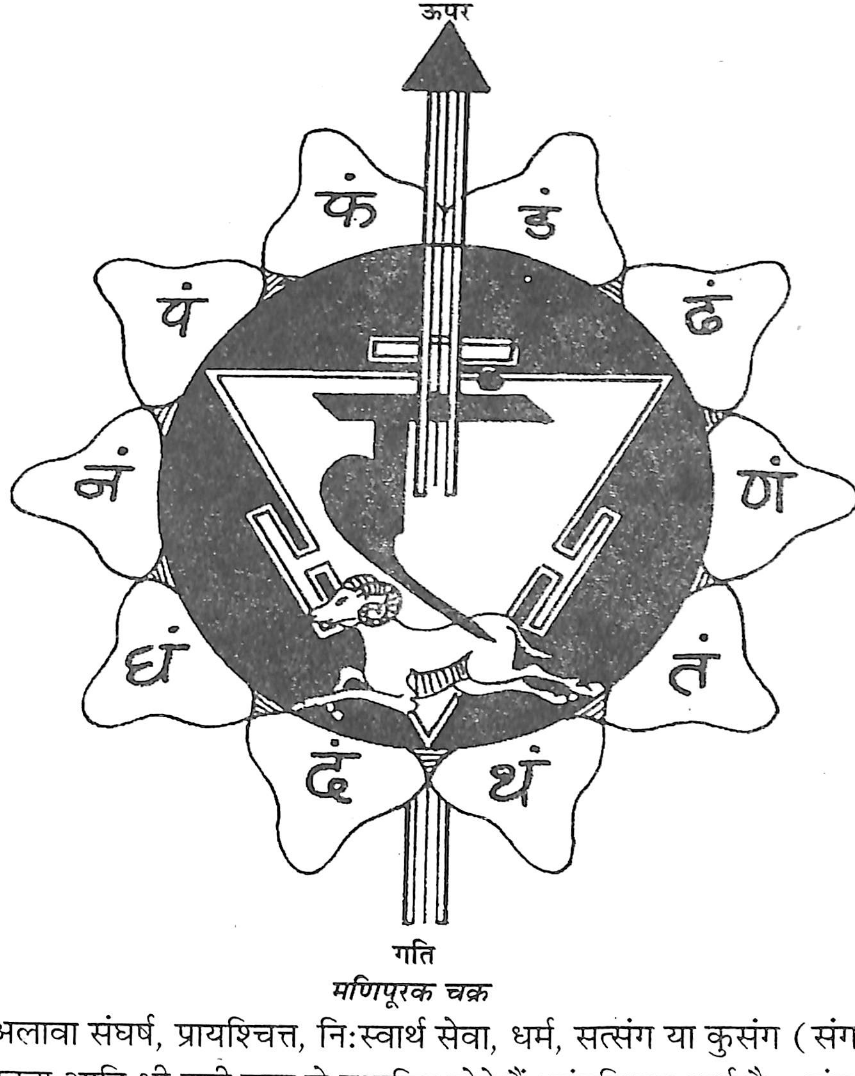
यद्यपि मकर व हाथी के स्वभाव व विशेषताओं की चर्चा यहां पर आवश्यक नहीं थी, तो भी पाठकों को चाहिए कि स्वबुद्धि के प्रयोग से सामने आने वाले तथ्यों को तोलते भी रहें, ताकि विषय पर उनकी मन से आस्था बने और विश्वास उत्पन्न हो सके। इसके अतिरिक्त विषय की महत्ता व गूढ़ता के रहस्य समझे जा सकें। अत: पूर्ण व विस्तृत चर्चा के लिए स्थान न होते हुए भी, कहीं-कहीं जहां अत्यंत आवश्यकता महसूस कर रहा हूं, अथवा जिस मुद्दे पर की गई चर्चा विषय को सुगम्य बनाने में सहायक हो सकती है, वहां-वहां विषय प्रवाह में हल्का-सा अवरोध दोष उत्पन्न होने के बावजूद ऐसा तुलनात्मक विवरण यथा सामर्थ्य इसी उद्देश्य से दे रहा हूं, कि पाठक सुनें और गुनें। स्वयं भी अपनी तुला पर तोलें।

❑❑❑



5
मणिपूरक चक्र

इसे मणिपुर चक्र भी कहा गया है। यह भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नाभि मूल में इसका स्थान है। अत: पवन संस्थान व शौर्य संस्थान से इसका सीधा सम्बन्ध है। व्यक्ति के अहं, प्रभुत्व व धाक जमाने की भावना, नाम कमाने की इच्छा, सर्वश्रेष्ठ बनने की ललक तथा शक्ति अर्जन के प्रयास इसी चक्र के प्रभाव क्षेत्र में आते हैं।



मणिपूरक चक्र

इसके अलावा संघर्ष, प्रायश्चित्त, नि:स्वार्थ सेवा, धर्म, सत्संग या कुसंग (संगति), निष्ठा, दृढ़ता आदि भी इसी चक्र से प्रभावित होते हैं। संगति का अर्थ है—संग-संग



देवता—रुद्र (शिव)



शक्ति—लाकिनी

या साथ-साथ गति करना। अतः संगति सदैव संतुलन उत्पन्न करने वाली होती है। यह विषमता को समाप्त कर समता को उत्पन्न करती है। अतः कर्म व धर्म में संतुलन उत्पन्न करना इसी चक्र के प्रताप से सम्भव होता है। प्रकृति व धर्म का संतुलन जब स्वभाव व कर्म से हो जाता है, तो साधक नैसर्गिक लोक में पदार्पण कर सकता है। अतः मणिपूरक चक्र अध्यात्म का प्रवेश द्वार कहा जा सकता है।

नाभि शरीर का केन्द्र है। गर्भावस्था में नाभि द्वारा ही शिशु का पोषण व विकास होता है। नाभि से ही भ्रूण विकसित होता है। गुरुत्वाकर्षण बल के प्रति संतुलन बनाने का कार्य नाभि ही करती है। आघात पहुंचने या असंतुलित हो जाने से नाभि उतर जाती है। ऊपरी शरीर व निचले शरीर का संतुलन नाभि पर ही रहता है। रॉकेट को जिस प्रकार अंतरिक्ष में जाते समय गुरुत्वाकर्षण सीमा का अतिक्रमण करते समय विशिष्ट बल की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को भी ऊपरी चक्रों पर जाने के लिए मणिपूरक चक्र का बेधन करने में विशेष बल लगाना पड़ता है। (इस विषय में आगे विस्तार से पढ़ेंगे)। इसलिए इसे आध्यात्मिक प्रवेश द्वार कहा गया है, इसीलिए नाभि में अमृतकुंड होना भी कहा जाता है। इसके अलावा योग में अत्यंत महत्त्वपूर्ण रुद्रग्रंथि का निवास भी यहीं है (चक्र प्रकरण के बाद इसकी चर्चा होगी)। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि संगति या संतुलन नाभि में ही स्थित होने से मणिपूरक चक्र के प्रभाव में आता है।

मणिपूरक चक्र से प्रभावित मनुष्य रात्रि में 6 से 8 घंटे सोने वाला होता है। इस चक्र में ध्यान लगाने से स्वास्थ्य व दीर्घायु की प्राप्ति होती है, अपने शरीर व ग्रन्थियों का भौतिक ज्ञान होता है तथा पाचन सम्बन्धी दोषों व विकारों का निवारण होता है तथा साधक में तेज उत्पन्न होता है। क्योंकि 'अग्नि' तत्त्व का यह चक्र प्रतिनिधित्व करता है।

पंचमहाभूतों में 'अग्नि' का मुख्य आधार होने के कारण मणिपूर चक्र की ज्ञानेन्द्रिय नेत्र व कर्मेन्द्रिय पैर हैं। रूप या तेज इसका प्रधान गुण या ज्ञान है, जो अग्नितत्त्व की तन्मात्रा है। खान-पान के रस को पूरे शरीर में समान रूप से वितरित करने वाला समान वायु है, जिसका इस चक्र में मुख्य निवास है।

यह चक्र त्रिकोणाकार है। जो रक्तवर्ण का है। नीले हरे रंग से प्रकाशित दस कमलदलों (पंखुड़ियों) से यह घिरा हुआ है। इन पंखुड़ियों पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, वं, फं वर्ण (अक्षर) हैं जो इस चक्र की कमल दल ध्वनियों के सूचक हैं। इसकी बीज ध्वनि 'रं' हैं, क्योंकि 'रं' इसका तत्त्व बीज है। इस चक्र की बीज गति मेष/मेढ़े के समान उछलकर चलने की है अतः मेढ़ा इस चक्र का बीज वाहन है। (अग्नि का वाहन भी मेढ़ा कहा गया है और अग्नि का बीज मंत्र भी 'रं' ही होता है)। अग्नि तत्त्व और समानवायु का यह मुख्य स्थान है।

इस चक्र का लोक स्वः है। इसका यन्त्ररूप अधोमुखी त्रिकोण है, जो लाल

रंग का है। इसका बीज वर्ण स्वर्णिम रक्त है। इस चक्र के अधिपति देवता रुद्र शिव हैं, जो अपनी चर्तुभुजा शक्ति 'लाकिनी' के साथ हैं। इस चक्र पर ध्यान लगाते समय प्रयुक्त होने वाली कर मुद्रा में मध्यमा उंगली व अंगूठे के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। मध्यमा व अंगूठे के सिरों को दबाने से शरीर में उष्मा उत्पन्न होती है।

इसके बीज मंत्र 'रं' की यदि शुद्धोच्चारण के साथ बारम्बार पुनरावृत्ति की जाती है तो उस ध्वनि की तरंगों के प्रभाव से रस को आत्मसात् करने की शक्ति व पाचन शक्ति बढ़ती है क्योंकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इसके अलावा ऊर्जा भी बढ़ती है जो आयु व सामर्थ्य को बढ़ाती है।

प्रायः मणिपूरक चक्र से प्रभावित व्यक्ति क्रोधी होते हैं क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही ऊष्ण है। यही कारण है कि कई स्थानों पर इसे 'सूर्य चक्र' भी कहा गया है। इस चक्र का बीज वाहन मेढ़ा सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि मेढ़ा स्वाभिमानी, बलवान, अहं में चूर और रणोन्मत्त होता है। यह उछलकर सीधा सिर से आक्रमण करता है और मेढ़ा अग्नि का वाहन भी है। जोश और अहं मेढ़े में शक्ति के साथ मौजूद होता है। यद्यपि यही गुण वृषभ या सांड में भी है, किन्तु उसमें वह फुर्ती और उछलकर चलने/लड़ने का स्वभाव नहीं है जो इस चक्र की बीजगति को इंगित कर सके अतः इसका बीज-वाहन मेढ़ा सर्वथा उचित ही है।

प्रायः अग्नि का सूचक लाल रंग माना गया है। यहां मणिपूरक चक्र के कमल दलों का रंग नीला कहा गया है। (यद्यपि यन्त्र रूप त्रिकोण लाल रंग वाला ही है।) यहां पाठकों को एक विरोधाभास प्रतीत हो सकता है, क्योंकि नीला व लाल परस्पर विरोधी रंग हैं और अग्नि का पर्याय मुख्यतः लाल रंग माना गया है। अतः पाठकों को यह स्पष्ट करना ज़रूरी समझता हूं कि अग्नि का रंग वास्तव में नीला है। कभी भी अग्नि को ध्यान से देखें (माचिस या मोमबत्ती की लौ को ही सही), मध्य में नीला फिर काला सा सिलेटी, फिर लाल, संतरी और पीला रंग क्रमशः बाहर की ओर दिखाई देते हैं। यह रंग भेद अग्नि की जिह्वाओं तथा उसकी ऊष्णता के स्तर को ही दिखाते हैं। जैसा कि पुराणों व उपनिषदों में अग्नि की सात जिह्वाओं/लपटों का वर्णन भी है—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुचि च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी एवं विश्वरुचि—अग्निदेव की ये 7 जिह्वाएं हैं।

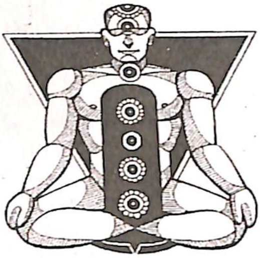
इससे सिद्ध होता है कि अग्नि का लाल रंग उसकी सुलोहिता नामक जिह्वा और स्लेटी काला रंग उसकी धूम्रवर्णा नाम की जिह्वा के कारण है। पीला रंग तो

तेज, ऊष्णता व प्रकाश के कारण है किन्तु अग्नि का रंग वैसे नीला ही है क्योंकि मूल में सदा नीली आभा विद्यमान रहती है।

यहां पाठक सूर्य और शुक्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषणों के निष्कर्ष भी देखें। सूर्य लाल है जो तीव्र प्रकाश की अवस्था में पीला मालूम होता है। जबकि शुक्र का रंग नीला है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर हम जानते हैं कि शुक्र सूर्य से कई हज़ार गुना अधिक गरम है और वैज्ञानिकों ने उसके धरातल की भीषण व प्रचण्ड गरमी के आधार पर उसे '**जीता जागता नरक**' कहा है। (इस विशेषता के आधार पर इस तथ्य को भी कसिए कि शुक्र को दानवों का गुरु कहा गया है।)

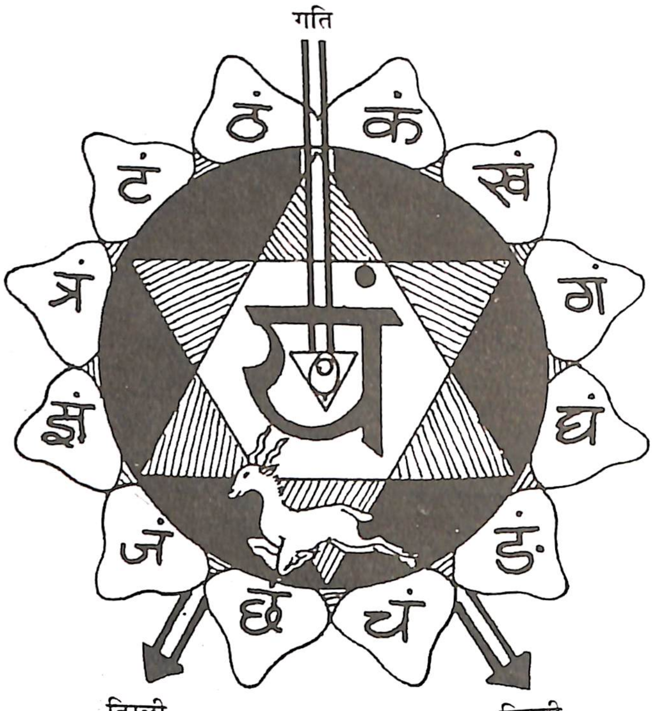
मणिपूरक चक्र की विशेष साधना—निर्मोहता, शांति, वैराग्य, समता, तन्मयता, आनन्द, धृति, निश्चलता तथा उदासीनता (न्यूट्रल होना/निर्लिप्त होना) को बढ़ाने वाली कही गई है। मणिपूर चक्र का सम्बन्धित लोक 'स्वः' यानि स्वर्गलोक है जो अन्य ऊपर के लोकों में सबसे निचला है अतः इसको आध्यात्मिक प्रवेशद्वार कहना ठीक ही है।

❑❑❑



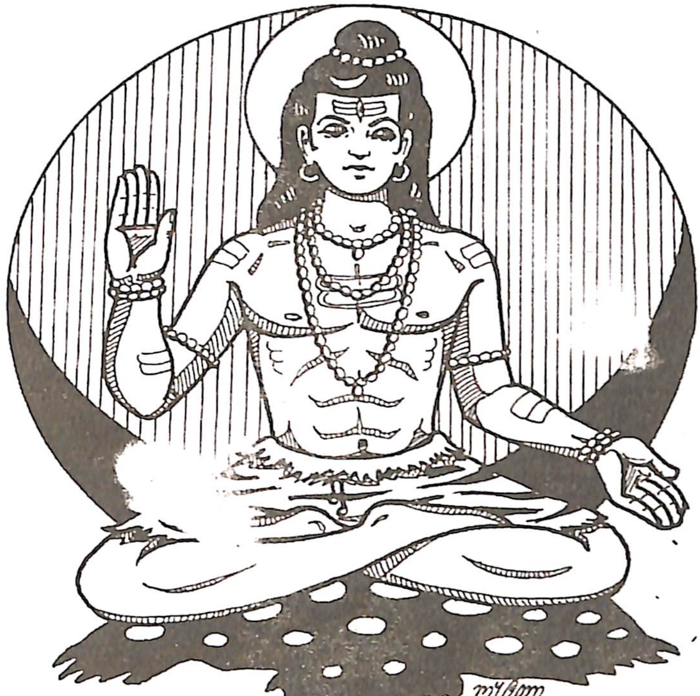
6
अनाहत चक्र

इस चक्र का स्थान हृदय है। इसीलिए इसे 'हृदय कमल' या 'हृदचक्र' भी कह देते हैं। यहां अनाहत ध्वनि (बिना प्रयास या थाप के, बिना आघात के स्वतः ही उत्पन्न होने वाली ध्वनि) स्वतः ही होती रहती है। इस लिए इस चक्र को अनाहत कहा गया है। क्योंकि ध्वनियों के दो ही मूल प्रकार हैं—आहत व अनाहत। आहत ध्वनि किसी प्रकार की छेड़छाड़ या आघात से उत्पन्न होती है और अनाहत ध्वनि अज्ञात कारण से स्वतः ही उत्पन्न होती है।



अनाहत चक्र

अनाहत चक्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नीचे के तीन और ऊपर के तीन चक्रों में यह संतुलनात्मक सेतु बनाता है। इसके अलावा इसी चक्र में हृत्पुण्डरीक कमल भी है, जिसमें कि योगीजन अपने आराध्य या इष्ट देव का ध्यान करते हैं। तांत्रिक ग्रन्थों के अनुसार भी (जैसा कि शिव सार तन्त्र में कहा गया है) 'शब्द ब्रह्म कहलाने वाले सदाशिव इसी अनाहत चक्र में हैं। क्योंकि इस स्थान से उत्पन्न होने



देवता—ईशान (रुद्र)



शक्ति—काकिनी

वाली ध्वनि है त्रिगुणमय ॐ एवं सदाशिव।' यह चक्र विशेष महत्त्ववान है।

पंचमहाभूतों में यह चक्र 'वायु' तत्त्व का मुख्य स्थान है। वायु तत्त्व की तन्मात्रा 'स्पर्श' है, अत: 'स्पर्श' इस चक्र का प्रधान गुण/ज्ञान है। इसी कारण इस चक्र की ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। नाक व मुख से प्रवेश कर समस्त शरीर में विचरने वाली एवं जीवन के लिए परमावश्यक प्राणवायु का यह चक्र मुख्य स्थान है। इस चक्र का लोक 'मर्ह' या 'महत्' है जो अन्त:करण का मुख्य स्थान है। इस चक्र के अधिपति देवता ईशान रुद्र हैं जो अपनी त्रिनेत्रा चतुर्भुजा शक्ति 'काकिनी' के साथ हैं। अत: इस चक्र की शक्ति 'काकिनी' हैं। इस चक्र का यन्त्र रूप षट्कोणाकार यह चक्र सिंदूरी रंग से प्रकाशित बारह दलों/पंखुडियों से युक्त हैं जिन पर स्थित कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं तथा ठं। ये बारह वर्ण (अक्षर) कमल दल की ध्वनियों को दर्शाते हैं। इस चक्र का तत्त्व बीज 'यं' इसकी बीज ध्वनि का परिचायक है। इसका बीज वाहन मृग है जो इस चक्र की तिरछी बीज गति को स्पष्ट करता है। इस चक्र पर ध्यान के समय अंगूठे और तर्जनी उंगली के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। इससे मन स्थिर होता है और उसकी मृग जैसी चंचलता रुकती है।

वायु का स्वभाव विश्रामहीनता/हर समय गति करते रहना है। तदनुसार इस चक्र का यन्त्र व तत्त्व रूप षट्कोण हर दिशा में गति को दर्शाता है। इस षटकोण में एक अधोमुखी तथा एक ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण सम्मिलित है जो क्रमश: शक्ति व शैव-मान्यताओं का प्रतीक होने से दोनों का समन्वय (अर्धनारीश्वर) प्रदर्शित भी करता है। साथ ही ऊपर के तीन लोकों व चक्रों और नीचे के तीन लोकों व चक्रों का संतुलन व सामंजस्य भी इंगित करता है जो इस चक्र के प्रधान गुणों में से एक है।

चंचलता, भटकाव, चेष्टा, लोभ, आशा, निराशा, चिंता, कपट, अविवेक, अनुताप, भ्रम (मरीचिका), वितर्क, सक्रियता, दृढ़ता, हठ, तृष्णा, सवंदेनशीलता, उत्साह आदि गुणावगुण इस चक्र की विशेषता हैं। परकाया प्रवेश तथा वायु गमन इसी चक्र के प्रताप से सम्भव हो पाता है। ज्ञान, दक्षता, वाक्पटुता, समर्थता, निपुणता, शास्त्रों का मर्म समझना, काव्यामृत के रसास्वादन में प्रवीणता आदि इसी चक्र पर ध्यान लगाने से प्राप्त होते हैं।

इस चक्र के बीज मन्त्र 'यं' का पुनरावृत्ति के साथ शुद्ध रूप से उच्चारण हृदय को तरंगित कर वहां के समस्त अवरोध दूर करता है, जिससे शक्ति का प्रवाह निर्बाध गति से ऊपर की ओर होने लगता है परिणाम स्वरूप परम प्रभु की आह्लादिनी शक्ति से साधक का साक्षात्कार होता है और उसे सब ओर आनन्द की ही प्रतीति होने लगती है। श्वांसों और प्राणों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्धियों का आरम्भ इस चक्र को जीतने से होने लगता है। समदर्शिता, स्थायित्व/नियंत्रण,

प्रेम, सत्यता, निर्लोभता, दया, क्षमा, करुणा, विवेकशीलता, अहिंसकता आदि गुणों का उदय इस चक्र के शुभ प्रभावों के अन्तर्गत ही आता है।

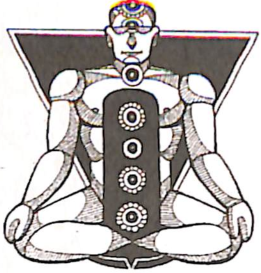
इस अनाहत चक्र में एक लिंग का होना भी माना गया है, जिसे 'बाणलिंग' कहते हैं। इसके ऊपर अति सूक्ष्म छिद्र में हृत्पुण्डरीक कमल का निवास बताया गया है, जहां योगी जन अपने आराध्य देवता का ध्यान करते हैं। गहन प्रेम की स्थिति में योगमार्ग को जाने बिना ही (प्रेमयोग के माध्यम से) अनजाने में प्रेमी इस कमल तक पहुंच जाता है और अपनी प्रेयसी को इस कमल में उसी प्रकार बसा लेता है, जैसे हनुमानजी के हृदयकमल में श्रीराम बसे रहते हैं। तभी तो कोई शायर अनजाने में ही यह पते की बात कह गया है—

तस्वीर-ए-यार हमने अपने दिल में बसा रखी है।
जब जी में आया, जरा गर्दन झुकाई, देख लिया॥

शुद्ध प्रेम की स्थिति में प्रेमी अर्धयोगी हो जाता है, इसमें दो राय नहीं है। क्योंकि योग के प्रधान गुणों व लक्षणों में से एक—तन्मयता/एकाग्रता/ स्वविस्मृति-कन्सन्ट्रेशन उसमें सहज ही आ जाता है। यही गुण एक उच्च कोटि के कलाकार, कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक या संगीतकार में भी होता है। अतः मेरी दृष्टि में वे सभी पथभ्रष्ट/दिशाभ्रष्ट योगी होते हैं, बहरहाल।

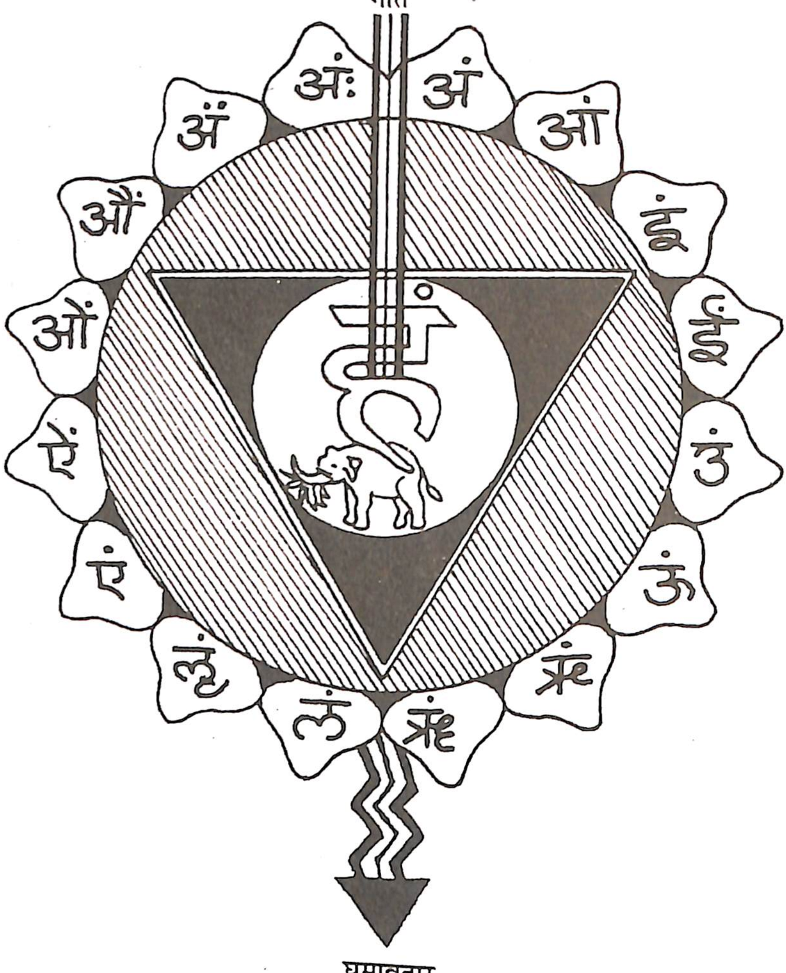
लगे हाथ इस चक्र के बीजवाहन मृग का भी विवेचन करते चलें। चंचलता, तिरछी गति, किसी भी ओर सशंक दौड़ जाना, मृग तृष्णा/मृग मारीचिका, अस्थिरता, विश्रामहीनता, सतर्कता, जागरूकता, उत्साह, संवदेनशीलता और प्रसन्नता में कुलांचें भरना आदि समस्त गुण मृग में विद्यमान हैं जो इस चक्र से सम्बन्धित हैं। अतः इसका बीज वाहन मृग सर्वथा सार्थक है।

❑❑❑



7
विशुद्ध चक्र

इस चक्र का स्थान कण्ठ प्रदेश है। इस चक्र का आकार वृत्त है, जो नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वर्णों (रंगों) वाला है और यह कमल सोलह दलों या पंखुड़ियों से युक्त है जो 'धूम्र/धुंधले प्रकाश से प्रकाशित हैं। इन दलों के वर्ण



विशुद्ध चक्र

(अक्षर)—अ, आ, ई, ई, उ, ऊ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः हैं, जो इसकी कमलदल ध्वनियों को प्रकट करते हैं। बीज ध्वनि को प्रकट करने वाला



देवता—सदाशिव



शक्ति—शाकिनी

इसका तत्त्व बीज 'हं' है। इस तत्त्व बीज की गति हाथी के समान झूम-झूमकर चलने के समान घुमावदार है। अतः इसका बीज वाहन हाथी है, जिस पर प्रकाश देवता विराजते हैं।

पंच महाभूतों में 'आकाश' तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। आकाश की तन्मात्रा 'शब्द' इसका प्रधान ज्ञान या गुण है। इसीलिए इसकी ज्ञानेन्द्रिय कर्ण (कान) और कर्मेंद्रिय वाणी (वाक्शक्ति) है। इस चक्र के अधिपति देवता पंचमुखी सदाशिव अपनी चतुर्भुजा 'शाकिनी' शक्ति के साथ हैं। अतः इस चक्र की शक्ति देवी 'शाकिनी' हैं। इसका यन्त्र गोल व रंगहीन है। ऊपर की ओर गति करने वाले उदानवायु का यह चक्र मुख्य स्थान है। इसका लोक 'जनः' है।

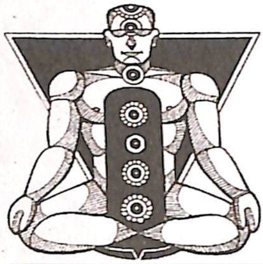
इस चक्र को 'ब्रह्मद्वार' भी कहा जाता है। आयुर्वेदीय व चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से यह कमल शरीर का मर्म है। इसके भेदन से तत्काल मृत्यु हो जाती है। कहते हैं कि विशुद्ध चक्र की साधना से सोलह प्रकार की योगसाधना की शक्ति आ जाती है। इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से मन आकाश की भांति विशुद्ध हो जाता है अतः इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं। वैसे महाज्ञानी, निरोग, निर्विकार, शान्तचित्त, शोकहीन, समद्रष्टा तथा दीर्घजीवी होना इस चक्र पर ध्यान लगाने से सहज प्राप्त होने वाले शुभ फल हैं। त्रिकाल दर्शन की सिद्धि व शक्ति (समय के आर-पार देख सकना) इसी चक्र की साधना के प्रभाव से सम्भव हो पाती है। साधना की दृष्टि से यह चक्र भी विशेष महत्त्व वाला है।

'**शिवस्वरोदय**' के अनुसार—'हं' बीज से अत्यन्त उज्ज्वल, निराकार आकाश तत्त्व के ध्यान से त्रिकाल ज्ञान होता है तथा अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वैसे भी उपनिषदों ने ब्रह्म को आकाश स्वरूप कहा है। आकाश तत्त्व शून्य और अणुविहीन है, अनन्त, सर्वव्यापक और विराट है, निर्विकार, शुद्ध और विभु है। परमात्मा के गुणों में से अधिकांश गुण आकाश में उपस्थित हैं, अतः उसे आत्मस्वरूप या परमात्म स्वरूप कहा ही जा सकता है। वह अनादि और अनन्त है और कर्ता भाव से मुक्त, निष्क्रिय, स्थिर व साक्षी मात्र है। वह बस है। उसके विषय में अन्य कुछ कहा नहीं जा सकता। निराकार है। स्पर्श, गंध व रूप आदि ज्ञान से परे है।

वामकेश्वर तन्त्र विशुद्ध चक्र के समीप 'ब्रह्म ग्रन्थि' का होना मानता है, जबकि अन्य स्थानों पर 'रुद्र ग्रंथि' को विशुद्ध चक्र के समीप माना है। मूलाधार चक्र, मणिपूर चक्र तथा विशुद्ध चक्र के समीप तीन ग्रन्थियां हैं, यह प्रायः सभी योग ग्रन्थों ने स्वीकारा है और उनको '**रुद्रग्रन्थि,**' '**विष्णु ग्रन्थि**' **व** '**ब्रह्मग्रन्थि**' के नाम से पुकारा है। यहां तक प्रायः सभी ग्रन्थ एकमत हैं, किन्तु उनके स्थानों के विषय में विभेद मिलते हैं। एक ग्रन्थ के अनुसार जो स्थान 'रुद्रग्रन्थि' का है, दूसरे ग्रन्थ के अनुसार वह स्थान 'विष्णु ग्रन्थि' का है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थियों के विषय में भी है।

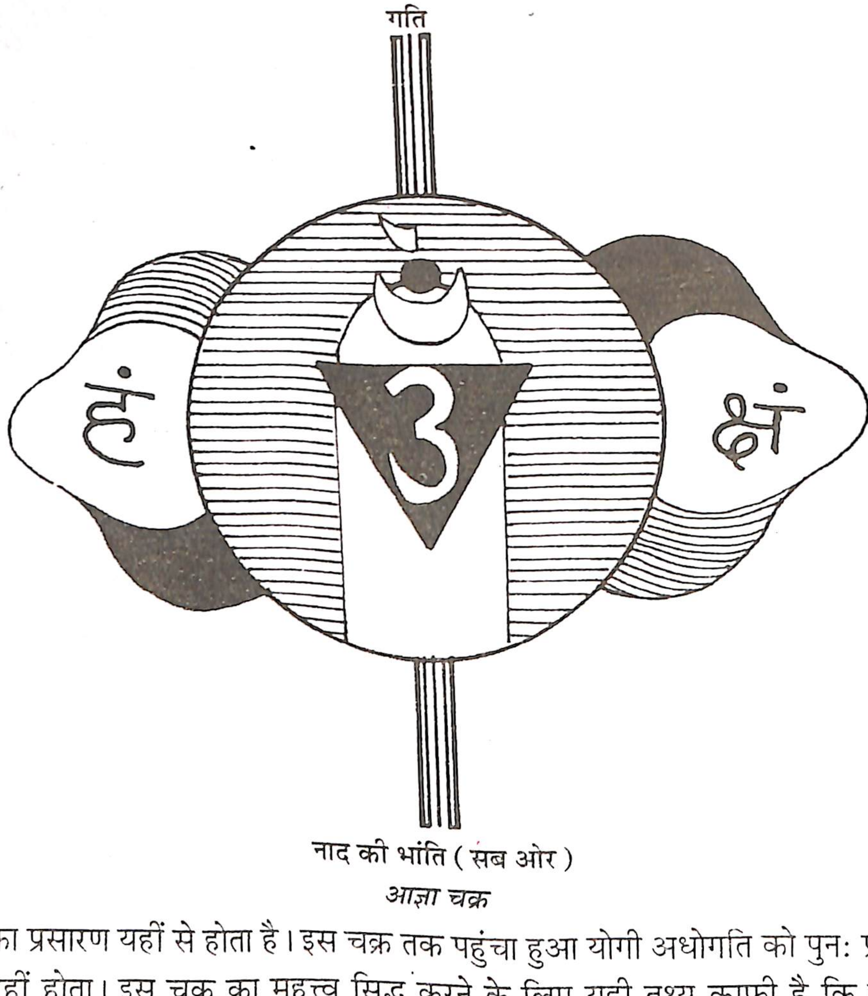
नामकरण एक पृथक विषय है किन्तु यह तथ्य विचारणीय है कि समस्त साधकों व ज्ञानियों ने इन तीन चक्रों के निकट तीन ग्रन्थियों (सूक्ष्म नाड़ियों की एक गांठ सी) को पाया है और महसूस किया है। उनका भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति को आगे बढ़ाने में विशेष बल व साधना का उपयोग करना पड़ा है। यही बात पाठकों के मार्गदर्शन के लिए उपयोगी है। नामकरण के भेद में पड़कर उलझन पैदा होगी। अत: इस विषय पर चर्चा नहीं करेंगे। इस भेद के बहुत से कारण निज अनुभूतियों के आधार पर सम्भव हैं। इसकी छानबीन अनावश्यक, अवरोधक, विशेष श्रम व समय को खपाने वाली और परिणाम में मामूली-सा लाभ देने वाली ही सिद्ध होगी। प्रबुद्ध पाठक अवश्य ही इस तथ्य से सहमत होंगे। अत: हम इस चर्चा को यहीं पर समाप्त कर अगले और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चक्र की ओर आते हैं, जिसका नाम 'आज्ञा चक्र' है।

❑❑❑



8
आज्ञा चक्र

कुछ विद्वान इसे 'अंजना चक्र' भी कह देते हैं। इसका स्थान दोनों भृकुटियों के मध्य-नासिका की संधि के ऐन ऊपर है। यह योग विद्या में साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चक्र है। निराकार ब्रह्म का ध्यान व अन्तर्त्राटक आदि इसी चक्र पर योगीजन किया करते हैं। शरीर के समस्त अवयवों तथा संस्थानों को आज्ञा



आज्ञा चक्र

का प्रसारण यहीं से होता है। इस चक्र तक पहुंचा हुआ योगी अधोगति को पुनः प्राप्त नहीं होता। इस चक्र का महत्त्व सिद्ध करने के लिए यही तथ्य काफी है कि इस चक्र का तत्त्वबीज मंत्र ॐ है, जो परमात्मा या ब्रह्म का प्रणव मंत्र है। क्योंकि **यह अकार, उकार और मकार (अ+उ+म) तीनों की शक्तियों का सम्मिलन है।**



देवता—ज्ञानदाता शिव



शक्ति—हाकिनी

इन्हें ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और संकल्प/इच्छा शक्ति कहा गया है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए इन्हीं तीन शक्तियों की अनिवार्यता होती है। हमें उस कर्म विशेष के विषय में ज्ञान हो, उस कर्म विशेष को करने/संपादन की सामर्थ्य हो और उस कर्म विशेष को करने की हमारी इच्छा/संकल्प हो तभी हम उस कर्म विशेष को कर सकते हैं। क्योंकि यदि हममें करने की सामर्थ्य होगी पर ज्ञान नहीं तो भी हम उस कार्य विशेष को कर नहीं पाएंगे। यदि हमें उस कार्य विशेष का ज्ञान होगा किन्तु क्रिया की सामर्थ्य नहीं, तो भी हम उसे कर नहीं पाएंगे, किन्तु यदि हममें क्रिया और ज्ञान दोनों की सामर्थ्य, किसी कार्य विशेष के सम्बन्ध में हो–तो भी हम उस कार्य को तब तक नहीं करेंगे जब तक हमें उस कार्य को करने की इच्छा न हो। कोई कार्य बिना संकल्प के सम्पन्न नहीं हो सकता।

इस प्रकार ये तीन मूलशक्तियां किसी कार्य के सम्पादन में अथवा व्यवहार में अनिवार्य होती हैं। अपने-अपने स्थान पर तीनों ही शक्तियों का महत्त्व है, तो भी संकल्पशक्ति शेष दोनों शक्तियों के एकत्रित होने के बावजूद संकल्प या इच्छा के अभाव में कार्य का सम्पादन नहीं होता। दोनों ही शक्तियां (ज्ञान व कर्म/क्रिया) अकेली होने पर तो व्यवहार में आती ही नहीं, मिलकर भी व्यवहार में तब तक नहीं आतीं जब तक उनमें संकल्प शक्ति न आ जुड़े। जबकि संकल्प शक्ति अकेली ही यदि बलवती और प्रचण्ड हो तो ज्ञान और क्रिया शक्ति को जुटा लेती है और कार्य सम्पन्न कर लेती है। इसी संकल्पशक्ति के अधिष्ठाता भगवान शिव हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन शक्तियों के अभौतिक देवता हैं। क्योंकि सृष्टि के निर्माण कार्य में मूलतः ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसके अधिष्ठाता देव ब्रह्मा हैं। सृष्टि के संचालन, पोषण व विकास में मूलतः क्रिया आवश्यक होती है, जिसके अधिष्ठाता देव विष्णु हैं, और संहार या विध्वंस के लिए संकल्प की मूल आवश्यकता होती है, जिसके अधिष्ठाता देव शिव हैं। अतः सृष्टि ब्रह्मा के, संचालन/पालन विष्णु के और संहार/लय शिव के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश जहां, ज्ञान, क्रिया व संकल्प शक्ति के अभौतिक देव हैं, वहीं सूर्य, अग्नि और चन्द्र इन्हीं शक्तियों के भौतिक देव हैं जिन्हें हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं। यहां यह भी ध्यान देना चाहिए कि **संहार के देवता होने के कारण श्मशान में शिव प्रतिमा अवश्य स्थापित की जाती है। किन्तु यह 'इकार' की शक्ति (इच्छा शक्ति) का ही प्रताप है जो 'शव' को भी कल्याणकारी 'शिव' में बदल देता है।**

सूर्य प्रकाश का स्रोत है। प्रकाश के अभाव में ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः सूर्य को जगत् गुरु माना जाता है। अग्नि-ऊर्जा व ऊष्मा का स्रोत है। बिना ऊर्जा के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया के लिए शक्ति, शक्ति के लिए ईंधन या ऊर्जा और

ईंधन या ऊर्जा के लिए अग्नि आवश्यक होती है। इसी प्रकार मन के अधिकारी देवता चन्द्रमा हैं। मन ही इच्छा या संकल्प कर सकता है। अत: संकल्पशक्ति के देवता चन्द्रमा ही माने गए हैं। समुद्रों का ज्वार-भाटा चन्द्रमा से नियन्त्रित है। स्त्रियों में रज की मासिक प्रवृत्ति चन्द्रमा से सम्बन्धित है। मानव के भावावेश तथा मन को चन्द्रमा प्रभावित व प्रवृत्त करता है। पूर्णिमा की रात और आमवस की रात में मनुष्य की मनोदशा में विशेष अन्तर पाया जाता है। अपराध शास्त्र के आंकड़ों के अनुसार पूर्णिमा की रात में यौन सम्बन्ध अपराध विशेष रूप से अधिक घटित होते हैं। काव्य व साहित्य में चन्द्रमा, चांदनी, पूनम आदि का विशेष वर्णन चन्द्रमा से पड़ने वाले मानसिक प्रभाव को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करते हैं। यहां तक कि चन्द्रमा की घटने बढ़ने की कला का सम्बन्ध भी बहुत से विद्वान इच्छा शक्ति से जोड़ते हैं। शिव के मस्तक पर चन्द्रमा को सुशोभित दिखाने का एक प्रतीकात्मक कारण यह भी है। बहरहाल।

ॐ प्रणव मंत्र है जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता यानि परमब्रह्म/परमेश्वर का द्योतक है। (ENGLISH में परमात्मा के लिए प्रयुक्त शब्द **GOD** भी वास्तव में इन्हीं तीन शक्तियों का परिचायक है। **GENERATOR, OPERATOR** और **DESTRUCTER** यानि उत्पन्न करने वाला, संचालित करने वाला और विनष्ट करने वाला, और यही ॐ आज्ञा चक्र का बीज मंत्र है, इससे आज्ञा चक्र का महत्त्व स्पष्ट होता है।

आज्ञाचक्र का यन्त्राकार लिंग के समान है, क्योंकि स्वयं इस चक्र को लिंगाकार माना गया है। यह सफेद रंग से प्रकाशित दो दलों/पंखुड़ियों के कमल के समान है। (विज्ञान के अनुसार पिट्युटरि ग्लैण्ड और पायनियल ग्लैण्ड को इन दलों का संकेतक माना जा सकता है।) इन दलों पर हं और क्षं अक्षर/वर्ण हैं जो इस चक्र की कमलदल ध्वनि को प्रकट करते हैं। इस चक्र का तत्त्वबीज ॐ है। अत: ॐकार इसकी बीज ध्वनि है। पंच महाभूतों से परे और सूक्ष्म 'मह' तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। इसका लोक 'तप:' है। इसके तत्त्व बीज़ की गति नाद के समान है अत: इस चक्र का बीज वाहन नाद है, जिस पर लिंगदेवता विराजते हैं। इस चक्र के अधिपति देवता ज्ञान दाता शिव अपनी षड़ानन और चतुर्हस्ता शक्ति 'हाकिनी' के साथ है। अत: इस चक्र की शक्ति देवी 'हाकिनी' हैं।

विभिन्न चक्रों पर ध्यान करने से जो फल साधक को प्राप्त होते हैं, वे सभी दिव्य फल अकेले आज्ञा चक्र पर ही ध्यान करने से प्राप्त होते हैं। त्रिकालदर्शन, दिव्यदर्शन, दूरदर्शन तथा मन्त्र, शक्ति व ईश साक्षात्कार का स्थान भी यही है अत: इसे शिव का तीसरा नेत्र भी कहा गया है। इसी स्थान पर मन व प्राण के स्थिर हो जाने पर सम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता होती है। '**दिव्यचक्षु**' यही आज्ञा चक्र है। इसका तेज सूर्य तथा चन्द्र के सम्मिलित तेज से भी प्रबल कहा गया है। इसी चक्र

के दाएं व बाएं से क्रमशः **गान्धारी** व **हस्तिनी** नाड़ियां नेत्रों तक जाती हैं, जिनका कार्य नेत्रों को प्रकाश देना है। प्रकृति व पुरुष का, जड़ व चेतन का अथवा माया व ब्रह्म का यही संयोग स्थल है। इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना तीनों नाड़ियां यहां मिलती हैं **अतः इसे 'युक्तत्रिवेणी' भी कहा जाता है।** यहीं से नेत्रों का प्रकाश बाहर भीतर के अंगों को देख सकता है। अतः इस चक्र पर ध्यान करने से वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं। मन की चंचलता नष्ट होती है और भ्रान्ति दूर होकर आत्म तत्त्व में स्थिरता आती है।

आज्ञा चक्र में ही गुरु की आज्ञा से शुद्ध ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। **रामायण आदि धर्म ग्रन्थों में वर्णित 'तीर्थराज' (प्रयाग) जहां—गंगा, यमुना व सरस्वती का संगम होता है और जिसमें स्नान करके सारे पाप धुल जाते हैं, वह तीर्थराज वास्तव में यह आज्ञाचक्र ही है।** क्योंकि यहीं इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का संगम होता है। इसी में स्नान करने (तन्मय होने) से मुक्ति होती है। जैसा कि '**ज्ञान संकलिनि तंत्र**' में कहा भी गया है—

इड़ा भागीरिथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषम्णाख्या सरस्वती॥

—(ज्ञान संकलिनि तंत्र)

अर्थात् इड़ा गंगा और पिंगला यमुना नदी है। इन दोनों के मध्य से जाने वाली नाड़ी सुषम्ना को ही सरस्वती कहते हैं। (और आज्ञाचक्र पर ये तीनों नाड़ियां मिलती हैं)।

आज्ञा चक्र कमल की कर्णिका में ही मन का निवास कहा गया है। स्थूल बुद्धि वाले मनुष्य स्थूल हृदय को ही मन समझ लेते हैं। वास्तव में मन तो अतिसूक्ष्म है और एक अणुमात्र है। जैसा कि '**चरक संहिता**' में मन को परिभाषित करते हुए महर्षि चरक ने कहा भी है—'**अणुत्वं चैकत्वं मनः**' (जो अणु है और एक है, वही मन है)।

अकार, उकार व मकार की संयुक्तावस्था में ब्रह्मा, विष्णु व महेश की संयुक्तावस्था का प्रतीक आज्ञाचक्र का बीज मंत्र ॐ बिन्दु, शक्ति व नाद से युक्त है। इन्हीं से तीन शक्तियों—रौडी, ज्येष्ठा और वामा का उत्पन्न होना माना गया है। इस प्रकार नाद शिव और शक्ति के संयोगावस्था का भी प्रतीक सिद्ध होता है।

आज्ञा चक्र में ध्यान से—सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, परकाया प्रवेश, त्रिकालज्ञता तथा स्थिरप्रज्ञता की प्राप्ति समस्त सिद्धियों सहित होती है। साधक मन, कर्म व वचन से मन सहित समस्त इंद्रियां उसके वश में रहती हैं। सर्वज्ञ और तत्त्वदर्शी होने से उत्पादन, पालन व संहार में समर्थ हो जाता है। उसमें आनन्द, विकारहीनता तथा साक्षी भाव का उदय होता है तथा जन्मान्तरों के संस्कारों के समस्त मल व पाप कट कर शुद्धावस्था को प्राप्त होता है।

अतः इस रहस्यपूर्ण आज्ञाचक्र को भली भांति समझ लेना चाहिए। यह

कुण्डलिनी यात्रा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व निर्णायक पड़ाव है। यद्यपि इसके आगे एक प्रमुख चक्र का भेद शेष रह जाता है, तथापि उस चक्र का भेदन करने में फिर विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती, वहां स्वत: प्रवेश हो जाता है। इसीलिए आज्ञा चक्र तक पहुंचा हुआ योगी पुन: अधोगति को प्राप्त नहीं होता। उसकी इच्छा के विरुद्ध कुण्डलिनी वहां से वापस नहीं लौट पाती। इसके अलावा मनश्चक्र और बुद्धिचक्र इसी आज्ञाचक्र के दोनों दलों के संधि स्थल पर रहते हैं। षड्दलात्मक मनश्चक्र को 'मनोनय कोष' भी कहा जाता है। इस संदर्भ में आगे मन सम्बन्धी प्रकरण में विस्तार से पढ़ेंगे। इसी आज्ञा चक्र में प्राण व मन को स्थिर करने से प्राप्त होने वाले दिव्यफल के विषय में कबीरदास जी ने 'कबीर वाणी' में अपने रहस्योत्पादक विशिष्ट अंदाज में कहा है कि—

देह रूपी मकान के द्वार पर झरोखे बन्द करके मैंने प्राण रूपी चोर को पकड़ उसके भागने के समस्त मार्ग बन्द कर दिए। फिर हृदय की कुटिया में उसे बांधकर ॐ के कोड़े से उसे खूब पीटा—जिससे सहज नाद गूंज उठा।

यह आज्ञा चक्र भेदना अत्यंत कठिन है इसलिए **कबीर** ने इसे 'दसवें द्वारे ताला लागी' कहा है। यहीं आकर गुरु का महत्त्व पूर्णत: सिद्ध होता है, क्योंकि बिना गुरु की कृपा/आज्ञा से इस चक्र का ताला नहीं खुलता (इसमें प्रवेश नहीं होता)। तभी तो कबीरदास को कहना पड़ा—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दियो मिलाय॥

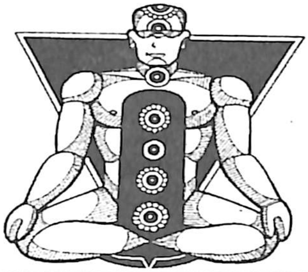
यह आज्ञाचक्र प्रभु का साक्षात्कार स्थल है। गुरु की कृपा व अनुमति से इस चक्र में प्रवेश होता है, तभी ईश्वर साक्षात्कार होता है। इसलिए गुरु द्वारा गोबिन्द मिलने की बात कही है। इस संदर्भ में यदि आज्ञा चक्र को बैकुण्ठ का द्वार मान लें तो उचित ही होगा। ऐसा मानते ही पुराणों में वर्णित कथाओं का मर्म स्पष्ट हो जाएगा। बैकुण्ठ के द्वार पर वज्रकपाट लगे हैं। दो द्वारपाल वहां सतत पहरा देते हैं। बैकुण्ठ की सात ड्योढ़ियां हैं। ब्रह्मा जी के सनकादि मानस पुत्र भागवत पुराण के अनुसार जब विष्णु दर्शन की इच्छा से बैकुण्ठ गए तो छ: ड्योढ़ी चढ़ जाने के बाद सातवीं पर चढ़ने से जय-विजय दोनों द्वारपालों ने उन्हें रोक लिया। **यहां सातों ड्योढ़ियों, सात चक्रों की तथा बैकुण्ठद्वार आज्ञाचक्र का प्रतीक है और बैकुण्ठ के दोनों द्वारपाल इस चक्र के दो दलों के वर्ण 'हं' वर्ण के प्रतीक हैं।** अभिप्राय यही है कि इस चक्र का भेदन ब्रह्माजी के मानस पुत्रों, योग विद्या में प्रवीण सनकादि ऋषियों के लिए भी कठिन है। फिर साधारण योगियों की तो बात ही क्या।

इस प्रकार विभिन्न धर्मग्रन्थों में अन्यत्र भी इस प्रकार के कूट संकेत कथाओं के माध्यम से बिखेरे गए हैं। जैसे **वाल्मीकिय रामायण में नौ द्वारों व सात प्रकोष्ठों वाली अयोध्या नगरी का वर्णन जहां राजा दशरथ अपनी तीन रानियों**

के साथ रहते हैं—वास्तव में शरीर (नौ छिद्र और सात चक्र) **में रहने वाले दसों इंद्रियों के राजा मन** (दशरथ से सिद्ध होता है—दस घोड़ों का रथी या दसों दिशाओं में जाने वाला रथ—दोनों ही प्रकार से इसका आशय 'मन' ही सिद्ध होता है) **का यह कूट संकेत है जिसकी तीन रानियां सात्त्विक, राजसिक व तामसिक बुद्धि ही हैं। मन और बुद्धि के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना ही राम हैं।** चेतना के अभाव में बुद्धि तो जड़ होकर रह सकती है। शरीर भी निष्क्रिय (कोमा में) होकर रह सकता है किन्तु मन नहीं। **अतः राम के बनवास पर केवल दशरथ के ही प्राण छूटते हैं,** अन्य किसी के नहीं। इसी प्रकार के बीसियों उदाहरण हैं जो रामायण या पुराणों में कथाओं के माध्यम से गुप्त संकेतों में पूरा योग-रहस्य समझाते हैं। सभी को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर पुस्तक के पृष्ठों का अतिक्रमण मूल विषय के साथ अन्याय होगा। पाठकों को प्रेरित करने के लिए इतना दिशा-निर्देशन भी बहुत है कि वे धर्मग्रन्थों को मात्र कथाओं के रूप में न लें—उसमें छिपे मर्म को खोजें।

योग या अध्यात्म जैसा गूढ़, रहस्यपूर्ण व शुष्क विषय जन सामान्य या औसत बुद्धि के लोगों का भी कल्याण कर सके अत: उसे कथानक के रूप में जहां तहां पर प्रस्तुत किया गया है और यह निर्देश भी दिए गए हैं कि रामायण बराबर पढ़ें। पुराण बार-बार पढ़ें। बार-बार पढ़ने से ग्रन्थ समझ में आएगा। बार-बार का अभिप्राय यही है कि धीरे-धीरे अभ्यास व बुद्धि की रगड़ संस्कार भी दृढ़ करेगी और प्रकाश भी उत्पन्न करेगी। जब प्रकाश उत्पन्न होगा तो पाठक कथाओं में छिपे मर्म को शनैः शनैः पहचानने लगेगा। अस्तु।

❑❑❑



9
सहस्त्रार चक्र

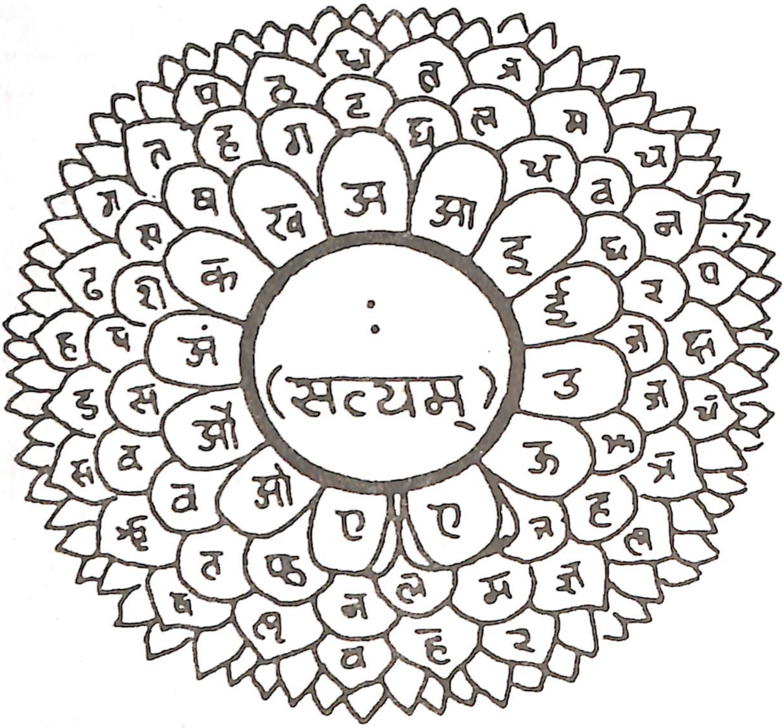
तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर इसका स्थान माना गया है। यह समस्त शक्तियों का केन्द्र है। रंग-बिरंगे प्रकाश से युक्त एक हज़ार दल/पंखुड़ियों वाले कमल के समान यह चक्र है। इसके दलों पर 'अं' से 'क्षं' तक सभी स्वर व



सहस्त्रार चक्र

वर्ण विद्यमान हैं, यही इस चक्र की दल-ध्वनियां हैं। यह तत्त्वातीत है (अत: यहां किसी तत्त्व विशेष का मुख्य स्थान नहीं है)। इस चक्र का तत्त्व बीज 'विसर्ग' है।

'बिन्दु' इसके तत्त्वबीज की गति है अतः 'बिन्दु' ही हसके बीज का वाहन भी है। इस चक्र का लोक 'सत्यम्' है। इस चक्र के अधिपति देवता स्वयं परब्रह्म हैं जो अपनी महाशक्ति के साथ हैं। इस चक्र का यन्त्राकार पूर्ण चन्द्राकार तथा शुभ्रवर्ण का है। 'अमर' या 'मुक्त' होना ही इस चक्र का फल है। यह परमज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है।



यहीं समस्त शरीर का संचालन केन्द्र मस्तिष्क है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से 'स्मृति क्षेत्र' यहीं है। मृत्युपरांत की जाने की '**कपाल क्रिया**' में यही स्थान तोड़ा जाता है, ताकि स्मृतियों का सर्वथा लोप हो सके और अगले जन्म में पूर्व जन्म की स्मृति न बनी रहे। ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है।

योग विद्या में 'षटचक्र भेदन' की परम्परा है। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन के प्रतिनिधि छहः चक्रों को भेद कर कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रार तक लाया जाता है, किन्तु उसे भेदे बिना पुनः वापस मूलाधार में ले जाया जाता है। इसका कारण यह कि योगी जन प्राण छोड़ते समय ब्रह्मरंध्र व सहस्रार चक्र का भेदन कर मुक्त होते हैं। अतः सातवें चक्र का भेदन अन्त समय में होता है। छह चक्रों को भेदने और पुनः वापस लौटने में कुण्डलिनी के मार्ग में कुल 100 कमल दल पड़ते हैं। (मूलाधार के चार, स्वाधिष्ठान के छः, मणिपूर के दस, अनाहत के बारह, विशुद्ध के सोलह तथा आज्ञा चक्र के दो—अर्थात्—4+6+10+12+16+2=50 वापसी में यही 50 दल फिर से, अर्थात् 50+50=100) इनका दस गुना करने पर

हजार होता है। यही सहस्रार के दलों का रहस्य है।

समस्त शक्तियों का केन्द्र होने के नाते भी सहस्रार चक्र के कमल को हजार दलों से युक्त होना तर्कसंगत है। इसी सहस्रार चक्र में सदैव अमृत स्राव होता है, जिसका पान योग द्वारा यहां तक लाई गई कुण्डलिनी करती है। जिस समय सतत होते रहने वाला यह अमृत स्राव बन्द हो जाता है, उस समय शरीर नष्ट हो जाता है, मृत्यु हो जाती है। यही सहस्रार चक्र पराप्रकृति व परापुरुष या परब्रह्म का स्थान है। यहीं कुण्डलिनी का पराशिव से भेदात्मक मिलन होता है। अतः योग मार्ग का चरम लक्ष्य होने से यह चक्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।



सहस्रार में शिव एवं शक्ति का मिलन

आज्ञाचक्र से ऊपर महानाद है, जिसके ऊपर शंखिनी नामक नाड़ी के अग्रभाग के शून्य स्थान में ब्रह्मरंध्र है। इस ब्रह्मरंध्र में सहस्रार चक्र का कमल अधोमुख

अवस्था में स्थित है। इसलिए बहुत से विद्वान सहस्रार को ही ब्रह्मरंध्र भी कहते हैं। यहीं प्राण व मन के स्थिर हो जाने पर समस्त वृत्तियों को निरोध रूपा असम्प्रज्ञात समाधि सम्भव हो पाती है। इसी सहस्रार के मध्य स्थित चन्द्रमण्डल में 'हंस' अथवा अंतरात्मा का वास है। यही आत्मसाक्षात्कार का स्थान है।

सहस्रार चक्र में ध्यान करने से पुनर्जन्म नहीं होता, आत्मसाक्षात्कार होता है, परमानन्द, मोक्ष अथवा अमरत्व की प्राप्ति होती है। साधक ऋद्धि, सिद्धि, प्रभाव व चमत्कार के अवस्था से कहीं ऊपर उठ जाता है।

बहुत से योग ग्रन्थों तथा अन्य तन्त्रों व उपनिषदों आदि में 8 चक्रों अथवा 9 चक्रों का भी वर्णन हुआ है। बहुत से स्थानों पर शरीरस्थ चक्रों की संख्या नौ से भी अधिक मानी गई है। परन्तु वे इन सात चक्रों के ही उपभेद अथवा इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। यही सात चक्र प्रमुख चक्र हैं, जो विशेष महत्त्व व प्रभाव वाले हैं। इस तथ्य से सभी सहमत हैं। इन्हीं सात चक्रों में से पहले छः को कुण्डलिनी द्वारा भेदा जाता है। अतः योग प्रणाली में 'षट्चक्र भेदन' के ही निर्देश मिलते हैं। इससे अधिक के नहीं।

इस प्रकार शरीरस्थ सात चक्रों का विवरण पूर्ण हुआ। अब हम कुण्डलिनी के विषय में चर्चा करेंगे तथा नाड़ियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

किन्तु उससे पूर्व कुछ तथ्यों को स्पष्ट समझ लेने के लिए नीचे दी हुई तालिकाएं देख लें। इससे अब तक हुई बातों को और आगे होने वाली बातों को भी सहजतापूर्वक समझा जा सकेगा, साथ ही इन्हें स्मरण रखने में भी सुभीता होगा।

पंचमहाभूत

	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
तन्मात्राएं (गुण)	गन्ध	रस	तेज/रूप	स्पर्श	शब्द
ज्ञानेन्द्रियां	नासिका	रसना	नेत्र	त्वचा	काज
कर्मेन्द्रियां	गुदा	उपस्थ	पैर	हाथ	वाणी/वाक्शक्ति

पंचमहाभूत

पंच महाभूत या पंचतत्त्व जिनके सम्मिलन से समस्त सृष्टि एवं शरीर निर्मित होता है। शरीर में इन पंच महाभूतों की आवश्यकता स्थूल/भौतिक शरीर में पड़ती है। सूक्ष्म/अभौतिक शरीर में मन, बुद्धि व अहंकार और भी जुड़ जाते हैं। इनका सबके साथ प्राण व आत्मा का संयोग ही जीवन माना गया है। संस्कार या स्वभाव के अनुसार इनके साथ सत्, रज व तम तीन गुणों का संयोग भी हो जाता है। इन पंच महाभूतों में सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है, फिर क्रमशः वायु, अग्नि, जल

व पृथ्वी की। इसी अनुपात में ये सूक्ष्म से स्थूल तथा हल्के से भारी होते चले जाते हैं। आकाश की भी उत्पत्ति अहं से और अहं की 'मह्' तत्त्व से बताई गई है।

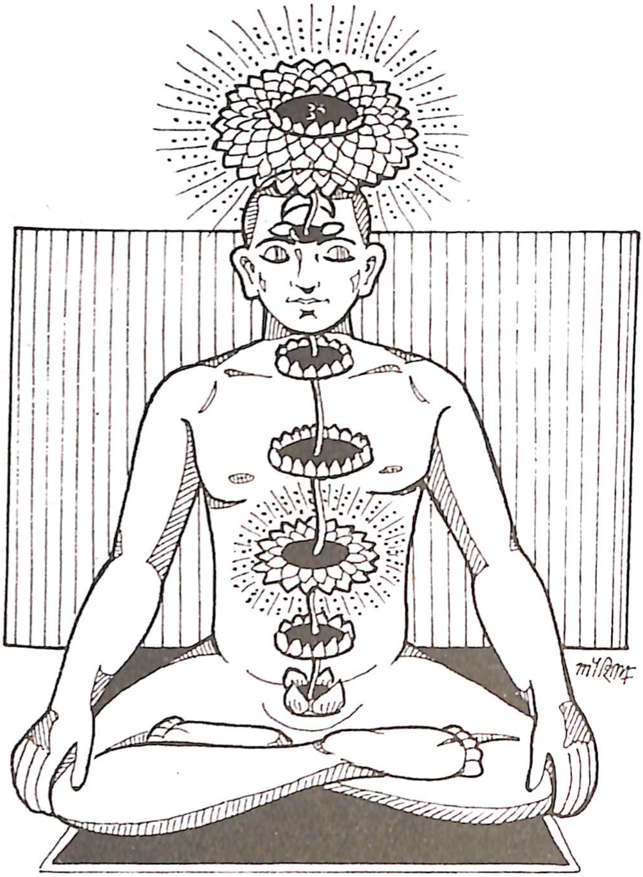
वायु (मरुत)

49 प्रकार की मानी गई है, जिनमें दस मुख्य हैं। दस में भी पांच प्रमुख हैं। उनमें भी एक का जीवन की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। इन सबके अपने-अपने कर्म व स्वभाव हैं और अपनी अपनी गतियां हैं। संक्षेप में इन्हें भी जान लें।

कुछ प्रमुख वायु

	प्राणवायु	अपानवायु	समानवायु	व्यानवायु	उदानवायु
कार्य	श्वांस को अंदर व बाहर ले जाना खाए अन्न जल को पचाना व अलग करना अन्न को शौच में पानी को पसीने व मूत्र में, रसादि को वीर्य में बदलना	गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र व अंडकोष से वीर्य निकालना, गर्भ को नीचे ले जाना (प्रसव) घुटने, जांघ आदि के काम इसी के अधीन हैं।	पचे हुए रस आदि को देह के सब अंगों व नाड़ियों में समान रूप से वितरित करना	सारी स्थूल व सूक्ष्म नाड़ियों में रुधिर का संचार करना	शरीर को उठाए रखना व्यष्टि प्राण व समष्टि प्राण में संबंध बनाए रखना मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से निकालना सूक्ष्म शरीर के गुण, कर्म, वासना संस्कार आदि को गर्भ में प्रविष्ट कराना। योगियों द्वारा शरीर स्थानांतरण या आकाश में भ्रमण इसी के कारण होता है।
स्थान क्षेत्र	हृदय से लेकर नाक तक। शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान रहता है।	नाभि से लेकर तलवे तक नीचे की ओर गति करता है।	नाभि से हृदय तक शरीर के मध्य भाग में स्थित।	उपस्थ से ऊपर (पेडू) तक। वैसे सारे शरीर में व्याप्त	कंठ से सिर तक शरीर के ऊपरी भाग में स्थित।
चक्रों से संबंध या मुख्य निवास	प्राणवायु	मूलाधार	मणिपूरक	स्वाधिष्ठान	विशुद्ध चक्र

इनके अतिरिक्त पांच अन्य वायु प्रमुख मानी गई हैं जो इन्हीं की सहयोगिनी होने से अतिप्रमुख उपर्युक्त पांच की गिनती में नहीं आतीं। वे इस प्रकार हैं—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय।



सहस्त्रार में अमृतपान की क्रिया

नागवायु—डकार, छींक आदि के लिए उत्तरदायी।

कूर्मवाय—संकोचनीय वायु/अधोवायु/पाद आदि के कारक

कृकरवायु—क्षुधा, तृष्णा आदि के लिए उत्तरदायी।

देवदत्तवायु—निद्रा, तन्द्रा, जम्हाई आदि की कारक।

धनंजयवायु—पोषणादि कार्य सम्पन्न करती है।

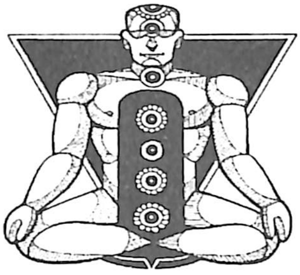
ये पांचों वायु—प्राणवायु, अपानवायु, समानवायु, उदानवायु व व्यानवायु के अन्तर्गत आती हैं अतः अत्यंत प्रमुख नहीं हैं।

जैसा कि नीचे लिखे श्लोक से स्पष्ट है—

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः॥

(हृदय में प्राणवायु, गुह्य प्रदेश में अपानवायु, नाभिमंडल में समान वायु, कण्ठ में उदानवायु और सारे शरीर में व्यान वायु व्याप्त है। यह पांच प्रधान वायु हैं।)

❑❑❑



10 नाड़ियां एवं कुण्डलिनी

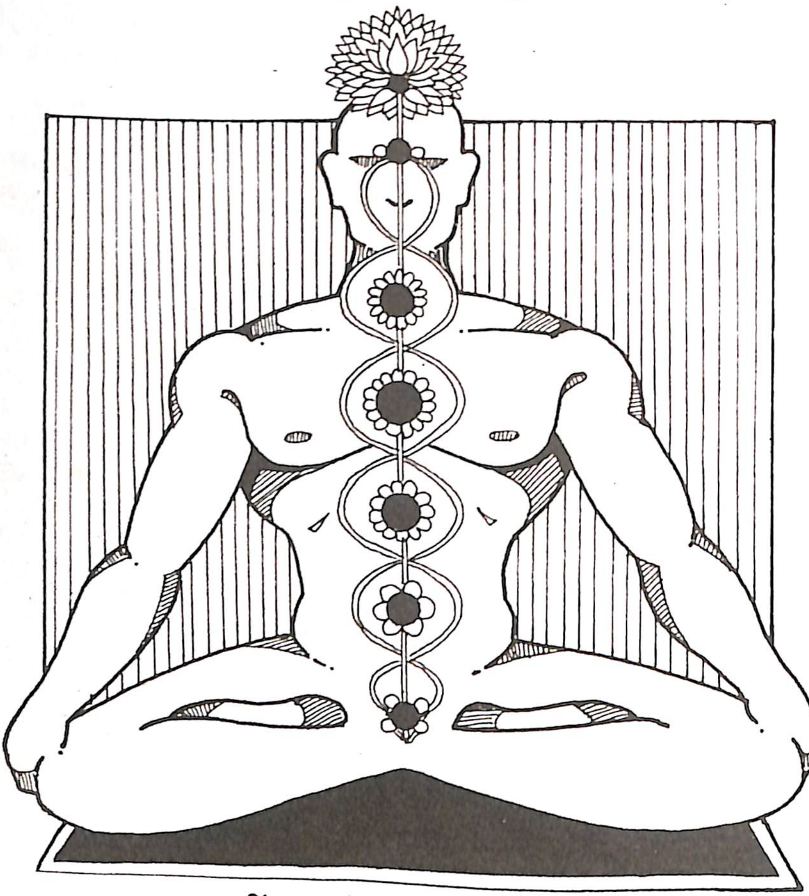
प्राणवाहक प्रमुख नाड़ियां

मनुष्य के शरीर में 72000 नाड़ियों का होना माना गया है। बहुत से ग्रन्थों में असंख्य नाड़ियों का भी जिक्र आता है। (जब संख्या बहुत अधिक हो, तो उसकी महत्ता को दर्शाने के लिए भी असंख्य कह दिया जाता है। अत: यह कोई ऐसा विरोधाभास नहीं है)। **इन नाड़ियों में 15 प्राणवाहक नाड़ियों को प्रमुख माना गया है।** इन पन्द्रह नाड़ियों को **क्रमशः सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, चित्रा और शंखिनी** नाम से जाना जाता है।

इन पन्द्रह में से भी पहली तीन—सुषम्ना इड़ा व पिंगला का विशेष महत्त्व है। योग विद्या तथा कुण्डलिनी जागरण के सम्बन्ध में भी यही तीन नाड़ियां विशेष महत्त्व की हैं। इन्हीं तीन नाड़ियों के लिए 'त्रिवेणी' शब्द का प्रयोग ग्रन्थों में हुआ है। मूलाधार से अलग होकर चलती ये तीनों नाड़ियां आज्ञा चक्र में मिलती हैं। **अतः मूलाधार को 'मुक्त त्रिवेणी' और आज्ञाचक्र को 'युक्तत्रिवेणी' कहा गया है।** जैसा कि चक्र प्रकरण में बता आए हैं, 'संगम', 'तीर्थराज', 'त्रिवेणी' आदि शब्दों का मर्म वास्तव में क्या है। **इसी 'युक्तत्रिवेणी' (आज्ञाचक्र) को 'त्रिकूट' भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसी को 'चित्रकूट' भी कहते हैं जहां राम सीता सहित वास करते हैं।** यानि ब्रह्म और माया या प्रकृति व पुरुष साथ-साथ रहते हैं। बहरहाल...उपर्युक्त तथ्यों को इन तीनों नाड़ियों का महत्त्व सिद्ध करने के लिए पुन: दोहराया गया है।

इन तीन प्रमुख नाड़ियों में भी सुषुम्ना अति अधिक महत्त्व वाली है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर इसी नाड़ी में गति करती है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नली के समान गुदा के निकट से मेरुदण्ड से होती हुई ऊपर सहस्रार तक चली गई है। इसके प्रारम्भ स्थान से ही इसकी बाएं ओर से इड़ा तथा दाईं ओर से पिंगला नाड़ी भी ऊपर गई है किन्तु ये दोनों नाड़ियां नथुनों पर आकर समाप्त हो जाती हैं। (**स्वर विज्ञान** की दृष्टि से ये दोनों नाड़ियां महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणायाम प्रकरण में 'स्वर विज्ञान' की चर्चा करेंगे)। क़िन्तु सुषम्ना ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ये तीनों नाड़ियां आज्ञाचक्र पर मिलती हैं, अत: **आज्ञाचक्र को 'तीसरा नेत्र' भी कहा गया है।**

सुषुम्ना नाड़ी स्वयं में एक अति सूक्ष्म नली के समान है। इस नली (सुषुम्ना) के भीतर एक और अत्यंत सूक्ष्म नली के समान नाड़ी है जो '**वज्र नाड़ी**' कही गई है। 'वज्र' नाड़ी में भी एक और नाड़ी जो 'वज्रनाड़ी' से भी सूक्ष्मतर है, गुजरती है जो '**चित्रणी**' नाड़ी के नाम से जानी जाती है। 'चित्रणी' नाड़ी के भीतर से भी मकड़ी के जाले से भी सूक्ष्म '**ब्रह्मनाड़ी**' गुजरती है। **यही कुण्डलिनी शक्ति का वास्तविक मार्ग है।** इन अति सूक्ष्म माड़ियों का ज्ञान योगियों को ही सम्भव है। आधुनिक विज्ञान इस विषय में पंगु व दीन है। ये नाड़ियां सत्त्व प्रधान, प्रकाशमय व अद्भुत शक्तियों वाली हैं तथा सूक्ष्म शरीर व सूक्ष्म प्राण का स्थान है।



इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों की स्थिति

ये सभी नाड़ियां मेरुदण्ड से सम्बन्धित हैं। जिन विशेष स्थानों पर अन्य नाड़ियां इनसे मिलती हैं वे 'जंक्शन' ही चक्र कहे जाते हैं जो कि शरीरस्थ 'पॉवर स्टेशन' हैं, जैसा कि पहले बता आए हैं।

क्योंकि सबका सम्बन्ध मेरुदण्ड से है और सुषुम्ना नाड़ी मेरुदंड के भीतर से गुजरती है। सुषुम्ना के भीतर से वज्र, वज्र के भीतर से चित्रणी और चित्रणी के भीतर से ब्रह्मनाड़ी गुज़रती है। यह ब्रह्मनाड़ी कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह का मार्ग है इस

तथ्य से पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि कुण्डलिनी के ज़ागरण व संचालन में मेरुदण्ड का सीधा रखना कितना अधिक आवश्यक है। सीधे मेरुदण्ड में ही इन समस्त नाड़ियों के सीधे व तने रहने से कुण्डलिनी शक्ति का प्रवाह सरलता, सुगमता व सहजता से निरावरोध हो सकता है। मेरुदण्ड का झुके रहना प्रवाह मार्ग की सरलता में अवरोधक सिद्ध होता है।

पाठक जानते हैं कि दो बिन्दुओं को मिलाने वाली सबसे कम दूरी सरल रेखा होती है। अतः मेरुदण्ड सीधा रखकर विधिवत् आसन पर बैठने से कुण्डलिनी अपेक्षाकृत सरलता से ही नहीं, बल्कि तीव्रता और शीघ्रता से अपनी यात्रा कर पाती है। इसके अलावा मूलबन्ध आदिबन्धों का लगा होना भी इस काल में आवश्यक होता है (इस विषय में हम कुण्डलिनी जागरण काल में रखी जाने वाली सावधानियों के अन्तर्गत आगे चर्चा करेंगे) अन्यथा बहुत-सी हानियां सम्भावित होती हैं। अतः जैसा कि कुछ अल्पज्ञों का मत है कि जैसे मर्जी, जब मर्जी, जहां मर्जी बैठकर, लेटकर, खड़े होकर, अधलेटे होकर ध्यान करें और कुण्डलिनी को जागृत करें— यह 'सहज योग' है, यह सरासर भ्रामक, मिथ्या व अज्ञानपूर्ण है। अनुशासन, विधान तथा नियमों का बंधन न रहने से यह भले ही औसत बुद्धि वाले लोगों को सरल, सहज व सुखद मालूम पड़े किन्तु कल्याणकारक व सफलदायक नहीं हो सकंता, यह निश्चित है। प्रबुद्ध पाठक समझ सकते हैं कि मालूम पड़ने और वास्तव में होने में बहुत अंतर होता है।

जिस समय श्मशान में लकड़ियां या धर्मकांटे पर ट्रकों में लदा माल तोला जाता है, तब एक-दो किलो इधर-उधर हो जाना कोई मायने नहीं रखता। किन्तु जब पंसारी की दुकान पर चीनी, दाल, चावल आदि तोला जाता है तब एक-दो किलो का अंतर बहुत मायने रखता है। अलबत्ता 5-10 ग्राम का अंतर तब कोई मायने नहीं रखता। लेकिन जब सुनार के पास सोना या जवाहरात तुलवाया जाता है, तब 5-10 ग्राम का अन्तर बहुत मायने रखता है। उस समय तो माशे, तोले, रत्ती का भी अन्तर मायने रखता है। इसलिए उनकी तराजू बिल्कुल 'एक्यूरेट' व शीशे के बॉक्स में रहती है, ताकि हवा से भी ज़रा-सी न हिल जाए।

दाल सब्जी बनाते समय, बर्तन में डाला गया पानी दो चार चम्मच कम ज्यादा हो जाए तो अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु दवाई बनाते समय पानी उचित अनुपात से कम ज्यादा हो तो दिक्कत हो सकती है। इसके विपरीत प्रयोगशाला में परीक्षण के समय किसी रसायन या विलयन में कोई खतरनाक, घातक या अतिसंवेदनशील अम्ल मिलाते समय नियत अनुपात से बूंद भर भी इधर-उधर हो जाना किसी अप्रिय घटना को जन्म दे सकता है। इसी प्रकार अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह तथ्य साफ-साफ समझा जा सके कि जितनी माईन्यूट (सूक्ष्म) कैलकुलेशन (गणना) में हम जाएंगे, उतनी ही हमें एक्यूरेसी (प्रतिपन्नता)की आवश्यकता

होती है। जैसे मर्जी, जब मर्जी, जहां मर्जी, जितना मर्जी का सिद्धांत वहां लागू नहीं हो सकता क्योंकि वह न सिर्फ हमें सही परिणाम पर नहीं पहुंचने देगा बल्कि हमारे व औरों के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है।

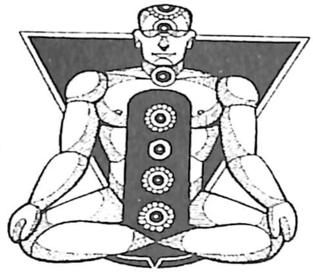
रस्सी को लापरवाही से छुआ जा सकता है, बिजली के तार को नहीं और नंगे बिजली के तार को (जिस पर रबर का सुरक्षा खोल न चढ़ा हुआ हो) छूने के लिए तो और भी सावधानी दरकार होती है। अतः सूक्ष्म किन्तु शक्तिशाली व चमत्कारी प्रभाव वाली उपलब्धियों को पाने के लिए वैसी ही सधी हुई, सही दिशा में, नियमपूर्वक, निरंतर मेहनत की ज़रूरत होती है।

बिना निरंतर अभ्यास के, बिना सावधानी रखे, बिना नियमों का बंधन स्वीकार किए हम सुरक्षित रूप से साईकिल तक चलाना नहीं सीख सकते, कुण्डलिनी शक्ति चालन की बात तो बहुत दूर की बात है। जब ऊपर चढ़ना होता है, जब पतली रस्सी पर चलना होता है, तब आंखें खोलकर, पूरी सावधानी बरत कर और एक-एक कदम फूंक-फूंक कर रखना होता है। अभ्यास द्वारा दक्षता प्राप्त हो जाने के बाद फिर भले ही आंखें बंद भी रखें तो अन्तर नहीं पड़ता। हां, अगर नीचे गिरना चाहें और छत की मुंडेर ऊंची न हो, फिर भले ही आंखें बंद कर, जब मर्जी, जहां मर्जी, जैसे मर्जी व जितना मर्जी चलें बड़ी सहजता से नीचे आ गिरेंगे। अतः योग के नाम पर 'सहजता' का दुमछल्ला लगाने वाले ठगों से तो पाठकों को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

यद्यपि हम इस चर्चा में मूल विषय से भटक रहे हैं, तथापि पाठकों के मार्गदर्शन के लिए यह ज़रूरी समझ रहा हूं ताकि पाठक भ्रमित न हों, ठगें न जाएं और अन्त में असफलता हाथ आने पर योग विद्या को ही अनास्था की दृष्टि से न देखने लगें। गुरु बनने की योग्यता वाला योगी कभी दुकान खोलकर नहीं बैठता। जो दुकान खोलकर बैठा है वह तो व्यापारी है। वह भला ज्ञान को, योग को क्या जाने? जो सामूहिक रूप से आए हुए दर्शनार्थियों पर एक साथ कुण्डलिनी जागरण कराने का सब्जबाग दिखाते हैं, जो सामूहिक 'शक्तिपात' की बात करते हैं, उनके बारे में संदेह होता है कि वे कुण्डलिनी जागरण या शक्तिपात का अर्थ भी समझते हैं या नहीं। कुण्डलिनी जागरण न हुआ, गोया मूंगफली बांटना हो गया। उससे भी अधिक अफ़सोस उन दर्शनार्थियों की बुद्धि व आस्था पर होता है, जो ऐसे धर्मगुरुओं के चक्कर में फंसकर वहां पहुंच जाते हैं, और उन लम्पटों के पैरों में नाक रगड़ना अपना सौभाग्य मानते हैं। इसका एकमात्र कारण अज्ञान है। अतः सावधान।

मंजिल पे पहुंचना है तो मंजिल शनास बन।
वरना ये रहनुमा तुझे दरदर फिराएंगे।।

❑❑



11
क्या है कुण्डलिनी?

अब तक जो बराबर चर्चा में रही वह कुण्डलिनी शक्ति वास्तव में है क्या? यह प्रश्न पाठकों को स्वाभाविक रूप से अब तक परेशान कर रहा होगा। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य की देह में सोया हुआ वह चमत्कारिक करंट, ऊर्जा अथवा शक्ति है जिसके अभाव में शरीर के सभी चक्र (पॉवर स्टेशन) निष्क्रिय रहते हैं। वे चक्र जो सक्रिय हो जाने पर अनेक चमत्कारिक प्रभाव व सिद्धियां देने वाले हैं। इस कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के विभिन्न उपायों में 'योग' भी एक उपाय है।

सशैलवनधात्रीणं यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथा धारोहि कुंडली॥

अर्थात्—जिस प्रकार पर्वत, वन, सागर आदि को धारण करने वाली पृथ्वी का आधार अनन्त नाग हैं, उसी प्रकार शरीर की समस्त गति, क्रिया शक्ति व समस्त योगतन्त्रों का आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

ऋग्वेद में कही गई एक ऋचा वास्तव में कुण्डलिनी की ही महिमा दर्शाती है, जिसका अर्थ है—**'मैं जिसे जो चाहती हूं, बना देती हूं। सम्राट, योगी, ऋषि (मंत्रदृष्टा/मंत्र का साक्षात्कार करने वाला)** और मेधावी बनाती हूं।'

कुण्डलिनी शक्ति को 'कॉसमिक एनर्जी,' 'सर्पेंट-पॉवर' अथवा विश्व व्यापिनी विद्युत शक्ति भी कहते हैं। यह एक अग्निमय गुप्त शक्ति है अतः इसे 'सर्पेंट फायर' भी कहा गया है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार **प्रकाश की सबसे तीव्र गति—1,85,000 मील प्रति सेकंड है। किन्तु मर्मज्ञों के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति प्रकाश से भी तीव्र गति—3,45,000 मील प्रति सेकंड से चलती है।**

कुण्डलिनी शक्ति का नाम 'कुण्डलिनी' होने का कारण इसका साढ़े तीन लपेटे खाया हुआ कुटिल आकार है। सर्प के कुण्डली मारे रहने के समान ही यह शक्ति भी कुण्डली मारे मूलाधार में पड़ी रहती है।

पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुद-मेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डलिनी सदा॥

संवेष्टा सकला नाड़ीः सार्ध-त्रि-कुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छः सुषुम्णा-विवरे स्थिता॥

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि गुह्य प्रदेश में गुदा से दो अंगुल पहले व लिंगमूल से दो अंगुल पहले, बीच में (चार अंगुल विस्तार वाले मूलाधार में) मूलाधार के कंद में दक्षिणावृत्त से साढ़े तीन फेरे लगाए हुए, नीचे को मुख किए सर्पिणी के सदृश अपनी ही पूंछ को अपने मुख में दिए हुए सुषुम्ना के विवर में कुण्डलिनी शक्ति का वास है। यह सभी नाड़ियों को स्वयं में लपेटे हुए है।

सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जितनी भी शक्तियां विद्यमान हैं, उन सबको ईश्वर ने मनुष्य शरीर रूपी पिंड में एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। यही शक्ति कुण्डलिनी है। गुदा व लिंग के बीच में स्थित योनिमंडल/कंद में यह शक्ति वास करती है। सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण साधारणावस्था में बन्द रहता है अतः यह शक्ति प्रवाह में नहीं रहती, सुप्त या अविकसित अवस्था में रहती है। इस सुषुम्ना नाड़ी के दाएं-बाएं जाने वाली पिंगला व इड़ा नाड़ियों में प्राणशक्ति निरंतर प्रवाह में रहती है। योग आदि उपायों द्वारा सुषुम्ना का मुख त्रिकोण खोलकर कुण्डलिनी का प्रवाह ऊपर की ओर किया जाता है। यह अतिसूक्ष्म व दिव्य शक्ति वाली विद्युत ही कुण्डलिनी है, जो समस्त शक्तियों व चमत्कारों की आधारभूता है। ध्वनि तथा वर्ण कुण्डलिनी शक्ति के ही सार रूप हैं अतः कुण्डलिनी विकास के ही मन्त्र हैं।

ध्वनि की कारणभूता कुण्डलिनी से होने वाली अव्यक्त ध्वनि का सूक्ष्म रूप ही वाणी का '**पश्यन्ति**' रूप है। यही बाद में प्रकटावस्था में '**बैखरी**' रूप को प्राप्त होती है। 'मध्यमा' वाणि के बीच की स्थिति और '**परा**' पश्यन्ति से पूर्व की स्थिति है। इसी से **मंत्र (जो मनन करने से त्राण करते हैं)** उत्पन्न होते हैं। इसीलिए शब्द या अक्षर को भी ब्रह्म कहा गया है। जैसा कि 'वृहद् गन्धर्व तन्त्र' में कहा भी गया है—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देवरूपताम।
मन्त्रोच्चारण मात्रेण देवरूपं प्रजायते॥

अर्थात्—'सुनो देवि! मैं बीजों की देवरूपता का प्रतिपादन करता हूं। मन्त्रों के उच्चारण मात्र से (साधक को) देवता का (तत्संबधी)सारूप्य प्राप्त हो जाता है।' (क्योंकि प्रत्येक अक्षर में देवता के विशिष्ट रूप की स्थिति होती है)।

इस तथ्य को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें कुछ समय के लिए मूल विषय से हटना होगा।

'आकार' (अ) पूरी वर्णमाला का आरम्भ है। न सिर्फ आरम्भ बल्कि अन्त भी है और 'अ' से 'ज्ञ' तक सम्पूर्ण वर्णों के साथ लिप्त है। आप किसी भी वर्ण का उच्चारण करें, उसके अंत में 'अ' की FEELING अवश्य आएगी—ठीक वैसे ही—जैसे सृष्टि ईश्वर से आरम्भ होकर अन्ततः ईश्वर में ही लय होती है।

इसके बावजूद सृष्टि में जो कुछ है और जो कुछ नहीं भी है, सभी में ईश्वर व्याप्त होता है, फिर भी सृष्टि से अलग होता है। जैसे किसी भी वर्ण के उच्चारण में 'अ' की फीलिंग प्रारम्भ या अन्त में अवश्य रहती है। बिना 'अ' की फीलिंग को जोड़े कोई भी वर्ण बोला नहीं जा सकता। इसके बावजूद स्वयं 'अ' (अकार) वर्ण वहां उपस्थित नहीं होता। उदाहरण के तौर पर 'क' का उच्चारण करने में 'क' के साथ 'अ' की फीलिंग (क्+अ) स्पष्ट होती है। किन्तु स्थूल रूप से तो वहां 'क' वर्ण होता है, 'अ' नहीं। (इसी प्रकार अन्य वर्णों का भी उच्चारण करके पाठक स्वयं शोध करें।)

'अकार' (अ) को अनुत्तर या निरुत्तर इसीलिए कहा जाता है, कि इसके बाद कोई तत्त्व/वर्ण नहीं बचता, जो इसमें लय न हो। अर्थात् मातृका (वर्णमाला) की सृष्टि 'अ' (अकार) से ही होती है और पूरी मातृका का संहार भी 'अ' (अकार) में ही होता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अनुत्तर या निरुत्तर इसी आधार पर कहा जाता है। इसीलिए *गीता* में भी भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है— **'अक्षराणामकारोऽस्मि'**—मैं अक्षरों में 'अकार' हूं।

(अध्याय—10, श्लोक 33)

इसीलिए **'अक्षर ब्रह्म'** या **'शब्द ब्रह्म'** कहा गया। संगीत एक कला है। एक साधना है। एक पूजा है। संगीत को ध्यान (कन्सन्ट्रेशन) तथा ईश्वर साक्षात्कार का एक प्रबल माध्यम माना गया है। ऐसा है भी (यहां हम पॉप संगीत की बात नहीं कर रहे, वह शोर मात्र है। उसमें रस व विभोरता नहीं उच्छृंखलता व अस्थिरता होती है। क्लासिकल म्युज़िक के श्रोताओं की गर्दन झूमती है, नेत्र बन्द हो जाते हैं। यह तन्मयता की, गम्भीरता से रसास्वदन की स्थिति होती है। इससे सिद्ध होता है कि श्रोता का मन, बुद्धि व इन्द्रियां वहीं पर स्थिर हो रहती हैं। किन्तु वैस्टर्न म्यूज़िक/पॉप आदि में श्रोता के हाथ पैर व सम्पूर्ण शरीर हिलने लगता है, नेत्र फट पड़ते हैं। यह उच्छृंखलता, बेचैनी व अशांति की स्थिति को दर्शाता है। यह एक मोटा उदाहरण है, जो आराम से समझा जा सकता है।) क्योंकि संगीत में संगति है। क्योंकि संगीत में सुर हैं। (सुर और शोर में बहुत अन्तर होता है)। क्योंकि संगीत में तल्लीनता है। क्योंकि संगीत में रस और आनन्द है। क्योंकि संगीत में शब्द है और शब्द से उत्पन्न होने वाली तरंगें हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि 'वाईब्रेशन्स' (तरंगों) से उत्पन्न हुई है। इस सत्य को आधुनिक विज्ञान भी मानता है। भारतीय मत भी नाद (तरंगों) द्वारा सृष्टि का होना मानता है। अतः तरंगों का सृष्टि के सृजन व विनाश में स्पष्ट महत्त्व है। डाइनामाइट का धमाका (तरंगें) विध्वंस कर सकता है। तो संगीत के सुर (तरंगें) सृजन कर सकते हैं। बारिश करा सकते हैं, पत्थर को पिघला सकते हैं, दीपक को जला सकते हैं, पशु-पक्षियों व मनुष्यों को सम्मोहित कर सकते हैं। पेड़-पौधों को पल्लवित व पुष्पित

कर सकते हैं। व्यक्ति के मनोभावों को बदल डालना तो बड़ा स्थूल प्रभाव है। आधुनिक विज्ञान वादी पेड़-पौधों व अन्य जीवों पर संगीत से पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर चुके हैं और तो और संगीत द्वारा रोगों का निवारण एवं, चिकित्सा भी संभव है और आधुनिक विज्ञान भी इसे मानता है।

मिलिट्री बैन्ड, बिगुल, नगाड़े आदि एक जोश व वीरभाव का श्रोता में संचार करते हैं तो मर्सिया (मृत्यु पर बजाया जाने वाला संगीत) दूसरा ही भाव पैदा करता है। वहां करुणा व दुख स्वत: सुनने वालों में उत्पन्न हो जाता है। शादी के अवसर पर बजाए गए संगीत का प्रभाव कुछ और होता है। वहां शहनाई व सारंगी जैसे वाद्ययंत्रों का विशेष उपयोग रहता है। पार्टी के संगीत का प्रभाव कुछ और तथा लोरी के संगीत का कुछ और।

(मिलिट्री बैन्ड कभी झपताल, दादरा, रूपक आदि अपेक्षाकृत विलम्बित तालों पर नहीं बजाया जाता। लोरी कभी कहरवा, खेमटा आदि द्रुत तालों पर नहीं गाई जाती, क्योंकि मिलिट्री बैंड का उद्देश्य उत्तेजना व जोश का संचार करना होता है, जबकि लोरी का उद्देश्य शांति व स्थिरता का) बहरहाल!

तरंगों द्वारा सृष्टि में, भावों में, पदार्थों में परिवर्तन सम्भव है और संगीत में तरंगें ही होती हैं। पूरी तल्लीनता के साथ सही तरंगों का सही मात्रा में सही वैलासिटी पर, सही समय पर, सही समय तक, पूर्ण संगति के साथ प्रयोग आखिर साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार भी करा सकता है। जैसा कि कहा गया है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत्।
शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधि गच्छति॥

(शब्द ब्रह्म और परब्रह्म के भेद से ब्रह्म दो प्रकार का होता है। शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।)

अब ज़रा 'अ' (अकार) यानी पूर्व वर्णित थ्योरी का सम्बन्ध क्लासिकल म्युजिक से जोड़िए और सोचिए कि संगीत में क्यों केवल 'अकार' (अ) द्वारा ही सम्पूर्ण रागों व अलापों आदि को गाया जाता है। इसे संगीत की भाषा में—'अलंकार पूर्वक गायन' कहते हैं। (जैसा कि पाठकों ने क्लासिक गाने वालों को कम-से-कम 'अ-अ-ऽऽऽऽऽ।' करते हुए तो सुना ही होगा)। आप अवश्य इस थ्योरी के तर्कसंगत व ठोस वैज्ञानिक होने के परिणाम पर पहुंचेंगे।

तो बात अक्षरब्रह्म/शब्दब्रह्म/स्वरब्रह्म की चल रही थी। और वर्णमाला के प्रथम वर्ण 'अ' या 'अकार' की। देखिए प्रणव मंत्र में भी अकार सर्वप्रथम है (अ+उ+म=ॐ)।

विभाग या भेद रूप से प्रतीत न होना ही अद्वैत ज्ञान है। यानि जब तक हम भेद करते हैं, अन्तर करते हैं, तब तक हमें दो या अधिक की प्रतीति होती है किन्तु भेद बुद्धि का नाश होते ही समस्त जगत को हम केवल एक ही रूप में देखते हैं।

वर्णमाला या मातृका में विभिन्न बल्कि समस्त वर्णों में 'अ' की प्रतीति स्पष्ट होते हुए भी हम क, ख, ग, घ आदि का भेद व्यवहार की दृष्टि से करते हैं। किन्तु सत्य तथ्य को समझ लेने के बाद हम क, ख, ग, घ...आदि सभी में 'अ' है ऐसा अनुभव करने लगते हैं। माया, व्यवहार और भेद समाप्त हो जाता है। 'सभी कुछ ईश्वर है' के भाव का उदय होता है।

इस अद्वैत को 'बिन्दु' भी कहा गया है। क्योंकि बिन्दु में विभेद नहीं किया जा सकता। उसके विभाग सम्भव नहीं हैं। समस्त अक्षरों की सृष्टि विसर्ग से होती है, अर्थात् विसर्ग भेद ज्ञान की सृष्टि करता है। वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' जब नाद और बिन्दु से संयुक्त हो जाता है, तब ईश्वर की शक्ति कहलाता है। क्योंकि स्वर और व्यंजन सभी में 'अ' किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इसीलिए इस शिव व शक्तिमय 'अकार' (अ) को ही शब्द ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है। (पाठक देखें कि रागों व अलापों में केवल 'अ' का ही विलास शब्द ब्रह्म की साधना को प्रकट करता है)।

इस प्रकार 'बिन्दु' जहां अद्वैत/ब्रह्म का प्रतीक है, वहीं विसर्ग (:) द्वैत/माया का। अत: सम्पूर्ण सृष्टि विसर्ग के नाम से भी जानी जाती है। विसर्ग का अन्त किए बिना आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। 'अ' (अकार) के साथ विसर्ग जुड़ने पर अन्य अक्षरों व मातृकाओं के संयोग से वर्णमाला का विकास होता है। अत: वास्तविकता को पहचानने के लिए विसर्ग का 'अकार' (अ) में ही उपसंहार किया जाता है। 'अं' और 'अ:' में से 'अकार' (अ) निकाल देने पर केवल बिन्दु (˙) और (:) विसर्ग ही शेष रहते हैं। यह वर्णमाला के माध्यम से सृष्टि रहस्य समझने का प्रयास है।

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक अक्षर में ब्रह्म व माया का निवास है। ब्रह्म का वास होने से ज्ञान तथा माया का वास होने से व्यवहार अक्षरों द्वारा सम्भव होता है। अपने विचार, ज्ञान, भाव आदि हम भाषा (अक्षरों) के माध्यम से ही दूसरे को समझा सकते व स्वयं भी समझ सकते हैं। अत: भाषा के बिना व्यवहार भी सम्भव नहीं हो पाता।

मन्त्रों के विन्यास में भी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। अक्षरों से शब्द, शब्द से वाक्य बनते हैं। जब हम किसी देवता या शक्ति के 'बीज' (बीजमंत्र) की बात करते हैं तब हम केवल एक अक्षर की बात करते हैं। जबकि मंत्र में कई अक्षर सम्मिलित रहते हैं। इन मन्त्रों को मोटे-तौर पर हम दो भागों में बांट सकते हैं— सार्थक व निरर्थक। मोटे तौर पर इसलिए कि शब्द की अर्थशक्ति मंत्रों में उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी व्यंजना व लक्षणा शक्ति, और व्यंजना व लक्षणा शक्ति भी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी अक्षर की आकृति व उसके उच्चारण से उत्पन्न होने वाली विशेष तरंगें। किस देवता के गुण स्वभाव के अनुसार, किस

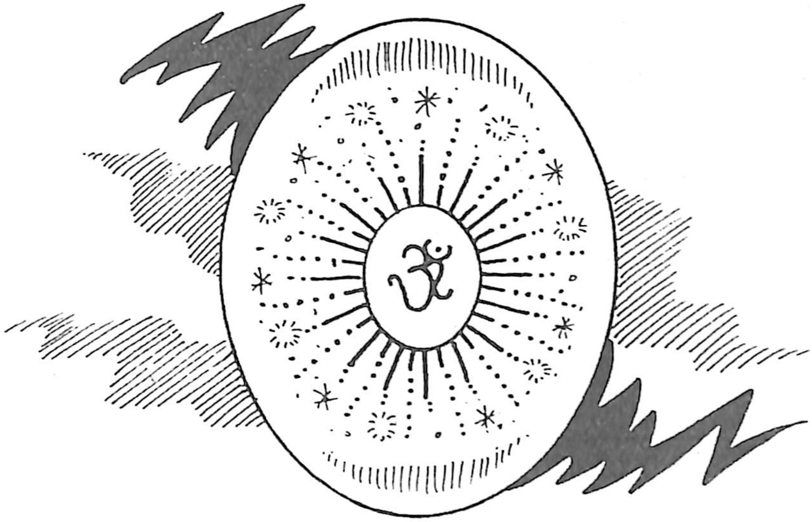
शक्ति के स्वभाव के अनुसार किस आकृति वाले, किस ध्वनि तरंग वाले अक्षर अथवा बहुत से अक्षरों का प्रयोग किया जाएगा यह तत्त्वदर्शी और मंत्रदृष्टा ऋषि जानते थे। तदनुसार ही उन्होंने मन्त्रों की रचना की और वे मन्त्र सम्बन्धित देवता का साक्षात्कार, सम्बन्धित शक्ति की कृपा अथवा सम्बन्धित सिद्धि के प्रदाता इसीलिए हो जाते हैं कि अक्षरों की रचना, आकृति, तरंगों का अपना एक सूक्ष्म विज्ञान है और प्रत्येक अक्षर जैसा कि बताया जा चुका है स्वयं में ब्रह्म व माया की शक्तियों से युक्त है। इसीलिए मंत्रों को 'मंत्र' (यानी मनन करने पर त्राण देने वाले) कहा गया।

मनन करने पर, केवल उच्चारण करने पर नहीं। क्योंकि उच्चारण मात्र स्थूल प्रभाव उत्पन्न करेगा किन्तु मनन सूक्ष्म प्रभाव उत्पन्न कर साक्षात्कार कराएगा अतः त्राण होगा।

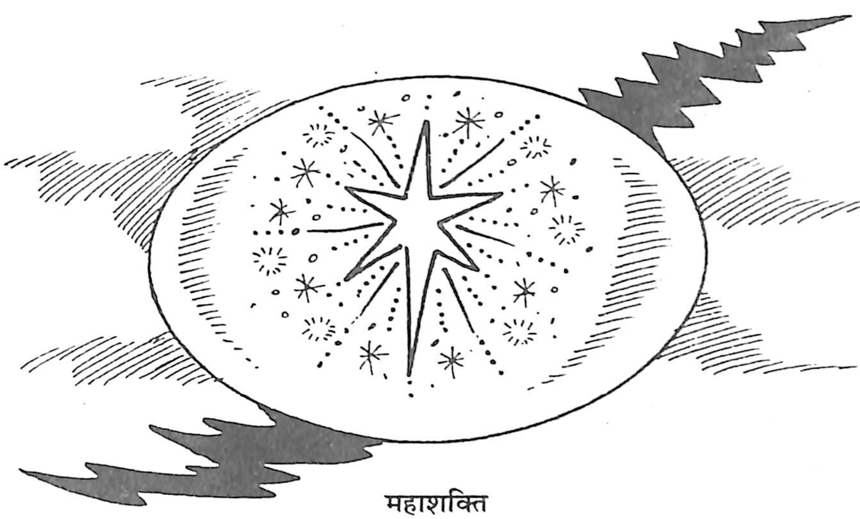
संभवतः यह पूरा प्रसंग कुछ पाठकों को—बहुत भारी, क्लिष्ट या उलझा हआ सा व शुष्क लगा हो, क्योंकि यह बात ही ऐसी है। ऐसे पाठकों को अति संक्षेप में मोटे तौर पर यह निष्कर्ष समझ लेना चाहिए कि—

किसी भी सत्ता की पहचान या व्यवहार उसके तीन गुणों द्वारा ही सम्भव होता है। पहला नाम/पद, दूसरा रूप/आकार और तीसरा गुणावगुण/स्वभाव। इन तीनों के अभाव में किसी भी वस्तु या सत्ता को जाना नहीं जा सकता। अगर हम नाम लें 'संतरा' तो सुनने वाले की समझ में आ जाता है कि हम किस फल की बात कर रहे हैं। यदि हमें नाम न पता हो तो हम संतरे की तस्वीर दिखाएं या उसके रूप/आकार का वर्णन करें कि भई, संतरी रंग का गोल-गोल फल है। छिलका छीलने पर अन्दर से फांकें निकलती हैं, जिनमें बीज भी होते हैं तो भी सुनने वाला समझ जाएगा कि बात संतरे की हो रही है अथवा हम उसका गुण स्वभाव बताएं कि खट्टा मीठा होता है, उसका रस निकालकर पीया भी जाता है—आदि, तो भी सुनने वाला करीब-करीब समझ जाएगा कि बात संतरे की हो रही है। किन्तु यदि हम इन तीनों में से किसी उपाय को अमल में न लाएं तो संतरे को पहचाना नहीं जा सकता।

ठीक इसी प्रकार भगवान, शक्ति या देवता का हमें नाम तो ज्ञात होता है। गुण स्वभाव भी मालूम होते हैं। परन्तु रूप या आकार पता नहीं होता। लेकिन जब हम उस शक्ति, देवता या ईश्वर के नाम, गुण, स्वभाव आदि का बार-बार तन्मयता पूर्वक चिन्तन करते हैं, शनैः शनैः उसका रूप या आकार प्रत्यक्ष होने लगता है—**यही मन्त्र विज्ञान की, जप की तथा कीर्तन आदि के प्रभाव का रहस्य है।** किन्तु मनन होना चाहिए, ध्यानपूर्वक चिन्तन होना चाहिए तभी रूप का प्रकटीकरण या साक्षात्कार सम्भव है। केवल रटने या चिल्लाने से संस्कार तो पक्का होगा, अहं भी पैदा होगा, परन्तु वास्तविक सफलता नहीं मिलेगी।



परब्रह्म



महाशक्ति

निराकार स्वरूप

अब छूट गए विषय कुण्डलिनी शक्ति को आगे बढ़ाते हैं, जो अक्षर व मन्त्र की चर्चा के कारण बीच ही में रह गया था। व्यवधान के लिए मुझे खेद है। किन्तु यह विषय इतना गहन है और अपने साथ इतने विषयों, उपविषयों और उनके भी भेदों व उपभेदों को लपेटे हुए है, कि समग्रता की दृष्टि से सभी को छूना, समझना आवश्यक है। विशेषकर उन प्रसंगों पर जहां कोई घुन्डी या कई घुन्डियां आ जुड़ें— उसे पाठकों के लिए सुगम्य बनाने के लिए मूल विषय से अन्यत्र भी अपनी सामर्थ्यानुसार छलांग लगाना जरूरी लगने लगता है। इससे बहुत से पाठक लाभान्वित होंगे, किन्तु बहुतों को अवरोध-सा महसूस होगा। अवरोध महसूस करने वाले

अपने पाठकों के प्रति ही मैंने खेद प्रदर्शन कर, क्षमा मांगी है। हालांकि जानता हूं कि ऐसे अवसर पुनः आने पर मैं पुनः ऐसा ही करूंगा—मजबूरी है। लेकिन पुनः क्षमा याचना भी करूंगा। बहरहाल!

कुण्डलिनी शक्ति 'ह' अक्षर की भांति साढ़े तीन लपेटे खाए हुए, नीचे मुख किए हुए, अपने मुख में अपनी पूंछ दबाए उलटी पड़ी सर्पिणी की भांति सुषुम्ना के विवर में, मूलाधार में सोई पड़ी रहती है। सुषुम्ना नाड़ी का मुख—त्रिकोण बन्द रहने के कारण उसकी गति ऊपर की ओर नहीं हो पाती। किन्तु उपायों द्वार ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लेने पर वह झटका खाकर भूखी सर्पिणी-सी तीव्रता के साथ ऊपर बढ़ती है। वह अद्भुत शक्तियों से युक्त कुण्डलिनी जिस-जिस चक्र का भेदन कर आगे बढ़ती जाती है, वही चक्र सक्रिय होकर अपने-अपने चमत्कारिक प्रभाव दिखाने लगता है। यह संक्षेप में हमने अब तक जाना। इतना जान लेने के बाद सहज ही मन में कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के उपाय जानने की बात उत्पन्न होती है। किन्तु उन सबकी चर्चा से पूर्व इस बात की चर्चा की जानी आवश्यक है कि कुण्डलिनी शक्ति की इस कुटिल आकृति का कारण क्या है? क्यों यह साढ़े तीन कुंडल मारकर रहती है।

कुटिल आकार का कारण

कुण्डलिनी समस्त विश्व की जननी, ईश्वरीय शक्ति है। इसी का संयोग होने से शिव सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इसी को प्राणशक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति शरीर में 'हकार' रूपी नाद के स्वरूप में सदा नदन करती है। (अपने दोनों कान बंद करके इस नदन व्यापार को सुना जा सकता है।) इसी के माध्यम से योगी परमपद अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यह साढ़े तीन लपेटे खाकर बिना आधार के ही सुषुम्ना विवर में निवास करती है।

'**विज्ञान भैरव**' ग्रन्थ के अनुसार हंस गायत्री का अजपा जाप प्रत्येक जीव में निरंतर चलता है। प्राण (छोड़ी गई श्वांस) के साथ (सकार) और अपान (खींचे गए श्वांस) के साथ (हकार) 'हंस' उच्चारण अनचाहे ही होता रहता है। इनमें प्राण और प्रकाश (सूर्य/दिन) का प्रतिनिधित्व 'सकार' और जीव (अपान) तथा 'क्षपा' (रात्रि) का प्रतिनिधित्व 'हकार' करता है। प्राण की गति स्वाभाविक रूप से बाहर की ओर तथा अपान की गति स्वाभाविक रूप से निरंतर भीतर की ओर चलती है।

अपान को जीव इसलिए कहा जाता है कि प्राण के बाहर निकलने के बाद जब अपान भीतर प्रविष्ट होता है तभी शरीर में जीवात्मा विद्यमान होने का बोध होता है। अपान के प्रवेश न पाने पर शरीर शव कहा जाएगा।

जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है उसकी गति हकार (ह) की भांति टेढ़ी-मेढ़ी है। अतः यह जीव भी अपनी इच्छानुसार प्राण के अनुरूप

ही कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेता है। जीव की यह वक्रता (कुटिलता/घुमावदार होना) परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा शक्ति का ही खेल है। **प्राण शक्ति कुण्डलिनी में रहने के कारण कुटिलाकार हो जाती है। इस प्राण शक्ति के भीतर विद्यमान जीव बाल के अग्रभाग के सौंवे हिस्से के समान सूक्ष्म है।** उसकी कोई आकृति नहीं है, तथापि प्राण की वक्रता के कारण जीव में भी औपाधिक वक्रता मान ली जाती है। **वास्तव में जीव कुटिल नहीं, प्राण ही कुटिल है।**

कुण्डलिनी शक्ति या प्राणशक्ति की कुटिलता का कारण यह है कि इसका एक लपेटा बाईं नाड़ी इड़ा और दूसरा लपेटा दाईं नाड़ी पिंगला में है। इस प्रकार उसके दो वलय बनते और बीच से सुषुम्ना नाड़ी जाती है। जब प्राण यहां से हृदयाकाश में चढ़ता है तब 'हम' वर्ण की और जब वह द्वादशान्त से उतरता है तब 'स:' वर्ण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'हंस:' या 'सोहं' (सोऽहमं अर्थात् 'वह मैं हूं।') इस मंत्र का अजपा जप श्वांस-प्रश्वांस के साथ निरंतर चलता रहता है 'हंसा:' से सम्बन्धित दो मन्त्र 'अहंस:' और 'सोऽहम्' हैं। जिसके अर्थ 'मैं वह हूं' और 'वह मैं हूं' हैं।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का जप जीव में ही होता है, ईश्वर में नहीं। क्योंकि वो मैं हूं या मैं वो हूं इस तरह के विमर्श परमेश्वर में नहीं होते। परमेश्वर दशा में तो पूर्णहन्ता रहती है। यह मेरा है। वह मेरा नहीं है। इस प्रकार के छोड़ने और लेने के, प्राण और अपान के धर्मों के कारण ही **जीव 'हंस' कहलाता है।**

उपर्युक्त विवरण यद्यपि अजपा हंस गायत्री के जाप के संदर्भ में 'विज्ञान भैरव' में आया है। तथापि कुण्डलिनी व प्राण के कुटिलाकार के कारण को इंगित करता है, एवं ज्ञानवर्धक और योग विषय से सम्बन्धित होने के कारण इस प्रसंग को संक्षेप में पूरा कह दिया गया है। पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

कुण्डलिनी के कुटिल आकार के रहस्य को जान लेने के बाद हम विभिन्न तन्त्र ग्रन्थों के प्रकाश में शिव मंदिरों में कुण्डलिनी के अप्रत्यक्ष पूजन का सिलसिला भी समझें।

अग्निरूपा कुण्डलिनी मूलाधार के अग्निकुंड में, स्वयंभू महालिंग पर सुप्त सर्पिणी के समान साढ़े तीन फेरे लगाकर लिपटी हुई है मर्मज्ञों का ऐसा कहना है। **शिव मन्दिरों तथा शिवालयों में शिवलिंग पर इसी प्रकार सर्पिणी लिपटी हुई दर्शाई जाती है। (लिंग जहां स्थूल रूप से सृजन क्षमता तथा बीज शक्ति का प्रतीक है, वहीं सूक्ष्म रूप से ब्रह्म की गुप्त शक्तियों का प्रकटीकरण करने वाला भी है। क्योंकि छिपी हुई वस्तु का ज्ञान करा देने वाला 'लिंग' कहलाता है। जैसा कि 'मालिनी वार्तिक' में कहा भी गया है—'लीनं गमयतीत्युक्तेर्लिङ्ग-**

निर्वचनं यतः।') यह लिंग वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति का ही प्रतीक है।

पाठकों ने देखा होगा कि शिवलिंग पर एक तिपाई पर रखे गए कलश के छिद्र द्वारा निरन्तर जल या दूध का अभिषेक होते रहने की व्यवस्था शिवालयों व मंदिरों में होती है। मोटे तौर पर यह अभिषेक या पूजन विधि परम्परागत तरीके से चली आ रही है और इसका कारण पुजारी लोग नहीं जानते, किन्तु कलश द्वारा अनवरत जल या दुग्ध के इस लिंगाभिषेक का उद्देश्य क्या है? क्यों यह कलश तिपाई पर ही रखा जाता है? आदि प्रश्नों का उत्तर इसके सूक्ष्म रहस्य को जानने से मिलता है।

सहस्त्रार चक्र में लगातार अमृत स्त्राव होते रहने का वर्णन सभी योग ग्रन्थों में आया है। हमने भी चक्र प्रकरण में इस तथ्य को पाठकों के सम्मुख रखा है। **कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से जागृत कर, इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना को आधार बनाकर सहस्त्रार तक लाया जाता है और अमृत पान कराया जाता है। सुप्त कुण्डलिनी सर्पिणी की भांति अग्निकुंड में पड़ी निरंतर विष उगलती रहती है जिससे जलन उत्पन्न होती है। वासना की अग्नि शांत नहीं हो पाती और शरीर व मन की दिव्य शक्तियों व सम्पदाओं का विनाश होता रहता है। किन्तु कुण्डलिनी को जागृत कर, साध कर सहस्त्रार में ले जाकर अमृतपान कराने से कुण्डलिनी सहित साधक का पोषण होता है। यही इस समस्या का एकमात्र निश्चित समाधान है।**

शिवलिंग पर अनवरत दूध या जल के तिपाई पर रखे छिद्र युक्त कलश द्वारा बूंद-बूंद अभिषिक्त होना—हमें यही उपाय समझाता है। शिवलिंग व सर्प जहां अग्निकुंड में स्थित कुण्डलिनी के प्रतीक हैं, वहीं कलश सहस्त्रार का। जिसमें से निरंतर झरता दूध या जल 'अमृतस्त्राव' का प्रतीक है। तिपाई वास्तव में इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना का प्रतीक हैं। जो सहस्त्रार या कलश को, उसके स्त्राव को लिंग व कुंण्डलिनी से जोड़ते हैं। अतः **यह अप्रत्यक्ष रूप से योग प्रणाली को एक सांकेतिक विधि से समझाने का प्रयास है।**

देवताओं द्वारा किया जाने वाला 'सोमपान' भी वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति के चरम विकास द्वारा 'अमरत्व' प्राप्ति की थ्योरी की ही पुष्टि करता है। रावण की नाभि में अमृत कुण्ड का होना उसकी कुण्डलिनी शक्ति की प्रभावशाली व उत्कृष्ट स्थिति का प्रतीक है। किन्तु उसका 'दशानन' (दस मुख वाला) होना इस तथ्य को प्रकट करता है कि तप द्वारा कुण्डलिनी जागृत कर लेने के बाद भी वह दसों इन्द्रियों से बहिर्मुखी था। भोगी था। शुद्ध भोगी था। प्राप्त हुई आलौकिक शक्तियों को वह दसों इन्द्रियों से खुला भोग कर निष्कासित कर रहा था। योगी के समान उसने अपनी इन्द्रियों को कछुए के अंग सिकोड़ लेने की भांति अन्तर्मुखी नहीं किया था। अतः उसके अमृतकुंड के नष्ट होते ही उसका विनाश निश्चित था।

राम-चेतन या ब्रह्म के प्रतीक हैं। सीता माया या प्रकृति की। दोनों के साथ रहने वाला लक्ष्मण 'जीव' का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिव ज्ञान का, पार्वती श्रद्धा का, हनुमान विज्ञान का और रावण परम भोगी का, दशरथ मन का आदि। भोगी सदैव माया के फेर में पड़कर विनाश को प्राप्त होता है। जैसा कि रावण के साथ हुआ। **ज्ञान के अभाव में चेतना तथा चेतना के बिना ज्ञान संभव नहीं अतः शिव राम का पूजन करते और उन्हें गुरु मानते हैं, तो राम शिव का पूजन करते और उन्हें गुरु मानते हैं। ज्ञान से विज्ञान का जन्म होता है। अतः शिव से हनुमान की उत्पत्ति हुई।** विज्ञान में तर्क प्रबल होता है। श्रद्धा का स्थान वहां नहीं होता। **अतः हनुमान के जन्म में पार्वती का योगदान नहीं है।** (उनका महाशक्तिशाली होना विज्ञान की शक्ति प्रदर्शित करता है किन्तु वानर होना चंचलता का, उछृंखलता का सूचक है।) **पार्वती का योगदान गणेश के जन्म में है क्योंकि श्रद्धा और विश्वास से कल्याण या मंगल उत्पन्न होता है और गणेश मंगल के देवता हैं।**

धर्म शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐसे ही सांकेतिक तरीकों से कथाओं व चरित्रों के माध्यम से जीवनदर्शन, अध्यात्मिक व योग विषयक ज्ञान को पिरोया गया है। अतः पाठकों को प्रत्येक धर्मग्रन्थ को ध्यान पूर्वक पढ़ना और मनन करना चाहिए जिससे गागर में छिपे सागर का रहस्य समझा जा सके।

अब हम कुण्डली/कुण्डलिनी जागरण के उपायों तथा जागरण प्रक्रिया की चर्चा करेंगे। साथ ही कुण्डलिनी जागरण काल में उपस्थित होने वाले सम्भावित खतरों, उनसे बचने के लिए रखी जाने वाली सावधानियों की भी विस्तृत चर्चा करेंगे।

यह ध्यान रखिए कि इतनी बड़ी शक्ति या उपलब्धि पाने की प्रणाली भी उतनी ही बड़ी व गम्भीर होगी। फल की महत्ता के अनुसार ही परिश्रम दरकार होता है। कुण्डलिनी जागरण एक महाशक्ति को स्वयं में विकसित करना है। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। न ही इतना सरल है कि पुस्तक पढ़ लेने मात्र से या तथाकथित विशेषज्ञ 'गुरुओं' के फुसलाने-बहलाने भर से सम्भव हो सके। शरीर व मन में, स्वयं में उस शक्ति को धारण करने की पात्रता उत्पन्न होने के बाद, संयम, धैर्य व विधानपूर्वक, निरंतर साधना करने पर ही कुण्डलिनी जागरण सम्भव है। वह भी तब, जब आप ईश्वरीय कृपा के पात्र सिद्ध हो जाएं। इस कार्य में पुस्तक मात्र एक उपदेशक, मार्गदर्शक और प्रेरणा स्रोत का एवं जिज्ञासा शांति या ज्ञान प्रदान करने का ही कार्य कर सकती है, वह भी तब जब पाठकों ने सही पुस्तक का चुनाव किया हो। लेकिन प्रैक्टिकल के लिए किसी सुयोग्य, समर्थ, सिद्ध व अनुभवी गुरु की आवश्यकता सदा होती है, विशेष कर योग मार्ग में।

मैं इस गूढ़ विषय पर कुछ लिख पाने का साहस कर पा रहा हूं, तो मात्र इसलिए कि विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन, मनन तथा विभिन्न गुणीजनों एवं विद्वानों के संगति एवं उनके साथ तत्त्व चर्चा का सौभाग्य मुझे निरंतर प्राप्त होता रहा है। तिस पर योग ज्ञान के मर्मज्ञ स्वयं मेरे आदरणीय पिता का अनुग्रह, मार्गदर्शन एवं विमर्श मुझे पूर्वजन्मों के सुफल स्वरूप सहज ही प्राप्त है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रैक्टिकल की दिशा में मेरा अनुभव नगण्य है। अतः 'गुरु' बनने की योग्यता तो दूर विधिवत 'छात्र' बनने की पात्रता भी मुझमें नहीं हैं। मैं जिन परम विद्वान अपने पूज्यपिता को इस क्षेत्र में अपना गुरु मानता हूं—वे मेरे पिता डॉ. केशव कौशिक स्वयं अपने को 'गुरु' बनने के योग्य नहीं पाते। फिर और विद्वानों का तो कहना ही क्या! इस युग में सच्चे गुरु का मिल पाना वैसे ही दुर्लभ है जैसे सच्चे शिष्य का मिल पाना! बिना ईश्वर की विशेष अनुकम्पा के साधक को गुरु प्राप्त नहीं हो सकता और बिना ज्ञान प्राप्त किए साधक गुरु को पहचानने वाला नहीं बन सकता। अतः गुरु की पहचान के लिए भी स्वयं ज्ञानी होना आवश्यक है।

इसीलिए '**ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है**' ऐसा माना गया है। और स्वयं भगवान शिव ने '**विज्ञान भैरव**' में पार्वती से कहा है—

ग्रामं राज्यं पुरं देशं पुत्रदारकुटुम्बकम्।
सर्वमेतत् परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे॥

हे मृगनयनी (पार्वती)! ग्राम, राज्य, नगर, देश, पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब आदि सबको छोड़कर (प्राथमिकता न देकर) इस रहस्यमय, अत्यन्त गुप्त, पर उत्कृष्ट (योगविद्या) ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए।

किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम्।
प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम्॥

(क्योंकि हे देवी! राज्य, ग्राम आदि उक्त पदार्थ तो अस्थिर हैं (सदा मनुष्य के साथ नहीं रह सकते) अतः समस्त विपत्तियों को दूर करने वाले अक्षय व स्थिर ज्ञान का ही सब उपायों से संग्रह करना चाहिए और इस परम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हो जाने के बाद अयोग्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए।)

ज्ञान ही चित्त व मस्तिष्क में प्रकाश करता है। तप से संस्कार व जन्मान्तरों के मन एवं आत्मा पर चढ़े मल कटते हैं और व्यक्ति को अपने स्वरूप का बोध होता है। अतः ज्ञान के बाद तप का महत्त्व है। स्वयं ब्रह्मा भी (विभिन्न पुराणों के अनुसार) उत्पन्न होने के बाद अनंत को देख संशय में पड़ गए थे कि मैं कौन हूं? कहां हूं? यह अनंत क्या है? इसका आदि अन्त कहां है? आदि। **तब आकाशवाणी ने ब्रह्मा को 'तप कर' ऐसा आदेश दिश था। तप के बाद ब्रह्मा न केवल समस्त रहस्यों को समझ कर परम ज्ञानी बन सके बल्कि सृष्टि भी कर सके।** तप की ऐसी ही महिमा है।

'गुरु' बनने के लिए ज्ञान और तप दोनों में ही उत्कृष्ट योग्यता होनी आवश्यक है। गुरु हम कहते किसे हैं ? गुरु का अर्थ क्या है ? जो गुरु (भारी) हो अर्थात् जिसके पास अथाह ज्ञान हो, गम्भीर हो। थुथला या पोपला (हल्का) न हो। मात्र गाल बजाने वाला न हो (क्योंकि 'थोथा चना, बाजे घना')। इसके अलावा जिसके पास 'गुर' (गुण) हो। ज्ञान के साथ तकनीक भी हो। जो पूर्ण हो। परिपूर्ण हो। जिसके पास देने के लिए कुछ हो। देने के लिए कुछ उसी के पास होगा जो पूर्ण होगा। अधूरा किसी को क्या देगा ? उसे तो अभी खुद जरूरत है। अत: ज्ञान और तप, थ्योरी और प्रैक्टिकल, विद्या (गुण) और तकनीक सभी दृष्टियों से जो परिपूर्ण हो, भारी हो, गुणी हो। साथ ही स्वार्थ से रहित और उपकार का इच्छुक हो वही 'गुरु' कहलाने का अधिकारी है। अपने ज्ञान को अनुभव द्वारा जो सिद्ध कर चुका हो वही 'गुरु' होने का अधिकारी है। मात्र वाहवाही लूटने के लिए, पैर पुजवाने के लिए झंडे गाड़ने या प्रसिद्धि पाने के लिए, अपनी जेबें भरने के लिए गद्दी पर बैठकर ढोंग करने वाले तथाकथित गुरु तो अभी स्वयं नाम, पैसा, प्रशंसा आदि के भूखे हैं। अधूरे हैं, पूर्ण नहीं हैं। वे भला किसी को क्या देंगे ? देने के लिए उनके पास है क्या ? वे तो खुद लेने के लिए बैठे हैं। वे डाकुओं या लुटेरों से भी नीच हैं क्योंकि डाकू कम-से-कम खुलकर तो लूटता है। ये धर्मगुरु तो 'विरक्त' होने का धोखा देकर ठगते हैं।

जब सूर्य उदित हो जाता है, सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, जब शक्ति का उदय होता है, स्वयं तेज उत्पन्न हो जाता है। जब फूल खिलता है, खुद-ब-खुद खुशबू फैल जाती है। जब योग्यता उत्पन्न होती है, प्रसिद्धि स्वयं हो जाती है। उसके लिए ढोल नहीं बजाना पड़ता, डंका नहीं पीटना पड़ता। इश्तहार लगाना पड़ता है उसे जिसके पास थोड़ा-सा कुछ है, या नहीं भी है, किन्तु वह बाकी थोड़े से के मालिकों या ज्यादा के मालिकों से कम्पटीशन चाहता है। अपना नाम व पहचान बनाना चाहता है। अपनी दुकान पर भीड़ लगाना चाहता है। इसके लिए वह प्रपंचों का सहारा लेता है। शास्त्र कहते हैं कि स्नान शुद्धता व स्वच्छता के लिए आवश्यक है। प्रपंच करने वाला सोचता है, आजकल स्नान का बखेड़ा कोई पालना नहीं चाहता। न तो उसके पास समय है, न धैर्य है, न संयम और न लगन है। वह स्वच्छ शुद्ध तो होना चाहता है लेकिन नियमों की पाबन्दियों का पालन नहीं करना चाहता। वह इस बात का लाभ उठाकर इस तरह बरगलाता है कि 'आओ, मेरे पास आओ ! मैं वैक्यूम क्लीनर से तुम्हें स्वच्छ शुद्ध करूंगा। नहाने का झंझट नहीं, नियमों की जरूरत नहीं, 'सहज मार्ग' अपनाइए। सिर्फ गंगाजल पीजिए और स्वच्छ शुद्ध हो जाओगे। जो इतना भी न करना चाहें वे मेरे आशीष मात्र से ही पवित्र हो जाएंगे। फीस कुछ नहीं, अपनी श्रद्धा भक्ति अनुसार।' और लोग पागल हो जाते हैं, क्योंकि वे पाना तो फौरन चाहते हैं मगर करना कुछ नहीं चाहते। इसलिए बिना किए या कम किए ही जो

दिलाने का दावा करता है, वे कूदकर उधर जा पहुंचते हैं और प्रपंच करने वाले की दुकान चल जाती है।

ज्ञान क्योंकि किसी को नहीं और पाना हर कोई चाहता है। धैर्य किसी में नहीं, परिश्रम कोई नहीं करना चाहता लेकिन शीघ्र-से-शीघ्र उपलब्धि पाना चाहता है। अत: वह इन ठगों के मायाजाल में जा फंसता है। ज्ञान न होने के कारण उन्हें जैसे मरजी बरगलाकर, बड़ी उपलब्धि 'सहजता' से दिलाने का दावा कर ये महाठग अपना उल्लू सीधा करते हैं।

परिणाम स्वरूप इन तथाकथित 'गुरुओं' का तो भले ही कुछ भला होता हो, इनके चेलों को अन्तत: पछताना ही पड़ता है। इतना भी हो तो बर्दाश्त किया जा सकता है। किसी की चलती 'दुकान' से हमें कोई परेशानी नहीं, भले ही वहां लूट या ठगी होती हो। क्योंकि यह तो लुटने वाले के ही अज्ञान, अविद्या व अधैर्य का परिणाम है। दिक्कत इस बात से होती है जब लुटने वाले को अपने लुट जाने का ज्ञान होता है। तब गुरु-शिष्य परम्परा के प्रति, अध्यात्म व ज्ञान के प्रति एक अश्रद्धा, घृणा व अविश्वास का भाव उत्पन्न होता है और फिर प्रचारित भी होता है। नतीजे के तौर पर एक गलत परम्परा जन्म लेती है और शेष जनता दिशा भ्रमित हो जाती है। इसलिए आदमी की हत्या उतना बड़ा अपराध नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें एक व्यक्ति की हानि होती है, एक परिवार को दुख पहुंचता है किन्तु सिद्धांत की हत्या बहुत गंभीर और जघन्य अपराध है। क्योंकि उससे पूरे समाज की हानि होती है। पूरी पीढ़ी को दु:ख व क्लेश भुगतने पड़ते हैं।

अत: जो शास्त्र सम्मत नहीं, वह ज्ञान, गुरु या आदेश भ्रष्ट है। उचित अनुचित की कसौटी का निर्णय शास्त्र ही कर सकता है। जैसा कि बहुत से स्थानों पर कहा भी गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयंधीरा: पण्डितं मन्यमाना:।
जङ्घन्यमाना: परियन्ति मूढा अन्धैनैव नीयमाना यथान्धा:॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्—अविद्या में स्थित होकर भी स्वयं को बुद्धिमान बनने वाले (दम्भी) और अपने को विद्वान मानने वाले (पाखंडी) (जो विद्या बुद्धि के अभिमान में शास्त्र व महापुरुषों के वचनों की अवहेलना करते हैं, यानि शास्त्र कुछ भी कहें, मेरा यह मत है ऐसा कहते हैं) वे मूर्ख लोग बार-बार आघात सहन करते हुए (कटु अनुभवों से हानि उठाकर) ठीक वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अंधे के द्वारा ही चलाए जाने वाले (मार्गदर्शन करने वाले) अन्धे (अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर ठोकरें खाते रहते हैं)।

विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ —(कठोपनिषद्)

अर्थात्—सर्वव्यापी परमात्मा को जानकर बुद्धिमान शोक नहीं करता। (यह

ज्ञानी/सिद्ध/गुरु की एक मोटी पहचान बता दी कि ज्ञान की चरमसीमा पर पहुंचा हुआ, परमात्म तत्त्व या ब्रह्मविद्या को जाना हुआ व्यक्ति किसी भी स्थिति में, किसी भी कारण से, किञ्चितमात्र भी शोक नहीं करता इस पहचान से पाठक स्वयं गुरु परीक्षण कर सकते हैं)।

इसके अलावा जैसा कि *गीता* में भी कहा गया है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

अर्थात्—शास्त्रविधि से रहित केवल मनः कल्पित घोर तप को जो करते हैं और दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति व बल के अभिमान से भी युक्त हैं...

...**तान्विद्धयासुरनिश्चयान्॥** (उन अज्ञानियों को तू आसुरी स्वभाव वाला जान।)

और भी देखें—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

—*गीता*

(शास्त्रविधि से हीन और अन्नदान से रहित, मंत्रों व दक्षिणा से रहित तथा श्रद्धाविहीन यज्ञ 'तामस' कहा जाता है)।

और—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं)।

आदि अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुरु में योग्यता के साथ-साथ शास्त्र सम्मत आदेश या मार्गदर्शन का गुण होना आवश्यक है। ऐसा न हो कि योगविषयक शास्त्र जो विधान बताते हैं, गुरु उन्हें नकार कर अपने ही विधानों या मत को 'सहजता' का लेबल लगाकर थोप रहा हो, बहरहाल...।

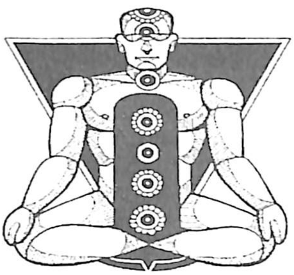
गुरु की योग्यताओं को परिभाषित व विश्लेषित करने वाले तथा उचित अनुचित के सम्बन्ध में शास्त्र सम्मतता को ही प्रमाण सिद्ध करने वाले सैकड़ों श्लोक, मंत्र, ऋचाएं या श्रुतियां पाठकों की सन्तुष्टि के लिए दी जा सकती है। किन्तु उससे पुस्तक के बहुमूल्य पृष्ठों का अपव्यय होगा और पुस्तक मूल विषय से दूर हो जाएगी। इसलिए ऐसा प्रयास नहीं कर रहा हूं। मगर प्रबुद्ध पाठकों के शंकासमाधानार्थ और अपने कथन की पुष्टि के लिए इतने प्रमाण भी बहुत हैं। क्योंकि समझदार को इशारा काफी होता है और कुण्डलिनी जैसे गहन विषय से सम्बन्धित पुस्तक का अध्ययन के लिए चयन करने वाले पाठकों से सहज ही समझदारी की प्रबल आशा की जा सकती है।

संक्षेप में इतना ही कि पाठक इस विषय में (विशेषकर) गुरु को चुनने की

दिशा में पूर्ण सावधानी बरतें और इस विषय पर प्रकाशित (मेरी या अन्य किसी श्री विद्वान की) किसी पुस्तक मात्र को भी गुरु अथवा सम्पूर्ण समझने की भूल न करें। ऐसी पुस्तकें मात्र 'क्मेन्ट्री' या विषय को सरलता से समझाने का प्रयास भर होती हैं। अतः गहराई में जाने वाले पाठकों अथवा साधकों को इस विषय से सम्बन्धित मूल पुस्तकें, मूलग्रन्थ अवश्य ही देखने चाहिएं। ऐसे मूल ग्रन्थों में पाठकों के सम्मुख मैं दो चार प्रमुख नाम भी अवश्य ही रखना चाहूंगा, जो इस प्रकार हैं—

पातञ्जल योग प्रदीप, वामकेश्वरतन्त्र,
रुद्रायामल तन्त्र, घेरण्ड संहिता,
गोरक्षसंहिता, शिवसंहिता,
हठयोगप्रदीपिका योगदर्शन,
अष्टावक्रगीता, गीता,
योगतत्त्वोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद
योगकुण्ड्ल्योपनिषद् आदि।

❑❑



12
अभ्यास-खण्ड
सफलता के लिए आवश्यक

कुण्डलिनी और चक्रों को विधिवत समझ लेने के बाद अब हम कुण्डलिनी जागरण के विभिन्न उपायों व पद्धतियों की चर्चा करेंगे। किन्तु उन उपायों से पूर्व कुछ ऐसे प्रारम्भिक परन्तु महत्त्वपूर्ण उपायों की चर्चा की जानी आवश्यक है जो आपको कुण्डलिनी जागरण के उपाय करने की सामर्थ्य अथवा योग्यता प्रदान करते हैं। आगे बढ़ने के लिए एक उचित आधार व शक्ति देते हैं तथा प्राप्त होने वाली चमत्कारिक शक्तियों को संभालने व इस प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों को झेलने के योग्य बनाते हैं। दूसरे शब्दों में आपके भीतर 'पात्रता' उत्पन्न करते हैं।

पात्रता

यह 'पात्रता' शब्द बहुत सटीक और व्यापक है। पात्रता—'पात्र' शब्द से बना है। पात्र का अर्थ है—बर्तन, सामर्थ्य, शुद्धता, क्षमता, ग्राह्यता, योग्यता, सहेजने में समर्थ, रिक्तता या सम्भावना वाला। इस प्रकार पात्र शब्द बहुत से अर्थों से संयुक्त है। यदि हम समुद्र को देंखे, वह अथाह जल राशि का स्वामी है। उससे कोई भी जल ले सकता है। वह रोकता नहीं, विरोध नहीं करता। पक्षपात भी नहीं करता। फिर भी उसके पास लाने गया प्रत्येक व्यक्ति समान मात्रा में जल नहीं ले जा पाता। जिसके पास ड्रक या टैंक है वह उतना ले जाता है। जिसके पास बाल्टी है वह कम ले जाता है। लोटे वाला और कम, गिलास या कटोरी वाला और भी कम और चम्मच वाला, ना के बराबर जल ले जा पाता है। यह उदाहरण 'पात्रता' का महत्त्व सिद्ध करने को काफी है।

जिसके पास जैसा और जितना पात्र होगा, जो जितना समेट-सहेज सकेगा, जिसकी झोली जितनी बड़ी और मजबूत होगी, वह उतना ही ले जा सकेगा। यह भी सम्भव है कि झोली बड़ी हो, पूरी भर ली जाए और ले जाते समय फट जाए। अत: सामर्थ्य, क्षमता और सहेजना यह भाव भी 'पात्रता' में शामिल है। यह भी मुमकिन है कि पात्र में पहले ही से कोई पदार्थ भरा हो, तब उसमें नया पदार्थ आ ही नहीं पाएगा। अत: ग्राह्यता, रिक्तता और सम्भावना का भाव भी पात्रता में शामिल है। यह भी सम्भव है कि पात्र में कोई ऐसा पदार्थ भरा हो, जिसमें नया पदार्थ ग्रहण कर लेने की सम्भावना/ग्राह्यता तो हो किन्तु उससे नया पदार्थ शुद्ध न रहे, दूषित हो जाए।

(जैसे पात्र में मिट्टी हो जिससे उसमें भरा जल कीचड़ में बदल जाए आदि)। इसीलिए पात्रता के साथ शुद्धता का भाव भी निहित रहता है। जमा-जोड़ यह कि 'पात्रता' का अर्थ अत्यंत व्यापक है। इसको भली प्रकार समझ लेना चाहिए। पात्रता के अभाव में उपलब्धि असम्भव होती है। जैसे वर्षा का जल चट्टानों पर बह जाता है, किन्तु गढ़ों में एकत्रित हो जाता है। अत: जहां सम्भावनाएं कुंठित हों अथवा ग्रहण करने की क्षमता ही न हो (पात्र का ढक्कन बंद हो) वहां लम्बे समय तक जल में डूबे रहने के बाद भी पात्र में जल प्रविष्ट नहीं होता। तभी तो कहा है— **'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।'** (ब्रह्मा के समान गुरु पाकर भी मूर्ख/जड़ हृदय में चेतना/विवेक जागृत नहीं होता)।

गुरु-मार्गदर्शन करता है। प्रेरणा देता है। उत्साहित करता है। शंकाएं, भय व समस्याएं दूर करता है। मंत्र व गुर देता है। शिक्षा-दीक्षा देता है। मजबूत धरातल भी देता है। ज्ञान, प्रकाश व आशीर्वाद देता है किन्तु पात्रता को उत्पन्न करने के लिए शिष्य को ही प्रयास करना होता है। यह निजी गुण है। यह अभ्यास, साधना, तप, संयम व संस्कारों द्वारा प्राप्त होता है। गुरु-कृपा वश शक्ति शिष्य को देना भी चाहे तो भी तब तक नहीं दे सकता, जब तक शिष्य में पात्रता न हो। वह सुपात्र हो या कुपात्र हो, यह अलग मुद्दा है। इससे तो शक्ति या विद्या का सदुपयोग व दुरुपयोग सम्बन्धित है। किन्तु सद् और असद प्रयोग तो तभी होगा जब पहले शक्ति संचय होगा और संचय तब होगा, जब पात्रता होगी। अत: सुपात्र हो या कुपात्र किन्तु शक्ति की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति का 'पात्र' होना अनिवार्य है। इसलिए उच्चतर व मूल साधनाएं करने से पूर्व प्रारम्भिक अभ्यासों द्वारा स्वयं में पात्रता उत्पन्न करना अनिवार्य है।

पात्रता उत्पन्न कर लेना 50 प्रतिशत सफल हो जाना है। फिर पात्रता को बढ़ाया जाता है और कुण्डलिनी जागरण काल के सुअवसर की सजगता व धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की जाती है। आपने दुनिया भर के आकर्षक किन्तु हलके विषयों को छोड़कर यह शुष्क किन्तु गम्भीर विषय अध्ययन के लिए चुना है, इससे सिद्ध होता है—आप सामान्य श्रेणी से ऊपर के हैं और आपमें पात्रता उत्पन्न कर लेने की सम्भावनाएं हैं। इसके लिए मेरी ओर से साधुवाद स्वीकार करें।

किन्तु! यदि पुस्तक को (इस पुस्तक को) पढ़ने के पीछे आपका उद्देश्य मात्र ज्ञानवर्धन, जिज्ञासा शांति और आत्मसंतुष्टि था, तो वह अब तक पूर्ण हो गया है। पुस्तक का शेष भाग आपके लिए उपयोगी नहीं है। लेकिन यदि आपने कुण्डलिनी जागरण के लिए दृढ़ निश्चय कर लिया है और वास्तव में योगसाधना के इच्छुक हैं। तब पुस्तक का आगे का भाग आप के लिए अति उपयोगी है और यदि बरसाती मेंढक की भांति पुस्तक को पढ़कर अथवा अन्य कारणों से आपके भीतर योग साधक बनने का क्षणिक उबाल आ गया है (तो आप साधना करें, या न करें—उसे

तो ठंडा हो ही जाना है, परन्तु) तब पुस्तक का यह अध्याय आपको अनिवार्य रूप से पढ़ना चाहिए। क्योंकि **अधूरी साधना उपद्रवकारी व खतरनाक होती है।** कहा जाता है कि—**'नीम हकीम ख़तरा ए जान, नीम मुल्ला ख़तरा ए ईमान।'** (आधा चिकित्सक प्राणों के लिए और आधा मुल्ला/कर्मकाण्डी धर्म के लिए खतरा होता है)। मैं इसमें एक पंक्ति और जोड़ना चाहूंगा कि—**'नीम आलिम ख़तरा-ए-जहान'** (आधा ज्ञानी तो पूरे संसार के लिए ही ख़तरा है। संसार में वह खुद भी शामिल है)।

अतः किसी को भरी हुई बन्दूक देने से पहले या तीव्र वेग से भागने वाले उछृंखल, शक्तिशाली घोड़े पर बिठाने से पहले उसे समस्त प्रणाली/सावधानियां, लाभ-हानि आदि बता देने चाहिएं और उसके साहस, निर्णय, बुद्धि व संस्कार भी चैक कर लेने चाहिएं।

संकल्प शक्ति

संकल्प ही समस्त सफलताओं का मूल है क्योंकि यह लगन, हौंसले और निर्णय को टूटने नहीं देता। संकल्प तब होता है जब प्रबल इच्छा शक्ति, अटल आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय एक साथ हो जाते हैं। उर्दू में इसके लिए 'इरादा' शब्द प्रयोग किया जाता है, यानी 'दृढ़प्रतिज्ञ' हो जाना। इसे चलताऊ भाषा में 'ठान लेना' कहा जा सकता है।

किसी भी कार्य को करने के लिए मूलरूप से तीन शक्तियां आवश्यक हैं—ज्ञान शक्ति (काम को कैसे करें), क्रिया शक्ति (काम करना की दृढ़ इच्छा करना)। उदाहरण स्वरूप यदि आप रेलवे स्टेशन जाना चाहते हैं तो रेलवे स्टेशन की पहचान/लक्षणों का ज्ञान, उसकी अवस्थित दिशा का ज्ञान, मार्ग का ज्ञान, मार्ग की कठिनाइयों व उनके निवारण या बचाव का ज्ञान आदि होना चाहिए। इसे ज्ञान शक्ति कहा है। फिर मार्ग पर चलने, मार्ग की कठिनाइयों से जूझने व रेलवे स्टेशन तक पहुंच सकने की शक्ति या सुविधा (चलना या सवारी का अधिकार में होना) का होना भी आवश्यक है। अन्यथा ज्ञान होते हुए भी कार्य नहीं हो सकेगा। यह क्रिया शक्ति है। किन्तु इन दोनों शक्तियों के होने के बाद भी आप रेलवे स्टेशन क्यों नहीं जा रहे ? क्योंकि आपको वहां जाने की ज़रूरत या इच्छा नहीं है। ज़रूरत है भी तो मन नहीं कर रहा। लेकिन जिस दिन इच्छा होगी, मन करेगा या आप जाने के लिए तय कर लेंगे, उस दिन आप जरूर जाएंगे।

अर्थात्—जब तक आप संकल्प नहीं करते तब तक ज्ञान और कर्म आपकी कोई सहायता नहीं कर सकते। लेकिन जिस दिन आप ठान लेंगे, संकल्प कर लेंगे उस दिन ज्ञान न होते हुए भी (रास्ता पूछते-पूछते), शक्ति न होते हुए भी, घिसटते-घिसटते, जैसे-तैसे, देर-सवेर पहुंच ही जाएंगे। फिर भी क्रिया तो करनी ही पड़ेगी।

ज्ञान तो बटोरना ही होगा। अतः संकल्पशक्ति तीनों में श्रेष्ठ होते हुए भी ज्ञान व क्रिया शक्ति के साहचर्य से ही तीव्रता व निश्चिंतता से उपलब्धि कराने वाली होती है। ज्ञान के मामले में अनुभवी व्यक्ति/गुरु/श्रेष्ठ पुस्तक आपका पथ प्रदर्शित करती है। किन्तु संकल्प और क्रिया तो आप ही को करने होंगे। यह कोई हलवा नहीं कि बनाए कोई और खा कोई और ले। यह तो योग साधना है—जो करता है, वही पाता है। यह आत्मोत्थान की कला/विद्या है। अपनी ही आत्मा का कल्याण इसके द्वारा सम्भव है, दूसरे की नहीं।

इसलिए सर्वप्रथम संकल्पशक्ति का होना (प्रयोगात्मक क्षेत्र में जाने के लिए) आवश्यक है। संकल्प न होगा तो पुस्तक पढ़कर आप एक ओर रख देंगे। अभ्यास करने को प्रेरित न होंगे। प्रेरित भी होंगे तो नियमित न होंगे। नियमित भी हो गए तो निरंतर नियमित न रह सकेंगे क्योंकि नियमित होने के लिए संयम और निरंतर डटे रहने के लिए धैर्य, साहस व संकल्प—तीनों ही की आवश्यकता पड़ेगी। जमा-जोड़ यह कि बिना संकल्प के या तो शुरुआत ही नहीं होती। और महत्त्वाकांक्षा या उत्सुकता वश शुरुआत हो भी जाए तो वह कार्य बीच ही में छूट जाता है, सिरे तक नहीं चढ़ता। ज्ञान व क्रिया शक्ति तो पात्रता को/सम्भावना को उत्पन्न करती है। किन्तु संकल्प शक्ति सफलता को दिलाती है।

कई बार भाग्य के कारण, त्रुटि के कारण, भ्रम के कारण अथवा अन्य कारणों से सफलता नहीं मिलती अथवा संदिग्ध हो जाती है। किन्तु संकल्पशक्ति की दृढ़ता अन्ततः व्यक्ति को सफलता दिला ही देती है। अनेक ऐसे उदाहरण पुराणों आदि में प्राप्त होते हैं (जैसे 'जड़भरत' की कथा आदि) जिनमें साधक ने कई जन्मों में सफलता अर्जित की। अथवा विश्वामित्र तथा कण्डु ऋषि आदि की कथाएं जिन्होंने एक ही जन्म में साधना से पतित हो जाने के बाद भी अपनी संकल्प शक्ति द्वारा अन्ततः सफलता प्राप्त की। अथवा दुर्वासा ऋषि की कथाएं जो अत्यंत क्रोध के कारण हर बार प्राप्त शक्ति का क्षय कर लेते थे। परन्तु संकल्प के बल पर उसे पुनः हासिल कर लेते थे।

लगन व धैर्य

लगन और धैर्य न केवल पात्रता को ही उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, बल्कि संकल्प शक्ति को भी मजबूती देते हैं। तप को अधिक मूल्यवान व प्रभावशाली बनाते हैं और सफलता को सुनिश्चित करने मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यदि लगन न हो तो नियम और निरंतरता का पालन नहीं हो पाता और यदि धैर्य न हो तो व्यक्ति घबराकर, उकताकर अथवा निराश होकर साधना अधूरी छोड़ देता है। अतः लगन व धैर्य आवश्यक है और धैर्य की तो परीक्षा ही सदैव विषम स्थितियों में होती है। जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा भी है—

धीरज धरम मित्र अरु नारी।
आपतिकाल परखियेहुं चारी।

अधीरता वैसे भी सब कामों को गड़बड़ा देती है। जल्दबाजी में किए गए काम न केवल प्राय: असफल होते हैं बल्कि अन्य कामों को भी बिगाड़ते हैं, अथवा अन्य नुकसान भी कराते हैं। महत्त्वाकांक्षा की उच्चता, फल पाने की शीघ्रता और परिश्रम या लगन का अभाव अधीरता उत्पन्न करता है। दूसरों से प्रतियोगिता की भावना या उनकी उपलब्धियों से ईष्याग्रस्त होना और अपने बाहुबल पर भरोसा न होना इस अधीरता को और भी बढ़ा देता है। अधीरता से व्यग्रता और अशांति उत्पन्न होती है जिससे विवेकशक्ति, निर्णयक्षमता, दूरदर्शिता तथा विश्लेषणात्मक बुद्धि प्रभावित होते हैं। परिणामत: गलत निर्णय ले लिए जाने, भ्रमित हो जाने व स्थिरता खो देने के नतीजे सामने आते हैं—तो गतिहीनता, अकर्मण्यता व असफलता को सामने लाते हैं।

योग विद्या में या कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर तो जल्दबाजी या अधैर्य शत–प्रतिशत अकल्याणकारी है। STEP-BY-STEP सीढ़ी–दर–सीढ़ी आगे बढ़िए। एक पैर भूमि पर जम जाए तो दूसरा हवा में उठाइए। दोनों पैर एक साथ हवा में उठाने की शीघ्रता मुंह के बल नीचे गिरा देने का कारण बन सकती है। अत: छलांग लगाने की कोशिश हरगिज न करें। हर सीढ़ी, हर अभ्यास क्रमश: पात्रता को बढ़ाएगा। पात्रता जैसे–जैसे बढ़ेगी, शक्तियां वैसे–वैसे स्वत: ही प्राप्त होती चली जाएंगी। किन्तु सीढ़ियों को फलांगने से बिना पात्रता को बढ़ाए आप प्रगति करने का प्रयास करेंगे, जिसके परिणाम में असफलता, निराशा, पछतावा, विपरीत फल मिलना अथवा अन्य उपद्रव होंगे, जो घातक भी हो सकते हैं।

लगन, परिश्रम और कर्मठता की मां होती है। लगन व्यक्ति में प्रेरणा, स्फूर्ति, क्षमता व उत्साह बढ़ाती है। लगन के कारण व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक कर जाता है और सामर्थ्य से अधिक कर गुजरने के बाद भी श्रमित नहीं होता। लगन, नियम और निरंतरता को टूटने नहीं देती। अभ्यास को सदैव गतिशील रखती है साथ ही आशा और विश्वास को भी मजबूत बनाती है।

नियम, निरंतरता या अभ्यास का योगविद्या में महत्त्व क्या है ? यह बताना सूर्य को जुगनू दिखाना होगा। प्रत्येक विद्या अभ्यास से ही सिद्ध होती है। और अभ्यास छूट जाने पर कमजोर हो जाती है। तभी तो कहा है—**'अभ्यास करी च विद्या'** अथवा—

करत करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।

नियम या निरंतरता टूटी और अभ्यास भंग हुआ। अभ्यास भंग हुआ तो प्रगति अवनति में बदल गई। अत: निरंतर, नियम पूर्वक अभ्यास आवश्यक है। अन्य

विषयों के प्रलोभन, व्यस्तता, मन न लगना, आलस्य, प्रमाद, श्रम आदि अनेक कारण अभ्यास की निरंतरता में बाधक होते हैं। परन्तु लगन का पक्का आदमी सभी पर विजय पाता हुआ, मन को वश या नियंत्रण में करके अभ्यास बनाए रखता है। परिणाम सफलता व प्रगति के रूप में सामने आता है। शुरू में 20 पौंड का वजन उठाना भी जिसे कठिन लगता हो वह भारोत्तोलक अभ्यास की निरंतरता से ही आखिर 300-400 पौंड तक का वजन भी सुगमता से उठा पाता है।

क्योंकि अभ्यास की निरंतरता शनैः शनैः उसकी पात्रता को, उसकी शक्ति व सामर्थ्य को बढ़ाती है। वही भारोत्तोलक यदि जल्दबाजी में आकर प्रारम्भ में ही अधिक वजन उठाने का प्रयास करेगा तो सफल नहीं होगा अपितु अपनी कमर या पैर तुड़वा बैठेगा या नाभ सरकवा बैठेगा। अतः लगन और धैर्य दोनों का साधक में होना आवश्यक है बल्कि कहिए कि अनिवार्य हैं।

सजगता व सही दिशा

दृढ़ संकल्प व्यक्ति, जो लगन व धैर्य से सम्पन्न हो और पात्रता से भी सम्पन्न हो, वह भी विभ्रम, भ्रम, दिशाभ्रम, प्रमाद या सजगता के अभाव के कारण सफल नहीं हो पाता। या तो अवसर पहचान नहीं पाता या अवसर चूक जाता है, या यूं ही गलत दिशा में हाथ-पांव मारता रहता है। जबकि सजग व बुद्धिमान व्यक्ति अवसर को उत्पन्न कर लेता है। वैसे भी किसी विद्वान ने क्या खूब कहा है—'**अवसर के चेहरे पर बाल होते हैं, और उसका सिर गंजा होता है।**' (इसलिए आता हुआ वह सरलता से पहचाना नहीं जाता। और जाता हुआ सरलता से पकड़ में नहीं आता, फिसल जाता है)। यह बात सही है। ज़रा सी लापरवाही, ज़रा सी चूक आपकी बरसों की साधना को एक क्षण में व्यर्थ कर सकती है।

सजगता के साथ विभ्रम, दिशाभ्रम तथा प्रमाद—यह जो तीन अर्थ जुड़े हुए हैं, इन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इन्हें सरलता से समझने के लिए तीन छोटे से उदाहरणों का सहारा लेंगे।

रेलवे स्टेशन जाने का ही उदाहरण लें—पूरी लगन, धैर्य और इरादे से, पूरी ईमानदारी से चलते हुए भी शायद आप जिंदगी भर रेलवे स्टेशन न पहुंच पाएं, यदि आप उसकी विपरीत दिशा में यात्रा आरम्भ कर दें। अतः दिशा-ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। दिशा भ्रमित होने से ही भारत को खोजने निकला वास्कोडिगामा अमेरिका जा पहुंचा था और उसे ही भारत समझ बैठा था। बाद में यदि कोलम्बस ने भारत को न ढूंढ निकाला होता तो सारी दुनिया अमेरिका को भारत ही समझती रहती। ऐसी गलतियां ज्ञान के क्षेत्र में भी हो सकती हैं। यदि हमें दिशाभ्रम हो या हमें अपने लक्ष्य/गंतव्य की पहचान न हो। यही जानना काफी नहीं कि यात्रा कैसे और कहां से शुरू करनी है। यह ज्ञान भी आवश्क है कि यात्रा किस तरफ और कब तक करनी है। या यात्रा समास कहां करनी है।

दूसरा उदाहरण देखिए। आप रात में एक नाव में बैठे और नदी पार करने के लिए उसे खेना शुरू किया। रात भर नाव खेते रहे, मगर किनारे पर न पहुंचे। सुबह होने पर पता चला कि नाव की रस्सी तो खूंटे के साथ ही बंधी रह गई थी। यह अज्ञान और प्रमाद का एक उदाहरण है। प्रमाद का दूसरा उदाहरण यह कि नाव खेते हुए गंतव्य स्थल से आगे निकल गए। बाद में ध्यान हुआ तो पता चला कि जहां उतरना था वह स्थान तो पीछे रह गया। यानि लक्ष्य पहचानने में प्रमादवश चूक गए। इस प्रकार प्रमाद के अनेक उदाहरण हो सकते हैं।

विभ्रम के उदाहरण में आप सजग तो हैं किन्तु भ्रमित होकर रेलवे स्टेशन को बस अड्डा या बस अड्डे को रेलवे स्टेशन समझ बैठे और यात्रा समाप्त कर दी। (जबकि वह जारी रखी जानी चाहिए थी) अथवा यात्रा जारी रखी (जबकि वह बंद कर दी जानी चाहिए थी)। या जैसे अंधकार में रस्सी को सांप समझ बैठे और घर में जा छिपे। किवाड़ बंद कर लिए अथवा सांप को रस्सी के धोखे में उठा लिया और सर्पदंश के शिकार हो गए। भ्रम, विभ्रम, धोखा, मारीचिका, मिथ्या आभास, गलतफहमी आदि सब इसी के अन्तर्गत आते हैं। भ्रम का अर्थ ही है कि जो जैसा हो उसे वैसा न समझना या जो जैसा ना हो उसे वैसा समझना।

ज्ञान के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में तो इस प्रकार के संभ्रमों की और भी अधिक और व्यपाक सम्भावनाएं हैं। क्योंकि यह क्षेत्र औरों की अपेक्षा अधिक जटिल, अधिक उलझे हुए, अधिक क्लिष्ट, अधिक दुरूह, अधिक गहन, अधिक सूक्ष्म और अधिक रहस्यपूर्ण हैं। अतः सजगता, ज्ञान, दिशा आदि के सम्बन्ध में पूर्णता ज़रूरी है।

कुण्डलिनी जागरण के समय का 'स्पार्क' आपके प्रमाद या असावधानी से MISS हो सकता है। आप मंथन के बाद सर्वप्रथम निकलने वाले विष को अमृत समझकर भ्रमित हो सकते हैं अथवा विष की भयानकता या ऊष्णता से भयभीत होकर मंथन कार्य को अपूर्ण छोड़ सकते हैं। इस प्रकार न केवल बाद में निकलने वाले अमृत को आप MISS करेंगे बल्कि अपने इस कटु अनुभव के आधार पर (जिसका कारण आप ही की अल्पज्ञता, संभ्रम, दिशा भ्रष्टता या असावधानी होगी)। पूरी योग प्रणाली के सम्बन्ध में अपने मन में कोई अनुचित धारणा बना सकते हैं। और बाद में अपनी दुर्भावना व कटु अनुभव का प्रचार कर अन्य जिज्ञासुओं को भयभीत, त्रस्त, निराश अथवा 'मिसगाइड' कर सकते हैं। जो बड़ी भारी विडम्बना होगी।

सत्संग, चिन्तन व स्वाध्याय

जैसा व्यक्ति चिन्तन करता रहता है वैसा ही वह बन जाता है। पुरानी कहावत है और बहुत सही है—आदमी की सोच, उसकी कल्पना, उसके विचार, उसका

चिन्तन सब उसके मन-मस्तिष्क में सूक्ष्म परिवर्तन करते हैं। जिस विषय का वह चिन्तन करता है, उस विषय में डूबकर आनन्द लेने लगता है। अतः उस विषय में आगे बढ़ने की उसके अन्तर्मन में प्रेरणा होती रहती है। बार-बार का चिन्तन प्रेरणा को बलवती बनाता है। प्रेरणा उत्साह में बदलती है, उत्साह पहले तीव्र इच्छा में और फिर दृढ़ इच्छा में बदलता है, इच्छा की प्रबलता या दृढ़ता निश्चय को उत्पन्न करती है और निश्चय अंततः संकल्प के रूप में उभर कर सामने आता है। इस प्रकार चिन्तन अन्ततः क्रियात्मक रूप लेता है जैसे रस्सी के एक सिरे को यदि लगातार उमेठते रहे तो बल शनैः शनैः रस्सी के दूसरे सिरे पर पहुंच जाते हैं। अतः चिन्तन का भी अत्यंत महत्त्व है और चिन्तन को संगति या अध्ययन दो चीज़ें विशेष रूप से प्रभावित करती हैं।

जैसी व्यक्ति की 'कम्पनी' होती है या जैसा वह पढ़ता रहता है, उसी के अनुसार उसकी सोच/चिन्तन 'डेवलप' होता है। इसलिए पुस्तकों का उत्तम तथा संगति का श्रेष्ठ होना ज़रूरी है। यही सद्संगति और स्वाध्याय का महत्त्व है। संगति में व्यक्ति सुनता व देखता है। अध्ययन में पढ़ता है। बाद में इस सुने हुए को, पढ़े हुए को गुनता है। यही चिन्तन है। गुनकर उसे आत्मसात् करता है। आत्मसात् कर व्यवहार या प्रयोग में लाता है। प्रयोग में न लाया जाए, वह ज्ञान दिमाग में पड़ा हुआ भी उतना ही बेकार है, जितना पुस्तक में पड़ा हुआ। पुस्तक मस्तिष्क में रखी है या पुस्तकालय में बेकार है, यदि प्रयोग में नहीं ढाली गई। उलटे पढ़ने वाले के दिमाग में एक अहं और पलने लगता है कि मैंने अमुक विषय पर इतनी पुस्तकें पढ़ लीं। वास्तव में वे पढ़ी गई पुस्तकें यदि समझीं और प्रयोग में नहीं लाई गईं तो व्यक्ति उन पुस्तकों का केवल वजन ही ढोता है जैसे गधे की कमर पर पुस्तकें लाद दें तो गधा विद्वान नहीं हो जाता, मात्र उन पुस्तकों को वहन करता है। कहा भी है—

'यथा खरश्चंदन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य।' (जैसे चंदन के काष्ठ को ढोने वाला गधा मात्र उस काष्ठ के भार को जानता है, उसके मूल्य को नहीं)। इसीलिए तो आदि गुरु **शंकराचार्य** को कहना पड़ा—

पशोः पशुः यो न करोति धर्मं।
प्राधीत् शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः॥

(अर्थात्—पशुओं से भी पशु वह है जो धर्म का पालन नहीं करता। जिसे शास्त्रों को पढ़ लेने के बाद भी आत्मबोध नहीं होता)। अतः अध्ययन वही जिसमें 'स्व' सम्मलित हो। तभी 'स्वाध्याय' कहा गया। 'स्व' शामिल होगा तो पढ़ा हुआ समझ में आएगा। वरना किताब पर नज़र मारना या रटना होगा।

'स्व' को इनवॉल्व न करने पर कुछ लाभ नहीं है—न तो पढ़ने का, न तो संगति का और न ही जप-तप का। फिर सब पाखण्ड रह जाता है। कोरा कर्मकाण्ड रह जाता है—ऐसे ही लोगों के लिए *कबीर* को कहना पड़ा—

माला फेरत जुग भया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर।

इसलिए मन को 'स्व' को डुबोए बिना किए गए कार्य का न तो पूर्ण लाभ ही मिलता है न आनन्द ही होता है। यहां तक कि सम्भोग तक में आनन्द तभी आता है जब 'स्व' उस क्रिया में संलग्न हो। अन्यथा सम्भोग क्रिया भी यांत्रित हो जाती है। सम्भोग मैथुन में बदल जाता है। मैथुन में मात्र एक 'मिथुन' (जोड़ा) मिलता है जबकि—**सम्भोग (सम+भोग) तभी होता है, जब उस भोग में समता होती है। यदि विषमता हो, असंतुलन हो, विरोध हो, स्वेच्छा न हो तब वह मैथुन सम्भोग कहलाने के योग्य नहीं होता।** सम्भोग कहना है तो भोग से पहले समता आवश्यक है।

ठीक वैसे ही, जैसे '**संगति**' (**संग+गति**) **संग-संग गति करना है।** संग-संग का मतलब है लिपट कर चलना। लिपट कर चलने में विरोधाभास नहीं होता। आगे-पीछे या दाएं-बाएं चलने में खींचातानी हो सकती है, अवरोध हो सकता है, विषमता हो सकती है। लेकिन संगति में समता और संतुलन, लयबद्धता के साथ अवश्य ही होगा अन्यथा उसे 'संगति' नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे सरल किन्तु प्रभावशाली उदाहरण संगीत है जिसमें नर्तक, वादक और गायक तीनों ही संगति करते हों उनकी संगति 'सम' पर की जाती हो या संगति (ताल व लय को सुरों के साथ लिपट कर चलना) ही सौंदर्य उत्पन्न करती हो। संगति और शोर में संगति का ही अन्तर है। संगति ही रस उत्पन्न करती है। रस से विभोरता और विभोरता से एकाग्रता व आनन्द होता है। अतः सत्संग, स्वाध्याय व चिंतन आवश्यक है।

आहार व शुचिता

आहार, विहार और निद्रा—आयुर्वेद स्वास्थ्य के ये तीन आधार मानता है। इन तीनों का संतुलन ही स्वास्थ्य है। इनका गड़बड़ होना ही त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) को असंतुलित करके रोग उत्पन्न होना है। (मानसिक रोगों का प्रधान कारण कर्मों और विचारों में असंतुलन है) अतः आहार स्वास्थ्य और ऊर्जा प्राप्ति का प्रधान स्तम्भ है। यह 'ईंधन' के रूप में शरीर को गतिमान रखता है। इसलिए आहार का पौष्टिक व सुपाच्च्य होना अत्यंत आवश्यक है साथ ही आवश्यक है उसे सही प्रकार से सही समय पर खाना। और अपनी जिह्वा या स्वाद पर अंकुश रखना। क्योंकि स्वाद के चक्कर में आदमी रोगों को आमंत्रित करता है। कहावत है कि '**मनुष्य अपनी कब्र अपने दांतों से खुद खोदता है।**' अथवा '**भूखे रहकर कम लोग मरते हैं किन्तु ज्यादा खाकर अधिक लोग मरते हैं,**' सच है। बहुआहार, बार-बार खाना आलस्य, प्रमाद, स्थूलता, गुरुता व निद्रा के साथ रोगों को भी बढ़ाने वाला होता है और आयु को कम करने वाला।

जैसा कि कहा गया है—AS LONGER YOUR BELT, AS SHORTER YOUR LIFE. (आपकी बैल्ट जितनी लम्बी होती जाती है, पेट जितना बढ़ता जाता है, जीवन उतना ही कम होता जाता है।) क्योंकि पेट का बढ़ना, मोटा हो जाना रक्तचाप, हृदयाघात, मधुमेह, गैस, कब्ज, अपच आदि दर्जनों रोगों को उत्पन्न करता है। इसके अलावा जैसा कि धर्मग्रन्थों की मान्यता है कि—**'आदमी की रोटी व सांसें गिनती की होती हैं।'** यानि इनका कोटा लिमिटेड या फिक्स होता है। ऐसे में अधिक खाना या जल्दी-जल्दी, छोटी-छोटी सांसें लेना जीवन को कम कर ही देगा। जबकि कम खाने और गहरे लम्बे सांस लेने से (प्राणायाम—इसके विषय में आगे पढ़ेंगे) जीवन दीर्घ बनेगा। अतः भूख से सदैव कम खाना चाहिए और भली प्रकार चबा-चबाकर खाना चाहिए। इससे दांतों का काम आंतों को नहीं करना पड़ता। पाचनतंत्र पर जोर नहीं पड़ता। खाना शीघ्र पचता है तथा फुर्ती, ताजगी और सजगता बनी रहती है।

जीने के लिए खाओ न कि खाने के लिए जीओ। चटपटा, मसालेदार, तेल तला, गरिष्ठ भोजन हानिकर है। सप्ताह में एक उपवास या व्रत श्रेष्ठ रहता है। इससे पाचन तंत्र आदि को विश्राम मिलता है और व्यक्ति सर्वप्रथम भूख, प्यास व स्वाद के माध्यम से अपने मन को नियंत्रित करना सीखता है। संयम का यह प्रारम्भिक पाठ आध्यात्मिक साधनाओं में आगे अच्छा आधार बनाता है। भोजन का अपव्यय होना तथा खाद्य सामग्री की बचत का लाभ अलग होता है।

पाश्चात्य दर्शन और आधुनिक विज्ञान भोजन को कैलोरीज़ में तोलता है। प्रोटीन, वसा, खनिज, विटामिन्स आदि के आधार पर उसकी पौष्टिकता व गुणवत्ता को देखता है। यह स्थूल पैमाना है। भारतीय दर्शन, आयुर्वेद तथा अध्यात्म भोजन को गुण व संस्कार के आधार पर भी कसता है, जो कि सूक्ष्म पैमाना है। किन्तु सूक्ष्म कार्यों में सूक्ष्मतम बातों का ध्यान रखना ही पड़ता है। कबाड़ी की तराजू से सुनार की तराजू छोटी होती है परन्तु बहुमूल्य को तोलती है। सूक्ष्म तत्त्व या घटक को प्रभावित करने वाले कारण भी सूक्ष्म होते हैं। बड़े पेड़ को कभी-कभी एक आंधी भी नहीं हिला पाती, पर बाल को हिलाने के लिए एक फूंक भी पर्याप्त होती है। मन संस्कार आदि अति सूक्ष्म विषय हैं। अतः इनको प्रभावित करने वाले सूक्ष्म कारणों के प्रति सतर्कता तो बरतनी होगी।

गुणों के आधार पर सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन प्रकार का आहार माना गया है। आमिष भोजन (मांसाहार) तो निरा तामसिक है ही, तामसिक भोजन से तो खैर सभी को बचना चाहिए, परन्तु योग साधना वालों को सदा सात्त्विक आहार ही लेना चाहिए। इससे संस्कारों में शुद्धता आती है तथा सद्‌गुणों, सद्‌वृत्तियों, चैतन्यता, स्फूर्ति, हल्कापन, शान्ति, स्थितरता, विवेक, बुद्धि आदि का विकास होता है। जैसे गाय का दूध सात्त्विक, बकरी का राजसिक और भैंस का दूध तामसिक

माना गया है। **यही कारण है कि ऋषियों ने सब कुछ त्याग देने पर भी गाय को नहीं त्यागा।** गाय का मल, मूत्र, दूध, दही व घी (पंचगव्य) धार्मिक क्रियाओं तथा आयुर्वेदीय औषधों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है।

सात्त्विक भोजन भी मौन रहकर करना चाहिए। क्योंकि भोजन करते समय जैसे विचार भोजनकर्ता के मन व मस्तिष्क में होते हैं, भोजन का वैसा ही गुण उसे प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, खाना बनाने वाले तथा खाना परोसने वाले की मानसिकता का प्रभाव भी भोजन के संस्कारों को प्रभावित कर देता है। अत: योगी लोग प्राय: अपना भोजन स्वयं ही बनाते हैं अथवा अपने परिवार में ही भोजन करते हों (कम-से-कम होटलों या घर से बाहर कहीं तो बिल्कुल नहीं)।

आहार के साथ संस्कारों के शोधन के लिए शुचिता का भी बहुत महत्त्व है। शुचिता शब्द 'शौच' से बना है जिसका अर्थ है—मलों का निष्कासन कर, साफ व स्वच्छ होना। विकारों को नष्ट कर शुद्ध व निर्विकार होना। दोषों को नष्ट कर निर्दोष और पवित्र होना। पारदर्शी होना। यद्यपि इस विषय में हम अगले अध्याय में भी पढ़ेंगे, तो भी यहां इसकी चर्चा आवश्यक है। क्योंकि जिस 'पात्रता' का हम पहले जिक्र कर आए हैं उसमें रिक्तता, सम्भावना और ग्रहण करने की सामर्थ्य/ग्राह्यता का विशेष रूप से शुचिता के साथ गहन सम्बन्ध है।

मोटे तौर पर शौच या शुचिता का अर्थ मल विसर्जन तथा शरीरिक स्वच्छता से लिया जाता है। यह शुचिता के अर्थों में एक अवश्य है परन्तु सम्पूर्ण नहीं। शरीर की सफाई या स्वच्छता बाहर से, शरीर की स्वच्छता व सफाई भीतर से भी और शारीरिक कर्मों में भी। मन, विचार और बुद्धि में भी, वाणी में भी और अन्तरात्मा में भी। सभी स्थानों में शुद्धता, पवित्रता, निर्मलता व स्वच्छता होनी चाहिए। यही शुचिता का सम्पूर्ण अर्थ है।

शुचिता के अर्थों को भली प्रकार से जानना होगा। **यदि केवल स्नान से ही इसका सम्बन्ध होता** (बाह्य सफाई से) **और यदि पवित्रता का सम्बन्ध मात्र गंगाजल से होता तो गंगा में रहने वाली, नदियों में रहने वाली मछलियां सबसे शुद्ध और पवित्र होतीं क्योंकि वो तो नित्य स्नान की अवस्था में रहती हैं** (मगर वह सबसे अधिक दुर्गंध वाले जीवों में एक होती हैं)। अत: स्वच्छता या शुचिता का अर्थ केवल बाह्य शरीर से लेना सरासर भूल होगी।

मल है, तो सड़ांध है। विकार है तो अशुद्धता है। दोष है तो अपवित्रता है। भले ही बाह्य शरीर में, भले ही भीतरी शरीर में, भले ही मन-मस्तिष्क में, भले ही वाणी व विचार में, भले ही मन-मस्तिष्क में, भले ही वाणी व विचार में, भले ही कर्मों या भावों में, भले ही आत्मा में। जब तक मन, आत्मा या बुद्धि कलुषित हैं, जब तक बुद्धि, विचार व मस्तिष्क दूषित हैं, जब तक भाव, कर्म और वाणी

कपटपूर्ण, अशोभनीय, कटु या विकारग्रस्त हैं और जब तक शरीर के भीतर व बाहर मल शेष है। तब तक शुचिता पूर्ण अर्थों में लागू ही नहीं होती। जब इन सबका शोधन हो जाता है तब पवित्रता उत्पन्न होती है। जो 'पात्रता' में अति तीव्र विकास करती है। जल के भीतर गया रिक्त पात्र जैसे तुरंत जल को स्वयं में आकर्षित कर लेता है (अपनी रिक्तता, सम्भावना, ग्राह्यता या गुञ्जाइश के कारण) वैसे ही पवित्र व रिक्त मन आदि तुरन्त ही आध्यात्मिक शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यही 'पात्रता' का प्रभाव है।

किन्तु कीचड़ से भरे पात्र में डाला गया दूध भी जिस प्रकार दूषित या व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार कलुषित या मलिन मन आत्मा और इन्द्रियों वाले साधक को यदि अपनी संकल्प शक्ति के बल पर या भाग्यवश सिद्धियां या शक्तियां मिल भी जाती हैं तो वे न केवल व्यर्थ जाती और नष्ट होती हैं। बल्कि भय, उच्चाटन, अति तनाव, अपराध-बोध आदि अनेक मनोविकारों तथा ग्रन्थियों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। कई बार ऐसे साधक अर्ध विक्षिप्त, विक्षिप्त अथवा घोर मानसिक असंतुलन या असाध्य शारीरिक रोगों के शिकार भी होते हुए देखे गए हैं। अतः 'पात्रता' की पूर्णता उत्पन्न किए बिना ही 'शक्तिपात' या कुण्डलिनी जागरण के प्रयास कभी भी कल्याण कार्य नहीं कहे जा सकते।

शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा और वाणी की शुचिता तो बिना समझाए भी समझ में आती है (अतः इसको एक्सप्लेन करने में पृष्ठ सामग्री का अपव्यय नहीं करेंगे) लेकिन कर्मों की शुचिता के विषय में कुछ कहना आवश्यक महसूस होता है। क्योंकि मर्म को न जानने वाले लोग इसे दिखावा, ढोंग अथवा ड्रामेबाजी (नाटकीयता) समझ लेते हैं। कर्म की शुचिता में केवल कर्म ही नहीं कर्म करने के साधन, उपकरण आदि भी आते हैं साथ ही स्थान भी। इन सभी में शुचिता होनी चाहिए। स्थान की शुचिता से पूर्व साधनों व उपकरणों की शुचिता का वर्णन करेंगे, कर्मों की शुचिता सहित। (समूचों की व्याख्या अनावश्यक होगी। एक ही उदाहरण से सबको समझा जा सकता है, अतः व्यर्थ कलेवर वृद्धि नहीं करेंगे)।

साधनों व उपकरणों की शुचिता

आपने प्रायः विद्यार्थियों को अपनी पुस्तक या पेन आदि गिर जाने पर, अथवा उन पर पैर लग जाने पर (अनजाने में भी अपमान या तिरस्कार हो जाने पर) उन्हें उठाकर माथे से लगाते या चूमते अवश्य देखा होगा। ऐसे संस्कार विद्यार्थियों में डाले जाते थे कि वे विद्या का सम्मान करें। आज का पता नहीं, पहले तो प्रायः सभी बालकों में ये संस्कार हुआ करते थे। इसके अलावा ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रों का पूजन, क्षत्रियों द्वारा शस्त्रों का, वणिकों द्वारा तुला व बहीखातों का, मिस्त्रियों द्वारा अपने

औजारों का पूजन होता हुआ भी आपने अवश्य देखा होगा। यह आदर और व्यवस्था का भाव अपने साधनों या उपकरणों के प्रति शुचिता का उदाहरण है—कर्म से भी, मन से भी।

मोटे तौर पर यह सब अंधविश्वास या रूढ़िवादिता लगता है। मानो ढोंग हो रहा हो। किन्तु इसके बहुत से वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक लाभ हैं जबकि हानि केवल एक। वह यह कि आधुनिकता का चश्मा पहनने वाले कुछ अल्पज्ञ लोग जो प्राचीन होने के कारण ही ठुकरा देते हों। उसे गुण-दोष, लाभ-हानि जाने बिना वे लोग ऐसा करने वालों को व्यंग्य या उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। पर वास्तव में स्वयं वे ही व्यंग्य और उपेक्षा के पात्र हैं, अपनी हठधर्मिता या अल्पज्ञता और अपनी थोथी मानसिकता के कारण।

साधनों व उपकरणों के प्रति शुचिता का सबसे पहला लाभ यह है कि उपकरण व साधन स्वच्छ और व्यवस्थित रहते हैं जिससे देखने में भी अच्छा लगता है। साधनों व उपकरणों की आयु, टिकाऊपन, उनकी सुचारुता व कार्यक्षमता बढ़ती है। अवसर होने पर वे तुरन्त प्रयोग में लाए जा सकते हैं। उन्हें ढूंढने या दुरुस्त करने में अवसर हाथ से नहीं निकलता। इसके अलावा व्यक्ति को स्वच्छता, व्यवस्था और सलीके की आदत पड़ती है किन्तु यह सब छिट-पुट लाभ हैं। असली लाभ तो बहुत गहरे हैं, यद्यपि शनैः शनैः प्राप्त होते हैं।

जैसे—जो हमारी आजीविका में, सफलता या शक्ति को प्राप्त करने में हमारे सहयोगी हैं उनके प्रति कृतज्ञता या आभार का प्रदर्शन करना हमें धर्मभीरु व सद्गुणी बनाता है। अपने साधनों व उपकरणों के प्रति शुचिता या आदर रखने वाला उनका कोई दुरुपयोग करने की तो सोच भी नहीं सकता। जो अपने साधन, उपकरण आदि का दुरुपयोग नहीं कर सकता, वह भला उनसे प्राप्त की गई शक्ति का दुरुपयोग कैसे कर सकता है ? और जो अपने साधन व उपकरण को इतना आदर व सम्मान देगा, वह अपने बुजुर्गों तथा आदरणीय व्यक्तियों को कितना सम्मान देगा। उनके अनादर के बात तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। इस प्रकार एक मामूली-सा प्रत्येक व्यक्ति ऐसा संस्कारित होगा तो समाज स्वर्ग बन जाएगा। विश्वमैत्री, विश्व बंधुत्व और विश्व शांति के लिए नारे लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वतः स्थापित हो जाएंगे। यही तो भारतीय दर्शन है। **'वासुदेवाय कुटम्बकम्'** तभी तो सम्भव है और व्यक्ति का आत्मोत्थान, पात्रता, शुद्धता व पवित्रता इसी तरह के छोटे-बड़े नियमों के मन से पालन पर ही तो आधारित है।

अतः मन, वाणी, आत्मा, बुद्धि, विचार, शरीर व कर्म के साथ साधनों व उपकरणों की शुचिता भी नितांत आवश्यक है और साथ ही आवश्यक है—स्थान की शुचिता, किन्तु स्थान की शुचिता का अर्थ अपने घर, घर के आस-पास या साधना-कक्ष को मात्र साफ सुथरा रखना ही नहीं है। उसे पवित्र, निर्मल व निर्विकार

रखना भी है और यह मात्र अगरबत्ती जला देने या घंटा या शंख बजा देने से ही नहीं होता यह सब (यद्यपि **घंटा व शंख का नाद जहां तक जाता है, वहां तक के कीटाणुओं को वायुमंडल नष्ट करता है** पर यह सब भौतिक शोधन है)। उसको अपने कर्मों तथा विचारों द्वारा संस्कारित करने से होता है। बेहतर होगा कि इस मुद्दे को भी थोड़ा-सा विस्तार से लें।

स्थान की शुचिता

क्रिया, पात्र, स्थान और समय जब एक साथ साधे जाते हैं तब कार्य शीघ्र सिद्ध होते हैं। अत: स्थान को साधना भी परमावश्यक है। एक ही कार्य एक ही स्थान पर लम्बे समय तक करते रहने से उस स्थान में उस कार्य विशेष से सम्बन्धी संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। कर्ता ज्यों ही उस स्थान पर पहुंचता है उसकी मानसिकता स्वत: ही उस कार्य विशेष को करने के लिए तैयार हो जाती है, अथवा उसका 'मूड' वैसा ही हो जाता है। यदि उस स्थान पर केवल और केवल वही कार्य विशेष किया जाता रहे और अन्य कोई कार्य वहां न किया जाए। अन्य किसी कार्य के विषय में वहां सोचा भी न जाए, तो वह स्थान 'सिद्ध' हो जाता है। वहां आने वाले हर व्यक्ति (मात्र कर्ता ही नहीं) की मानसिकता वहां आते ही परिवर्तित हो जाती है और मूड वैसा ही हो जाता है, जैसा काम कि वहां पहले किया जाता रहा है। यही है स्थान की शुचिता का भावार्थ। यही है स्थान की पवित्रता या 'सिद्धि'।

उदाहरण के तौर पर—व्यायामशाला में जाते ही व्यायाम करने का मन होने लगता है। मंदिर में जाते ही मन में श्रद्धा व भक्ति का उदय हो जाता है। श्मशान में जाते ही उच्चाटन, निराशा व वैराग्य के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जीवन की क्षणभंगुरता का विचार आने लगता है। शौचालय में बैठते ही मलत्याग के लिए दबाव (प्रेशर) बन जाता है। शयनकक्ष में जाकर पलंग पर लेटते ही नींद आने लगती है (बशर्ते कि शयनकक्ष को अन्य कार्यों में प्रयुक्त न किया जाता हो)। अथवा हस्पताल में जाते ही व्यक्ति की तबियत अनमनी, उदास और मानसिकता कुछ रुग्ण-सी होने लगती है आदि।

यह सभी उदाहरण बताते हैं कि **जिस स्थान पर जैसा कार्य लम्बे समय तक निरंतर किया जाए, वह स्थान उसी प्रकार से संस्कारित हो जाता है और वहां आने या रहने वाले के मन पर वैसा ही प्रभाव डालता है।** पाठक इसे इकोलॉजिकल इफैक्ट कह सकते हैं। किन्तु साइकोलॉजी को इफैक्ट कौन कर रहा है? और क्यों कर रहा है?—स्पष्ट है कि स्थान ही वह प्रभाव डाल रहा है और इसलिए, क्योंकि वहां एक कार्य-विशेष ही लम्बे समय तक किया जाता रहा है। कुछ तार्किक पाठक कह सकते हैं कि यह स्थान का नहीं, 'माहौल' का प्रभाव होता है। पर यह सही नहीं होगा। क्योंकि बहुत से वीरान स्थानों पर भी ऐसे प्रभाव देखे

जा सकते हैं। तपोवन आदि में आप जाएं तो मन तप करने को होता है। अजीब सी शांति वहां मिलती है। जबकि वहां ऋषियों द्वारा कभी तप किया गया था। आज वे माहौल बनाने के लिए तप नहीं कर रहे। बहुत से मन्दिरों के खण्डहरों या अवशेषों में (जहां पूजा का कोई माहौल नहीं होता)—जाकर भी सात्त्विक तथा आस्तिक भावों का उदय होता है। यह तर्क का नहीं, अनुभूति का विषय है। समझने का विषय है।

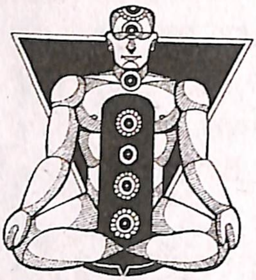
वास्तुशास्त्र और आयुर्वेद इसीलिए भूमि के संस्कार देखने और उसका पूजन करने पर बल देते हैं। (कूड़े खत्ते की ज़मीन, जहां लम्बे समय तक कूड़ा डाला जाता रहा है), बूचड़खाना (जहां पशुओं का वध किया जाता है), अथवा जहां भीषण नर संहार हुआ हो (वधस्थली/संग्रामस्थल) आदि भूमियों को निवास के योग्य इसीलिए नहीं माना जाता कि वह भूमि उसी प्रकार से संस्कारित होती है। यहां तक कि जैन मन्दिरों व श्मशान या कब्रगाहों के निकट भी आवास बनाने के लिए **वासुशास्त्र इसीलिए निषेध करता है कि उन स्थानों के संस्कार निकट क्षेत्रों को भी थोड़ा बहुत प्रभावित करेंगे।** उच्चाटन, अशांति, भय अथवा वैराग्य, उदासीनता या वीतरागिता का भाव उनके पड़ोस में रहने वाले दम्पत्तियों को प्रभावित करेगा और उनका गृहस्थ जीवन असफल व कष्टमय हो जाएगा।)

जमा जोड़ यह कि अन्य पहले बताई शुचिताओं के साथ स्थान की शुचिता का भी उतना ही महत्त्व है। और वह मात्र झाड़ू बुहारी या अगरबत्ती जलाने तक ही सीमित नहीं है। ऐसा करना तो पाखण्ड हो जाएगा, यदि क्रिया, भाव और विचारों द्वारा भी स्थान की शुचिता का ध्यान न रखा गया तो। इसलिए शब्दों के सम्पूर्ण अर्थों व मर्म को समझें। केवल शब्दार्थ ही नहीं भावार्थ पर भी ध्यान दें। तभी ग्रन्थों में बिखरे मोतियों का मोल समझ में आएगा। वरना उन्हें कंचे समझकर उनकी उपेक्षा हो जाएगी। शास्त्र को पढ़ाते समय जो गुत्थियों को सुलझाकर बताए, शब्दार्थ ही नहीं, भावार्थ भी बताए, यह भी गुरु की एक विशेषता है। खाली शब्दार्थ करना तो अनुवादक का कार्य है, गुरु का नहीं। कहीं-कहीं शब्दार्थ उलझा देता है, अतः कोरा शब्दार्थ किसी काम का नहीं होता।

जैसे—'मुर्गे ने बांग दे दी।' इसका शब्दार्थ हुआ कि मुर्गे नामक एक पक्षी ने आवाज़ कर दी। लेकिन भावार्थ है कि—'सवेरा हो गया।' जबकि सवेरा होने का जिक्र कहीं वाक्य में है ही नहीं। कोरा शब्दार्थी भटककर रह जाएगा। धर्मग्रन्थों में, योगशास्त्रों में *कबीर* के दोहों में ऐसी ही गुत्थियां मिलती हैं। खोल लीं तो अर्थ समझ में आया वरना बेकार। जैसे—

कबीरदास की उल्टी वाणी।
बरसे कम्बल भीगे पानी।

❑❑❑



13

कुण्डलिनी जागरण का मार्ग : *अष्टांग योग*

योग क्या है?

कुण्डलिनी जागरण में मूल रूप से दो ही उपाय हैं—योग और मंत्र। मंत्र-तंत्र आदि की चर्चा बाद में करेंगे, पहले योग की चर्चा करेंगे। जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है—योग का अर्थ है—जोड़ना या बढ़ाना। बढ़ाना अपने केन्द्रियकरण को, नियंत्रण को, मनोबल, आत्मबल व अपनी शक्तियों को और जोड़ना स्वयं को ईश्वर से, आत्मा को परमात्मा से, स्व को विराट से, सूक्ष्म को अनन्त से। 'चैनलाइज़्ड' कर देना खुद को परम के साथ। इस प्रकार योग एक पुल है जो स्व को परम से जोड़ता है। योग का अर्थ मात्र शारीरिक कलाबाज़ियां नहीं है। जैसा कि प्रायः समझ लिया जाता है। शास्त्रीय मत से—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥' —पातञ्जल योग प्रदीप

(चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।)

गीता के अनुसार—

तं विद्याद्दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।

अर्थात्—जो दुख रूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है। हठयोग, ध्यान योग, ज्ञान योग, सांख्य योग, कर्मयोग, भक्ति योग, प्रेमयोग के नाम तो हमने भी सुने हैं। आपने भी सुने होंगे। ये सभी योग की विभिन्न प्रणालियां हैं। इनमें हठयोग व ध्यानयोग कुण्डलिनी जागरण के लिए अधिक उपयोगी हैं। इनमें भी विशेष तौर पर ध्यान योग। (दूसरी ओर मंत्र और तंत्र दोनों कुण्डलिनी जागरण में सहयोगी रहते हैं—किन्तु मंत्र विशेष रूप से। इनकी चर्चा अगले खण्ड में करेंगे)। मगर आजकल एक और नाम 'मार्किट' में चल निकला है—'सहज योग'। जो ध्यान योग का ही विकृत और भ्रामक रूप है और शास्त्र सम्मत नहीं है।

योग तो सदैव सहज ही होता है। दुस्सहता तो पात्रता उत्पन्न करने में होती है। अतः 'सहजयोग' नाम ही भ्रामक है। 'मार्किट' शब्द का प्रयोग भी मैंने इसीलिए किया कि योग कोई दुकानदारी की चीज़ नहीं है। परन्तु कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं—बहरहाल! इस विवाद में हम नहीं पड़ेंगे। परन्तु जिज्ञासु पर अल्पज्ञ पाठकों को

'माया गुरुओं' के जाल से सावधान कर देना हमें युक्ति संगत मालूम होता है। अतः इतना अवश्य कहेंगे कि जो व्यक्ति सामूहिक कुण्डलिनी जागरण का दावा करे अथवा कुण्डलिनी जागरण कर देने का ही दावा करे—वही ठग है। क्योंकि दावा सम्भव ही नहीं होगा इस मार्ग में।

प्रत्येक व्यक्ति के गुण, स्वभाव व प्रकृति अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार और विकारों की भी अलग-अलग स्थितियां रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की मानसिकता, सामर्थ्य, पात्रता व लगन भी विभिन्न स्तरों की होती है। प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य भी अलग होता है। अतः निश्चित अवधि में एक ही मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल नहीं होता। कोई तंत्र मार्ग से सफल होने की सम्भावनाओं वाला होता है, कोई मन्त्र मार्ग से। कोई हठयोग से तो कोई ध्यान योग से। इतना ही नहीं, सम्भव है किसी को एक ही 'झटके' में सफलता मिल जाये। संभव है कोई अनगिनत झटके भी चूक जाए। यह भी सम्भव है कि पूरे जीवन किसी को 'झटका' ही न महसूस हो। ऐसे लोग भी हो सकते हों या हुए हैं जो जन्म जन्मान्तरों के बाद सफलता प्राप्त करते हैं। अच्छे-अच्छे योगी भी सिर पटककर रह जाते हैं और कुण्डलिनी जागृत नहीं होती। फिर भला इस विषय में दावा कैसे सम्भव है?

एक ही रोग की बहुत-सी औषधियां होती हैं। कौन-सी किसे देनी है? कब और कितनी देनी है? कैसे और कब तक देनी है? यह निर्णय कुशल वैद्य रोग की गम्भीरता, रोग की अवधि, रोगी की स्थिति, रोगी की अवस्था, रोगी की क्षमता, रोगी की प्रकृति व स्वभाव तथा ऋतु या समय के आधार पर लेता है। सबके लिए एक ही औषधि, एक ही अवधि तक और एक ही मात्रा में दे देनी कल्याणप्रद नहीं मानी जा सकती। और सच बात तो यह है, जो लाख रुपए की है कि जो व्यक्ति कुण्डलिनी जागृत कर लेता है वह नाम के लिए, यश के लिए, मान के लिए, धन के लिए, सुविधाओं के लिए अथवा अपने विकृत स्वार्थों की पूर्ति के लिए कभी—'तुम्हारी कुण्डलिनी भी जगा दूंगा।' ऐसा दावा करके चेलों की भीड़ नहीं जुटाता। उसे पोस्टर लगवाने या पब्लिसिटी की जरूरत नहीं होती। जब सूर्य उदय होता है अथवा फूल महकता है, तब सब स्वयं ही जान लेते हैं। उसे अपने प्रकाश या सुगंध को विज्ञापित नहीं करना पड़ता।

जो प्रदर्शन चाहता है, तालियां चाहता है, पैर छूने वालों की भीड़ या धनवर्षा चाहता है वह तो रीता हुआ है, पूर्ण नहीं। **पूर्णता में समस्त एषणाएं समाप्त हो जाती हैं। वह वास्तव में 'ब्राह्मण' कहलाने का अधिकारी हो जाता है।** जिसकी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है, जिसकी परम से लौ लग जाती है, जो सिद्धावस्था में पहुंच जाता है वह तो प्रचार से दूर भागता है। वह तो प्रकाश और सुगंध को भी इसलिए रोक देना चाहता है कि दूसरे लोग उसके 'आत्मोत्थान' को जानकर उसके पीछे न लगें और उसकी अपनी साधना में व्यधान न पड़े। हां, मगर 'नया-नया

मुल्ला ज्यादा अल्लाह-अल्लाह करता है।' नया-नया पहलवान हाथ चौड़े करके और सीना निकाल कर चलता है। किन्तु फलदार वृक्ष तो सदा झुकता है। ओछे व्यक्ति को थोड़ी-सी सफलता सहन नहीं होती। कहावत है कि '**ओटों के घर तीतर, बाहर रखें कि भीतर।**' अथवा '**चूहे को मिली कत्तर, बजाज बन गया।**' इसलिए, वह जो दिखावा कर रहा है, या तो थोड़ा-सा जानता है, या बिल्कुल ही नहीं जानता। या तो यश और मान चाहता है, दूसरों को प्रभावित करना चाहता है अथवा अपना उल्लू सीधा करने के लिए दूसरे को मूर्ख बनाना चाहता है।

मनुष्य के इस मनोविज्ञान को समझिए। नीति को समझिए। विश्वास कर लेने से पूर्व अपनी बुद्धि, ज्ञान व अनुभव के आधार पर किसी को तौलिए, फिर शास्त्र वर्णित सिद्धांतों पर। गुरु होना बड़ी बात है। लेकिन गुरु को पहचानना और भी बड़ी बात है। खासकर आज के युग में। जैसा कि स्वयं *कबीर* ने कहा है—

कबीरा सद्‌गुरु ना मिल्यौ, रही अधूरी सीख।
स्वांग अति का पहरिकर, घर-घर मांगे भीख॥

(जब कबीर के युग में ऐसी 'अंधेर' थी, कबीर को यह लिखना पड़ा। आज तो जब घोटालों, ठगी और विकृत स्वार्थ का युग है तब क्या 'सद्‌गुरु' अपने POSTER बांटता सहज ही मिल जाएगा?)

योग के आठ अंग

ध्यान योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। जैसा कि '**पातञ्जल योग प्रदीप**' में स्वयं महर्षि पातञ्जलि ने कहा है—'**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणा ध्यान समाध्योऽष्टावङ्गानि॥**' (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योग के यह आठ अंग हैं)। इनको क्रमशः इसी क्रम में अपनाना चाहिए।

यम

मन को शुद्ध व वश में रखने के लिए इनका पालन किया जाता है। ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। जैसा कि कहा है—'**अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः**' इनका मन कर्म व वचन से पालन किया जाना चाहिए। आइए इन पांचों को थोड़ा-सा समझें।

अहिंसा

मन, कर्म तथा वचन से किसी प्राणी को ज़रा भी कष्ट न देना 'अहिंसा' है। अहिंसा केवल मारपीट से दूर रहना या हत्या आदि न करना ही नहीं है अपितु किसी को भी कष्ट न देना अहिंसा है। न तो कर्म द्वारा (शरीर से), न ही वचन द्वारा (वाणी से/गाली देना/धमकी देना आदि) न ही वचन द्वारा (अर्थात् मन में भी ऐसा भाव

नहीं आना चाहिए)। यदि मन, कर्म तथा वचन से 12 वर्षों तक अहिंसा का पालन किया जाए तो साधक को कोई हिंसक नहीं कह सकता।

सत्य

मन, कर्म व वचन से सत्य का पालन करना 'सत्य' है। न मुख से असत्य बोलें, न मन में कपट या धोखे का भाव आए और न ही शरीर द्वारा ऐसा कार्य हो। ज्ञान या अनुभूति को बुद्धि द्वारा तौलकर जो अनुभव हो उसे ज्यों का त्यों प्रकट करना सत्य है। किन्तु उस प्रकटीकरण से किसी को दुःख नहीं होना चाहिए। यानि उसके लिए अहितकर व अप्रिय नहीं होना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ना ब्रूयात् सत्यं अप्रियम्।

(सच बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो।)

—मनुस्मृति

12 वर्षों तक ऐसा करने से मुख से निकला सत्य होता है।

अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है—ऐसे धन या सम्पदा को न लेना, जिस पर हमारा अधिकार न हो। जैसे किसी के स्वत्व का अपहरण करना, चोरी, छल से ले लेना, ठगी, विवशता का लाभ उठा कर ले लेना, दलाली/ब्लेकमेल, भीख लेना, या पड़ी हुई वस्तु उठा लेना अथवा दूसरे की वस्तु बिना उसकी अनुमति लिए छेड़छाड़ या प्रयोग करना आदि। यह सब स्तेय (चोरी) है। इसमें TAX की चोरी, दूसरों की रचनाओं की चोरी, रिश्वत आदि सब शामिल हैं—इनको मन, कर्म और वचन से न करना ही अस्तेय है। यानी करना तो है ही नहीं, ऐसा कहना भी नहीं है (जैसे किसी और की रचना/शेर अपने नाम से सुनाना) और ऐसा सोचना भी नहीं है। जो 12 वर्षों तक ऐसा कर लेता है, उसका सामान आदि कोई चुरा नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सभी प्रकार के मैथुनों का त्याग कर वीर्य की रक्षा करने से है। जैसा कि कहा गया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

ज़हनी, अय्याशी, मौखिक (अश्लील वार्तालाप) अय्याशी, नेत्रों द्वारा काम सुख लेना, कानों द्वारा, स्पर्श द्वारा काम सुख लेना तथा स्त्रियों का संग करना आदि सभी वर्जित हैं। समस्त इन्द्रियों, मन आदि का इस विषय में पूर्ण संयम ही ब्रह्मचर्य है। बारह वर्ष तक इसका हर प्रकार से पालन करने और मन में ऐसी कल्पना भी न आने देने पर शरीर असीम शक्तिवाला हो जाता है। किन्तु वीर्य क्षय किसी प्रकार भी (स्वप्न में भी) नहीं होना चाहिए। क्योंकि जैसा कि कहा गया है—

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्भृत्यौर्भयं कुतः।
(जब तक शरीर में बिन्दु/वीर्य स्थित है, तब तक मृत्यु का भय कहां?)

अपरिग्रह

अपरिग्रह का अर्थ है संचय ना करना। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मोह पूर्वक धन, सम्पत्ति, साधनों व भोग सामग्रियों का संचय करना परिग्रह कहलाता है। मन कर्म और वचन से परिग्रह का अभाव ही अपरिग्रह है। परिग्रह से ममत्व (ममता/मोह), लोभ तथा नवीन इच्छाओं की उत्पत्ति होती है। अतः अपरिग्रह आवश्यक है, बारह वर्ष तक ऐसा करने वाले के लिए सब अपने हो जाते हैं।

ये पांचों यम 'व्रत' भी कहे जा सकते हैं। यदि ये सार्वभौम स्थिति में हों तो 'महाव्रत' हो जाते हैं। जैसा कि कहा भी है—**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ (पांतजलयोगप्रदीप)** अर्थात्—जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित, सार्वभौम हो जाने पर ये 'महाव्रत' हो जाते हैं। यमों का महाव्रत हों जाना पूर्ण संन्यासी हो जाने का लक्षण होता है।

नियम

यम यदि मन व इन्द्रियों की शुद्धि व आत्मा के उत्थान के लिए हैं, तो नियम शरीर व बुद्धि को शुद्ध कर व्यक्ति में 'पात्रता' उत्पन्न करने में सहयोगी हैं। ये भी पांच ही हैं। **महर्षि पातञ्जलि** के अनुसार—'**शौचसंतोष तपः स्वाध्यायेश्व प्रणिधानानि नियमाः॥**' अर्थात्—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान—ये पांच निमय हैं। इनके विषय में भी हमें थोड़ा विस्तार में जाना उपयुक्त होगा।

शौच

शौच का अर्थ पूरी सफाई से है। इस विषय में पूर्व अध्याय में हम चर्चा कर ही चुके हैं। शरीर की बाहरी व आन्तरिक, वाणी, बुद्धि, विचार, मन, आत्मा, कर्म, साधनों तथा स्थान आदि की शुचिता ही शौच है। शास्त्रानुकूल एवं सद्कर्मों द्वारा कमाए गए शुद्ध भोजन को करना भी शुचिता के अन्तर्गत आता है। राग, द्वेष, क्रोध, काम, ईर्ष्या, मद, लोभ, अहंकार आदि सब विकारों व मलों से शुद्ध कर लेना मन की शुचिता है। पूर्ण शुचिता का पालन करने वाला ही पवित्र है। वही सद्पात्र है।

संतोष

कर्तव्यों का सजगता से पालन करना परन्तु अधिकार की इच्छा से मुक्त रहना, कर्मों को सजगतापूर्वक करना, किन्तु फल की इच्छा से मुक्त रहना, अथवा कर्तव्यों और कर्मों के परिणाम स्वरूप या प्रारब्ध से जो भी, जितना भी मिल जाए अथवा जैसी भी परिस्थितियों में रहने का संयोग हो जाए—उसी में प्रसन्न व संतुष्ट रहना। उससे अधिक की इच्छा न करना और कम की शिकायत न करना ही संतोष है।

संक्षेप में कामनाओं, तृष्णाओं तथा लालसाओं पर विजय पा लेना ही संतोष है। संतोष का पूर्ण पालन करने वाला ही समृद्ध व सम्पन्न है। वही शांत है। वही पूर्ण है। वही सबसे बड़ा अमीर है।

तप

अपने आश्रम, वर्ण, योग्यता व परिस्थितियों के अनुसार स्वधर्म का पालन करना। आत्मोत्थान तथा कुसंस्कारों को कुचलकर नवीन व सद्संस्कारों की स्वयं में स्थापना करना, और इन प्रयासों में जो भी मानसिक या शारीरिक कष्ट प्राप्त हों उन्हें सहर्ष सहन करना तप है। व्रत, उपवास, साधना आदि 'तप' के अन्तर्गत ही आते हैं। तप द्वारा अन्त:करण का शोधन होता है, तप द्वारा ही आत्मोत्थान होता है। योग्यताएं, क्षमता, शक्तियां, ज्ञान, सत्य और सुपात्रता की प्राप्ति होती है। तप करने वाला ही सबसे बड़ा वीर, सबसे बड़ा योद्धा है, वही महान है।

व्याख्या

जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के परिणाम स्वरूप मन का स्वभाव, प्रकृति व संस्कार बनते हैं और वे उन्हीं कर्मों की पुनरावृत्ति से और भी दृढ़ होते हैं। जैसे कागज को यदि एक स्थान पर मोड़ दिया जाए तो कागज में एक सिल्वट या शिकन पड़ जाती है। उसे जितना अधिक उसी दिशा में दबाया या फेटा जाएगा, शिकन उतनी ही गहरी, स्थाई व दृढ़ होती जाएगी। शिकन को निकालने के लिए कागज को विपरीत दिशा में मोड़कर बार-बार हाथ फेरना या दबाना पड़ेगा। इसी प्रकार **मन में पड़ी पुराने कुसंस्कारों की शिकनों को निकालने का प्रयास ही तप है। तप एक पैर पर खड़े रहना नहीं है।** इस बात को समझें।

सजा और साधना या दण्ड और तप में मात्र स्वेच्छा व प्रसन्नता का अंतर होता है। जब हम अपनी इच्छा के अनुसार परवश होकर, मजबूरी में, कोई कार्य या श्रम करते हैं, तब वह दण्ड या सजा कहलाती है। उससे कष्ट व दु:ख होता है किन्तु अपनी स्वेच्छा से, अनुशासन से, प्रसन्नता पूर्वक हम स्वयं उसी क्रिया या श्रम को करते हैं तब वह तप या साधना होती है। तब कष्ट में भी प्रसन्नता और संतोष का अनुभव होना। जैसे—जेल में कैदियों द्वारा श्रम और पहलवानों द्वारा किया जाने वाला श्रम जो वे शरीर निर्माण के लिए करते हैं। उद्देश्य और इच्छा सज़ा को तप में और तप को सज़ा में बदल देते हैं। जबरदस्ती, विवशतापूर्वक, इच्छा के विरुद्ध दिया गया धन-जुर्माना, हरण या लूट में आता है। जबकि इच्छापूर्वक, अपनी खुशी से दिया गया धन-दान, त्याग व परोपकार की गिनती में होता है और वही फलीभूत भी होता है। अत: 'तप' को गम्भीरता से समझें। तप कहीं सजा में न बदल जाए। अथवा तप को हम पाखण्ड न समझ लें।

स्वाध्याय

स्वाध्याय के विषय में भी पिछले अध्याय में कुछ चर्चा की जा चुकी है। फिर भी संक्षेप में यह समझिए कि जिसके द्वारा कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध हो सके—ऐसी पुस्तकों, ग्रन्थों व शास्त्रों आदि का नित्य अध्ययन, उसका चिन्तन, मनन और फिर जीवन में उसका अमल ही स्वाध्याय है। कुछ विद्वान इसी के अन्तर्गत ईष्टदेव का 'जप' भी मानते हैं। कुछ विद्वान जप को ईश्वरप्रणिधान के अन्तर्गत मानते हैं। बहरहाल, अध्ययन के मामले में सभी एकमत हैं। किन्तु सद् साहित्य को ही पढ़ा जाना चाहिए। पढ़कर गुना जाना चाहिए और फिर उसके निष्कर्ष को अपनाना चाहिए।

ईश्वर-प्रणिधान

अपने अहं आदि का त्याग करके समग्र रूप से ईश्वर को ही समर्पित हो जाना, उसी के आश्रित हो जाना, उसी के शरणागत हो जाना, जैसे वह नचाए वैसे ही नाचना—ईश्वर प्रणिधान है। जो हो रहा है, जैसे हो रहा है, उसे वैसे ही होने देना। बीच में अपनी बुद्धि या अहं को न लाना यही ईश्वर प्रणिधान है। इसमें साधक का सम्पूर्ण समर्पण हो जाता है, वह 'कर्ता' न बनकर 'द्रष्टा' या 'माध्यम' बन जाता है।

व्याख्या

सत्य तो यही है कि ईश्वर की इच्छा के विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता। अतः जो होना है वह होकर रहता है और जो नहीं होना है, वह कभी नहीं होता। किन्तु मनुष्य का अहं, उसका कर्तापन का बोध, प्रभु की माया/लीला का प्रभाव ऐसा है कि मनुष्य स्वयं को भ्रमवश कर्ता मानकर सुखी या दुःखी होता रहता है। गर्वित या पछताता रहता है और जितना वह ऐसा करता है—उतना ही वह माया की दलदल में फंसता जाता है। प्रायः व्यक्ति सफलता का श्रेय अपने को, अपनी बुद्धि व दूरदर्शिता को अपने प्रयासों को देता है। किन्तु असफलता का कारण वह सदैव भाग्य को ठहराता है। अपनी भूलों या त्रुटियों को नहीं। जबकि तत्त्वतः वह न तो सफलता के लिए जिम्मेदार है, न ही असफलता के लिए। जैसा कि कहा गया है—

हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ।

(हानि लाभ, जीना मरना, जय-पराजय, सफलता, असफलता, बदनामी ख्याति आदि सब विधि के हाथ होते हैं। मनुष्य युद्ध कर सकता है, उसी पर उसका अधिकार है। किन्तु जीत या हार पर उसका कोई अधिकार नहीं है)।

इसीलिए *गीता* में सदैव प्रसन्न रहने का बड़ा सटीक तथा लॉजिकल नुस्खा दे दिया गया है—**अचिन्तित न चिंतति धीमान** (बुद्धिमान जन अचिंत की चिंता नहीं करे। अचिंत यानि जो हमारी सामर्थ्य से परे हैं)। युद्ध में अपने को कर्ता मानने के

कारण मोह ग्रस्त हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता में कर्मयोग व ईश्वर प्रणिधान का ही संदेश दिया है।

चेतसा सर्वकर्माणिमयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव॥

—*श्रीमद्भागवत् गीता*

'इसलिए हे अर्जुन! तू सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके, मेरे परायण होकर, समत्व बुद्धि रूप—(दु:ख सुख सभी को समान मान कर) निष्काम कर्मयोग का अवलम्बन करके निरन्तर मेरे में ही चित्त वाला हो।' और यदि—

'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥'

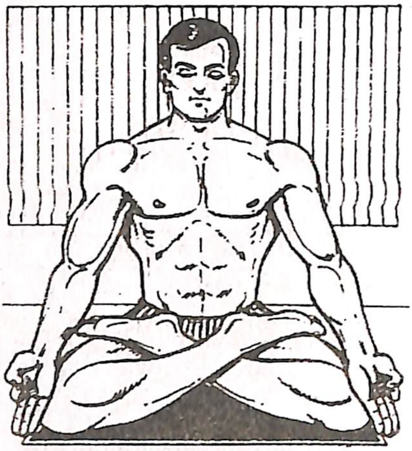
(यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा/मानेगा, तो नष्ट हो जाएगा अथवा परमार्थ को प्राप्त नहीं कर सकेगा, भ्रष्ट हो जाएगा)।

आसन

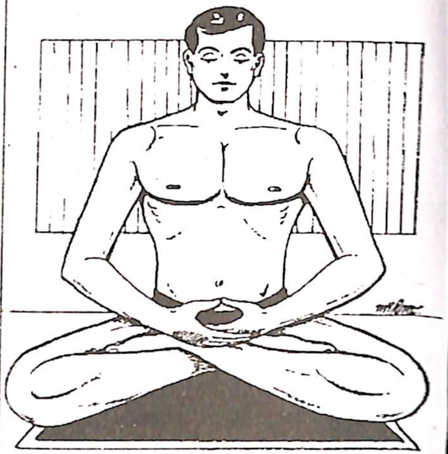
शरीर को निरोग, चुस्त व शक्ति सम्पन्न बनाए रखने के लिए आसनों की (प्रमुख 84) उनके भेदों व उपभेदों सहित व्यवस्था की गई है। इन्हीं के अन्तर्गत स्थूल यौगिक व्यायामों और सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं (षट्कर्म/धौति, नौली, नेति, कुंजल, वस्ति, शंख प्रक्षालन आदि) को भी ले लेते हैं जो शारीरिक अवयवों और प्रमुख संस्थानों की भीतरी शुद्धि करती है। परन्तु यह सब हठयोग के विषय हैं। (इस पूरे प्रसंग पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की आवश्यकता पड़ेगी। अत: इन्हें यहां चर्चा में नहीं ले रहे हैं। इच्छुक पाठक गोल्ड बुक्स इंडिया से ही प्रकाशित मेरी पूर्व पुस्तक '*सम्पूर्ण योग शास्त्र*' देख सकते हैं)। अत: यहां हम ध्यान योग में आसनों की बात करेंगे। ध्यान योग में आसन की आवश्यकता बैठकर ध्यान करने के लिए पड़ती है। इस मामले में आसन को सिद्ध किया जाता है। ताकि एक ही मुद्रा में सुखपूर्वक, बिना हिले-डुले दीर्घकाल तक बैठा जा सके और थकान आदि के कारण एकाग्रता या ध्यान भंग न होने पाए। जैसा कि **पातंजलयोग प्रदीप** में भी कहा गया है—'**स्थिरसुखमासनम्।**' अर्थात्—सुखपूर्वक, निश्चल/स्थिर बैठे रहने का नाम आसन है। आसन की सिद्धि हो जाने पर द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। मौसम, कष्ट आदि को सहने की सामर्थ्य शरीर में आ जाती है।

ध्यान योग आसनों में--पद्मासन, सिद्धासन, समासन, स्वास्तिकासन, वज्रासन, गौमुखासन, अर्ध-पद्मासन तथा सरलासन आदि प्रमुख हैं। इन आसनों के साथ मुख्य रूप से 'मूलाधार बन्ध' लगाना अनिवार्य होता है। आवश्यकतानुसार 'उड्डियान बन्ध' तथा 'जालंधर बंध' भी लगाए जाते हैं। **बिना मूलाधार बन्ध लगाए कुण्डलिनी जागरण का प्रयास निरापद नहीं होता। इसमें कुण्डलिनी के जागृत होकर ऊपर उठने के आघात से वीर्य या मूत्र निकल जाने की तीव्र आशंका**

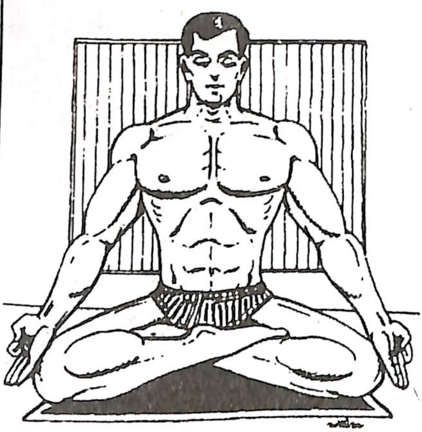
कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी कुछ ध्यान योगासन



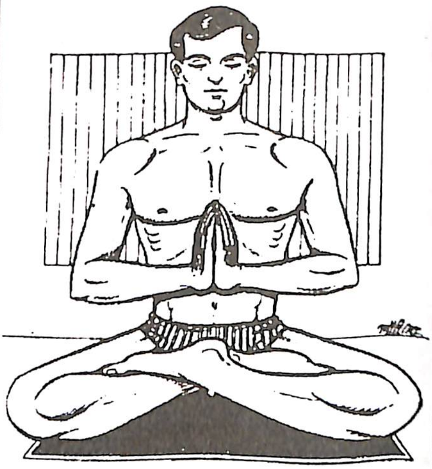
पद्मासन



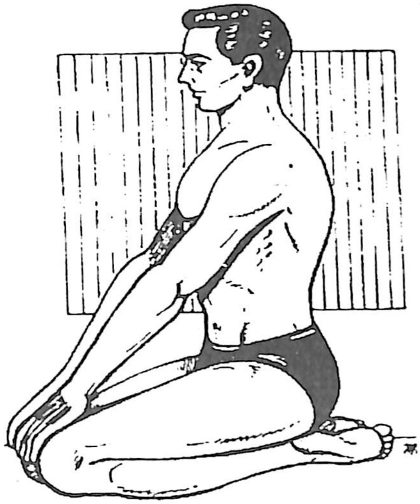
सिद्धासन



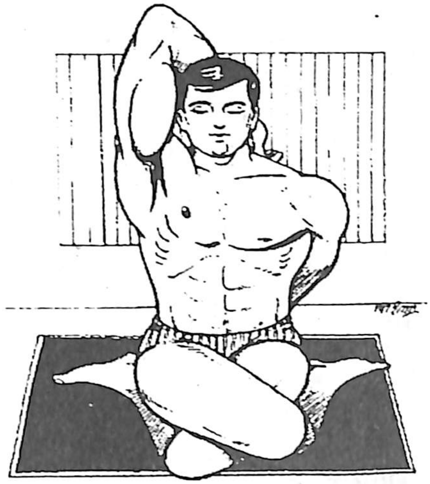
स्वास्तिकासन



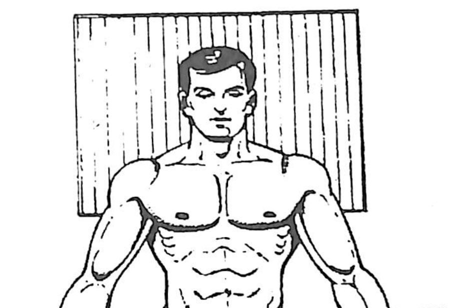
समासन



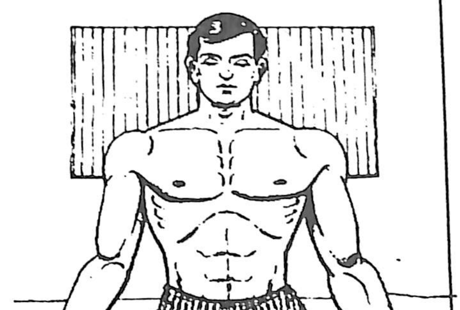
वज्रासन



गोमुखासन



अर्ध-पद्मासन



सरलासन

रहती है तथा अन्य उपद्रव भी संभावित होते हैं। अतः 'मूलाधार बन्ध' अवश्य लगाना चाहिए।

(सम्पूर्ण योग शास्त्र में इन सब विषयों को पाठक विस्तार से पढ़ सकते हैं) यहां इसकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

सावधानी

पद्मासन, अर्धपद्मासन, सुखासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन, वज्रासन या गोमुखासन (गुरु मछेन्द्रनाथ तो मत्स्यासन का प्रयोग करते थे, किन्तु उसका अभ्यास काफी जटिल है)—आदि में से ध्यान के लिए किसी भी आसन को चुनें, किन्तु मेरुदण्ड और गर्दन सीधी रहे, इस विषय में सतर्क रहें। कमर में झोल या गर्दन में झुकाव का रहना न केवल आपको शीघ्र थका देगा, बल्कि आपका 'पोस्चर' भी बिगाड़ देगा और कुण्डलिनी जागरण की क्रिया में मददगार नहीं होगा। सौभाग्यवश कुण्डलिनी जाग भी जाए तो उसकी यात्रा में अवरोधक होगा। अतः इस विषय में पूर्ण सावधान रहें। जैसे ही झोल आता महसूस हो, वैसे ही कमर को सीधा करें। क्योंकि सीधी रखी जाने के बाद भी कुछ समय बैठने के बाद कमर धीरे-धीरे झुकने लगती है। यदि सावधान न हों तो इस झुकने का अहसास नहीं होता।

जिस आसन को भी आपने चुना है उसको अधिक-से-अधिक समय (बिना मुद्रा बदले या आराम किए) तक लगाए रखने का अभ्यास करें। जब तक वह आसन आपको 'सिद्ध' न हो जाए। आसन सिद्ध तब होता है (ध्यानयोग के लिए) जब कम-से-कम एक घंटा, बिना थकान या असुविधा के और बिना पैरों या मुद्रा को बदले—सुखपूर्वक उसी आसन में बैठे रहने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाए। उद्देश्य यही है कि ध्यान लगाते समय आसन की असुविधा, असहजता या थकान ध्यान को भंग न करे। उसमें बाधक न हो और ऐसा न हो कि कुण्डलिनी का जागरण होने ही जा रहा हो कि आपका ध्यान थकान या असुविधा की ओर चला जाए। बहरहाल, प्रारम्भ में आसन को सिद्ध करना है। अतः उसके सिद्ध हो जाने से पूर्व ध्यान आदि द्वारा कुण्डलिनी जागरण का प्रयास न करें। यह जल्दबाजी होगी। धैर्यपूर्वक शनैः शनैः आप प्रगति करेंगे तो लक्ष्य में निश्चितता रहेगी।

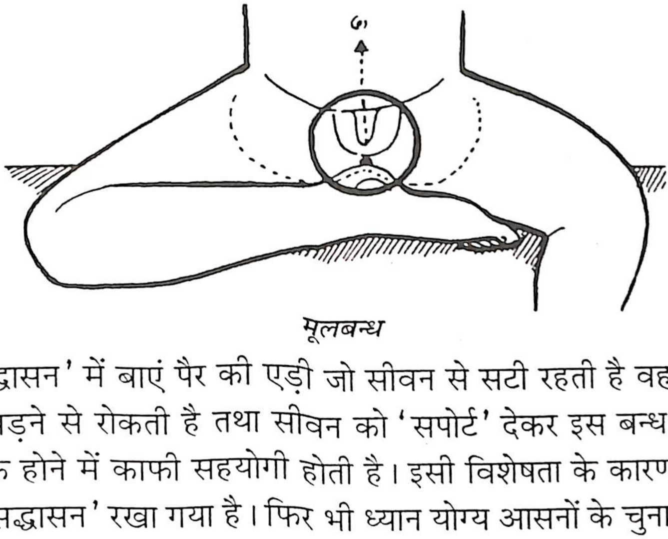
स्पष्ट कर दूं कि कमर सीधी व गर्दन सीधी रखने के प्रयास में शरीर को अकड़ाना नहीं है। इनको सीधा रखते हुए शरीर को RELAXED करना है। लेकिन RELAX करने में कमर में झोल न आने पाए अथवा पेट बाहर न निकले इस विषय में सावधान रहना है। अतः प्रारम्भ में आप दीवार के सहारे इस अभ्यास को करें तो बेहतर रहेगा।

बन्ध

आसन के साथ 'बन्ध' भी सिद्ध होने चाहिएं। संक्षेप में हम तीनों बन्धों की यहां चर्चा करेंगे।

मूलबन्ध

इसे मूलाधार भी कहते हैं। मूल (जड़/बेस) में यह बन्ध लगाया जाता है तथा सभी बन्धों में प्रथम (मूल/आधारभूत) बन्ध यही है अतः इसे मूलाधार बन्ध कहते हैं। इस बन्ध में जननेन्द्रिय, गुदा तथा 'सीवन' (जननेन्द्रिय एवं गुदा के मध्य का भाग) की मांसपेशियों को ऊपर या भीतर की ओर आकर्षित/संकुचित किया जाता है। (जिस प्रकार मल त्याग की क्रिया के समय मल के विसर्जित होने के साथ ही स्वतः ही गुदा की मांसपेशियों में संकोचन होता है।) इस संकुचन को कस कर अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रहना ही 'बन्ध' है। पूरी तरह कस कर लगाने के बाद भी थोड़े समय बाद गुदा व जननेन्द्रियों की मांसपेशियां स्वतः ही ढीली पड़ने लगती हैं। किन्तु सतर्क रहें। जैसे ही ढीलापन महसूस हो तुरन्त बन्ध को कसें। इस बन्ध का अभ्यास ब्रह्मचर्य में भी सहायक होता है तथा वीर्य को ऊर्ध्वमुखी करता है। स्तम्भन सामर्थ्य को भी बढ़ाता है।

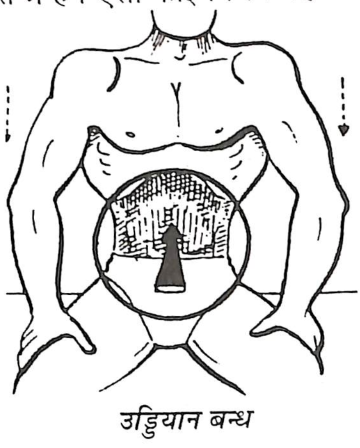


मूलबन्ध

'सिद्धासन' में बाएं पैर की एड़ी जो सीवन से सटी रहती है वह इस 'बन्ध' को ढीला पड़ने से रोकती है तथा सीवन को 'सपोर्ट' देकर इस बन्ध के स्थाई व दीर्घकालिक होने में काफी सहयोगी होती है। इसी विशेषता के कारण इस आसन का नाम 'सिद्धासन' रखा गया है। फिर भी ध्यान योग्य आसनों के चुनाव में, पाठक अपनी रुचि, पसन्द, सुविधा आदि के अनुसार स्वतन्त्र है। ऐसा कोई नियम नहीं कि सिद्धासन ही जरूरी हो।

उड्डियान बन्ध

इस बन्ध में नाभि प्रदेश को भीतर की ओर खींच कर रखा जाता है। पेडू, नाभि तथा नाभि से ऊपर के भाग को भीतर की ओर अधिकाधिक समय तक आकर्षित रखा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सांस को भी रोकना है या छाती को अकड़ा

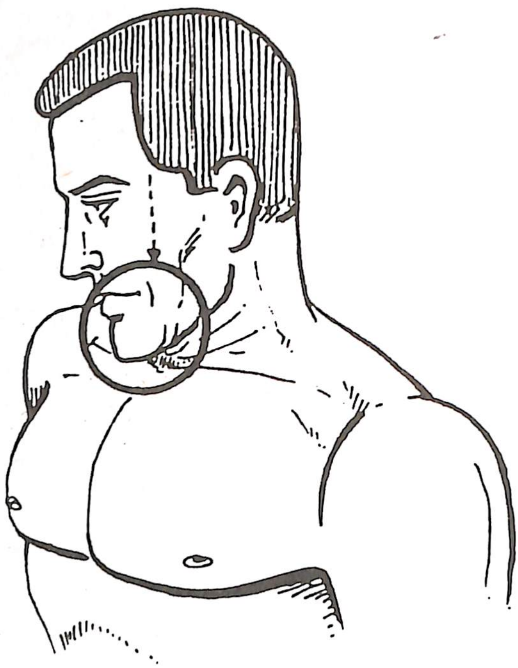


उड्डियान बन्ध

लेना है। जैसा कि हर बन्ध का नियम है।
सम्बन्धित भाग को आकर्षित/संकुचित रखते
हुए शरीर को ढीला रखना होता है। मूलाधार में भी जननांगों व गुदा प्रदेश को संकुचित करके शेष शरीर ढीला रखा जाता है।

जालंधर बन्ध

जालन्धर बन्ध में ठोड़ी को नीचे दबाते हुए कंठकूप में लगाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु गर्दन आगे को नहीं झुकनी चाहिए। ठोड़ी को कंठकूप में स्थापित करने से गर्दन की लम्बाई आगे की ओर से कम होती है, तथा उस स्थान व आसपास के नाड़ी जाल पर बन्ध लग जाता है। अत: इस बंध को 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। इस बन्ध में भी सम्बन्धित प्रदेश के अलावा शेष शरीर को ढीला रखा जाता है। किन्तु जैसा कि शुरू में भी कह आए हैं—शरीर ढीला छोड़ने का यह अर्थ नहीं कि कमर में झोल आ जाए या गर्दन झुक जाए। शरीर समसूत्र व सीधा रहना चाहिए, परन्तु RELAXED ।



जालंधर बन्ध

प्रारम्भ में बन्धों सहित आसन को सिद्ध करें। उस दौरान केवल ईश्वर का ध्यान करें अथवा शून्य में ही ध्यान लगाएं। (कुण्डलिनी जागरण का प्रयास आसन के सिद्ध हो जाने से पूर्व न करें)। और सब प्रकार की चेष्टाओं को शान्त करके मन को केन्द्रित करने का प्रयास करें। क्योंकि प्रयत्न की (चेष्टाओं की) शिथिलता से

तथा महाशून्य/परमात्मा में मन लगाकर अधिकाधिक समय स्थिर बैठने से आसन सिद्ध होता है। जैसा कि **महर्षि पातञ्जलि** ने कहा है—

'प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम।'

(प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में मन लगाए रखने से आसन सिद्ध हो जाता है)।

प्राणायाम

प्राणों का आयाम ही प्राणायाम है। श्वांस प्रश्वांस गति को रोक लेना/ठहरा लेना ही प्राणों का आयाम यानी प्राणायाम कहा जाता है। जैसा कि **'पातञ्जल योग प्रदीप'** में कहा भी गया है—**'श्वासप्रश्वास योर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'** अर्थात् प्राण वायु न तो शरीर में प्रविष्ट हो, ना ही बाहर जाए। श्वांस प्रश्वांस की गति रोक दी जाए—यही प्राणायाम है। पर प्रश्न उठता है कि श्वांस-प्रश्वांस की गति को रोकना/प्राणायाम करना क्यों आवश्यक है? इसका लाभ क्या है?

पहला और सामान्य लाभ तो यही है कि आयु की वृद्धि होती है। क्योंकि जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आदमी की रोटी और सांसें गिनती की होती हैं। अतः कम खाना तथा गहरी सांसें लेना अथवा उनका आयाम करना (ठहराना) आयु को बढ़ाने वाला होता है, इसके अलावा केन्द्रियकरण क्षमता, विचारशीलता, विश्लेषणात्मक शक्ति, दूरदर्शिता, निरीक्षण क्षमता, बुद्धि, स्मृति तथा शांति का विकास होता है। मन से अधीरता, व्यग्रता, चंचलता व अस्थिरता के भाव दूर होकर स्थिरता व शांति का उदय होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि प्राणों को वश में करने से मन वश में आता है। मन पर अपनी नियंत्रण शक्ति बढ़ती है क्योंकि प्राण व मन का गहन सम्बन्ध होता है। मन को वश में कर पाना अत्यंत दुष्कर है। किन्तु प्राण को वश में करना अपेक्षाकृत सरल है । अतः प्राण वश में करने से मन वश में आता है। मन को वश में करने से प्राण वश में आते हैं। क्योंकि दोनों सूक्ष्म स्तर पर अति गहन रूप से परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

जब मन उद्विग्न, बेचैन, भयभीत, परेशान, घबराया हआ, अशांत, अस्थिर या कामातुर होता है तब सांसों की गति भी तीव्र होती है किन्तु सांसों की गति को नियमित करते ही मन में स्थिरता व शांति का भाव आ जाता है। ऐसा पाठक कभी भी अनुभव करके देख सकते हैं—इसके अलावा शास्त्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। जैसे, श्रीमद् भवगत् *गीता* में स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुन्ती पुत्र! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में होता है। इसे वश में अवश्य करें क्योंकि—)

असंयात्मना योगो दुष्प्राय इति में मतिः।

(असंयमी व्यक्ति/मन को वश में न करने वाले पुरुष के लिए योग दुष्प्राय है—ऐसा मेरा मत है)।

उपर्युक्त प्रसंग में योग व प्राणायाम का महत्त्व अर्जुन को बताते हुए कृष्ण ने प्राणायाम के अभ्यास की बात कही है। (देखिए—भागवत् गीता, अध्याय-6, श्लोक-35)।

प्राणायाम के विधि-विधान, उनके भेद, लाभ-प्रभाव आदि की विस्तृत चर्चा हम कुण्डलिनी जागरण के अभ्यासों में करेंगे। यहां प्राणायाम के मुख्य तीन भेद—रेचक, पूरक एवं कुम्भक का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं।

श्वांस को फेफड़ों में शनैः शनैः पूरा भरना और उसे नाभि तक ले जाना 'पूरक' कहलाता है। श्वांस को वहीं रोके रखना 'कुम्भक' (आन्तिक कुम्भक) कहा जाता है। श्वांस को शनैः-शनैः बाहर बाहर छोड़ते हुए, फेफड़ों को बिल्कुल खाली कर देना 'रेचक' कहा जाता है और श्वांस को शरीर से बाहर ही रोके रखना (नवीन श्वांस का न लेना) 'कुम्भक' (बाह्य कुम्भक) कहलाता है। इस प्रकार का प्राणायाम—'प्रणवात्मक' कहा जाता है। क्योंकि इसमें प्रणव का उच्चारण स्वतः ही होता रहता है (इसके विषय में आगे विस्तार से चर्चा करेंगे)। यह प्राणायाम यज्ञ की भांति पवित्र व प्रभावी है। जैसा कि *गीता* में श्रीकृष्ण ने अध्याय-4 के श्लोक 29 में अर्जुन से कहा है—

प्राणापानगती रुद्धवा प्राणायाम परायणाः॥

—श्रीमद्भागवत् गीता

अर्थात्—'और दूसरे योगीजन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं (पूरक), वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायु को हवन करते हैं (रेचक), तथा अन्य योगीजन प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के (कुम्भक) परायण होते हैं।'

प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है—इन्द्रियों का संयम। सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना। जैसा कि *गोरक्षसंहिता* में कहा गया है—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात्—चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द यह पांच विषय हैं। इन विषयों से इन्द्रियों को पृथक कर लेना प्रत्याहार कहा जाता है।

और जैसा कि '*योगदर्शन*' में महर्षि पातंजलि ने कहा है—'**स्वाविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः॥**' (अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना ही प्रत्याहार है)।

इन्द्रियां मन रूपी सारथी के घोड़े हैं। शरीर रथ है और बुद्धि इन घोड़ों की लगाम। यदि इन्द्रियां रूपी घोड़े उच्छृंखल हों और बुद्धि की लगाम ढीली पड़ जाए तो वे मन रूपी सारथी के काबू से बाहर हो जाते हैं और मन को शरीर (रथ) सहित जहां चाहते हैं ले जाते हैं। इन्द्रिय रूपी घोड़ों को उनके विषयों की ओर से रोकना और मन के अनुसार चलाना ही प्रत्याहार है।

व्याख्या

मन (सारथी) यदि सजग न होगा तो इन्द्रिय रूपी शक्तिशाली किन्तु उछृंखल घोड़े अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होकर दौड़ने लगेंगे। अतः मन रूपी सारथी को बुद्धि रूपी लगाम से इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में रखना पड़ता है। सारथी और घोड़ों (मन व इन्द्रियों) में संगति अथवा एकरूपता या सामंजस्य होगा, तभी यात्रा सुरक्षित व सहज होगी, अन्यथा नहीं। अतः इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना और उन्हें मन के अनुकूल बना लेना योग मार्ग के लिए ही नहीं, समस्त सफलताओं, कल्याण और प्रगति के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। चंचल मन को प्राणायाम द्वारा स्थिर किया जाता है, किन्तु चंचल इन्द्रियां प्रत्याहार द्वारा वश में आती हैं। इन्द्रियां यदि वश में न हों तो स्थिर हो चुका मन भी भटक जाता है, अथवा पुनः चंचल हो जाता है। अतः प्राणायाम के लक्ष्य की पूर्णता के लिए भी प्रत्याहार अति आवश्यक है।

दृश्य/रूप नेत्रों के विषय हैं। स्पर्श त्वचा का, शब्द कानों का, गन्ध नासिका का और रस/स्वाद जिह्वा के विषय हैं। अपने विषयों के प्रति इन्द्रियों का आकर्षित होना तथा राग या वैराग्य/घृणा से ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक है। जैसे नयनाभिराम दृश्यों/रूप को देखने के लिए नेत्रेन्द्रिय की उत्सुकता, उन्हें देखने में रमना अथवा आनन्द का अनुभव करना आदि इन्द्रियों का राग या विषयों के प्रति आकर्षण है। किन्तु कुरूप, वीभत्स या भयानक दृश्यों या रूपों आदि को देखने से अरुचि आदि इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य/घृणा—इसी प्रकार नाक सुगंध के प्रति आकर्षित होगी किन्तु दुर्गन्ध से बचना चाहेगी। कान कर्णप्रिय शब्दों/संगीत/मधुर ध्वनियों को सुनना चाहेंगे परन्तु कर्कश ध्वनियों/शोर आदि से बचना चाहेंगे। ठीक इसी प्रकार जिह्वा व त्वचा भी अपने अनुकूल/रुचिकर विषयों के प्रति आकर्षित होंगे और प्रतिकूल/अरुचिकर विषयों से बचना चाहेंगे। यही इन्द्रियों का स्वभाव है। किन्तु इस स्वभाव को बदल डालना ही प्रत्याहार है।

अनुकूल विषयों के प्रति उत्सुक/लालायित न होने तथा उनके रसास्वादन में मन को रमने न देना और प्रतिकूल विषयों से भागने का प्रयास न करना—अर्थात् अनुकूलता या प्रतिकूलता, सुख या दुःख दोनों ही स्थितियों में सम रहना। अपने 'स्व' को उनके साथ INVOLVE न होने देना—यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है। किन्तु मन के साथ संगति बनाते हुए, विरोध बनाते हुए नहीं।

श्रीमद्भागवत *गीता* में जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थात्—जैसे कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को, इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

अत: इन्द्रियों को उनके विषयों से न केवल रोकें, बल्कि उनका चिन्तन भी न करने दें अन्यथा आसक्ति उत्पन्न होती है। जैसा कि *गीता* में कहा गया है—

ध्यायतो विषान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहास्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशादबुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अर्थात्—हे अर्जुन! मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण न होने से, मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होता है और विषयों को चिन्तन करने वाले पुरष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने/उसके पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ता उत्पन्न होती है। अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है। बुद्धि के नाश से पुरुष अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है।

अत: केवल मन को वश में करना या केवल प्राणायाम पूर्ण सिद्ध नहीं होता, जब तक कि प्रत्याहार अथवा इन्द्रियों को भी वश में कर मन के तदानुसार न कर लिया जाए क्योंकि प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी इन्द्रियां अपने विषयों की ओर लपककर बलात्कार से हर लेती हैं और इन्द्रियों के वश में होने से ही बुद्धि स्थिर होती है—'**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।**'

धारणा

'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**' (**योगदर्शन**)—यानि 'चित्त को बाहर या भीतर कहीं भी, किसी एक देश में ठहराना धारणा है।' '*गोरक्षसंहिता*' के अनुसार—

हृदये पंच भूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते॥

अर्थात्—हृदय में मन की निश्चितता के साथ पंच भूतों को पृथक-पृथक धारण करना ही धारणा कही जाती है।

'*त्रिशिखब्राह्मण*' के अनुसार—

'**मनसो धारणां यत्तद्युक्तस्य चयनादिभिः।**' अर्थात् यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है।

'*योगतत्वोपनिषद्*' के अनुसार—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—उस योगी को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पांचों देवताओं (महाभूतों) की धारणा हो जाती है।

व्याख्या—जिस योगी का चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है उस योगी को पंचमहाभूतों की धारणा हो जाती है।

सरल शब्दों में समझने के लिए कहा जा सकता है कि किसी भी विचार, सत्ता अथवा स्थान पर मन को केन्द्रित कर लेना (बाहर या भीतर अथवा पंच महाभूतों में पृथक-पृथक) ही धारणा है। अथवा जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है—मन द्वारा किसी विचार, सत्ता या पंचमहाभूत आदि को धारण कर लेना ही धारणा है। यह—ध्यान की पूर्वावस्था अपितु भूमिका कही जा सकती है क्योंकि ध्यान कहां लगाना है, इस विषय को निश्चित कर संकल्प से धारण कर लेना ही धारणा है। '*विज्ञान भैरव*' में स्वयं भैरव ने भैरवी को **112 धारणाओं** का उपेदश दिया है। आवश्यक नहीं कि शून्य या महाभूतों में ही धारणा की जाए।

व्याख्या

धारणा के द्वारा मन को विभिन्न विषयों या कल्पनाओं को धारण कराया जा सकता है। अपने ध्यान को परिपक्व करने के लिए अपनी रुचि के अनुसार विषय या कल्पना को धारण किया जाता है। जैसा कि माता बालक से इच्छित कार्य कराने के लिए मिठाई, खिलौने आदि का लोभ देकर बालक का ध्यान इच्छित कार्य में लगाती है। उसी प्रकार मन के इच्छित या रुचिकर विषय अथवा कल्पना का मन को धारण कराकर उसे केन्द्रित कर ध्यान की ओर लाया जाता है। इसीलिए एक दो नहीं, पूरी एक सौ बारह धारणाओं की व्यवस्था की गई है। इस विषय को थोड़ा और विस्तार से चर्चा करने पर समझना सरल होगा। क्योंकि जैसा कि आपने महसूस किया होगा—शास्त्रों में दी गई परिभाषाएं व व्याख्याएं नवीन व्यक्ति के लिए काफी जटिल और क्लिष्ट होती हैं जिनसे भ्रम उत्पन्न होता है। अतः सरलता के लिए दो एक उदाहरणों को लेंगे।

कष्ट, पीड़ा या दर्द के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। यौन सुख के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। प्रेम की प्रगाढ़ता भी कन्सन्ट्रेशन देती है। कला, संगीत आदि के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। शून्य में, परमात्मा में, विभिन्न चक्रों पर, किसी बिन्दु पर, चित्र, मूर्ति या विचार पर भी मन का केन्द्रियकरण होता है। शब्द पर या स्पर्श पर भी कन्सन्ट्रेशन होता है। अतः पंचमहाभूतों के माध्यम से भी मन को केन्द्रित किया जा सकता है। केन्द्रीयकरण के लिए सैकड़ों विषय या

कल्पनाएं सम्भव हैं। किसी का भी अपनी रुचि व सुविधा के अनुसार चयन किया जा सकता है और मन को उसी कल्पना या विषय को धारण करवा कर ध्यान लगाया जा सकता है—इसीलिए एक सौ बारह प्रकार की धारणाओं का विधान है किन्तु बिना किसी भी धारणा के ध्यान सम्भव नहीं होता। भले ही शून्य या अनन्त की ही धारणा की जाए। क्योंकि कन्सन्ट्रेशन के लिए कोई POINT तो चाहिए ही। वरना कन्सन्ट्रेट (ध्यान) आखिर होंगे किस पर? यही धारणा का महत्त्व व उपयोगिता है।

ध्यान

जो धारणा की जाए, अथवा चित्त/मन को जहां पर लगाए जाए—वहीं/उसी में वृत्ति का एकतार होकर चलना या वहीं पर मन का लगे रहना ही ध्यान या एकाग्रता अथवा कन्सन्ट्रेशन कहा जाता है जैसा कि स्वयं महर्षि पातञ्जलि ने '*पातञ्जल योग प्रदीप*' में कहा है—'**तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्**' (जहां चित्त को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार चलना ही ध्यान है)। यानि चित्त में दूसरी वृत्ति/भाव का उत्पन्न न होना अपितु धारणा या ध्येय पर एक ही वृत्ति का (जो धारण की गई हो) प्रवाहमान रहना। चित्त का उसी विषय/धारणा पर एकाग्र हो जाना और उस एकाग्रता का देर तक भंग न होना, या दूसरी वृत्ति द्वारा बाधित न होना ही ध्यान है।

'*गोरक्षसंहिता*' में ध्यान का और भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। साथ ही उसके प्रमुख दो भेदों का भी—

स्मृत्यसेव सर्वचिन्ताया धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चितै निर्मला चिन्ता तद्विध्यानं यचक्षते॥
द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा।
चर्याभेदन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत्॥

अर्थात्—'**स्मृ**' धातु सर्व चिन्तन वाचक है और जो अपने चित्त में आत्मतत्त्व का चिन्तन करे, उसका वह चिन्तन ध्यान कहलाता है। यह ध्यान सगुण निर्गुण के भेद से दो प्रकार का माना गया है और सगुण निर्गुण का यह भेद चर्या भेद से होता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि चित्त में एक ही विषय पर निर्विघ्न चिन्तन करना ही ध्यान है। यह ध्यान सगुण/साकार और निर्गुण/निराकार दो प्रकार का होता है—या तो मूर्त या अमूर्त। सगुण रूप का ध्यान अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कराता है, जबकि निर्गुण का ध्यान समाधि की प्राप्ति कराता है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

सगुणध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्चततो भवेत्॥

इसके अलावा '*ब्राह्मणोपनिषद्*' तथा '*गोरक्षसंहिता*' में ध्यान द्वारा पाप निवारण, सामर्थ्य प्राप्ति, अमरत्व प्राप्ति (आत्मध्यान द्वारा), मोक्षप्राप्ति, अष्टसिद्धि प्राप्ति, कुण्डलिनी जागरण आदि के लाभ भी कहे गए हैं। *योगकुण्डल्योपनिषद्, पैंगलोपनिषद्, तेजोबिन्दुपनिषद्, मैत्रेय्युपनिषद्, योग चूड़ामणि, ब्राह्मणोपनिषद्* आदि ग्रन्थों में भी इन तथ्यों की पुष्टि करने वाले श्लोक मिलते हैं। सभी को यहां देना युक्ति संगत नहीं होगा किन्तु इच्छुक पाठक इन ग्रन्थों में प्रमाण देख सकते हैं। संक्षेप में इतना कहना ही बहुत होगा—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेय शतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

अर्थात्—सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के समान नहीं हो सकता।

ध्यान अथवा धारणा सामान्य रूप से भी जीवन में विभिन्न अवसरों पर कम ज्यादा प्रयोग में आते रहते हैं, भले ही सम्पूर्णता के साथ नहीं। इनके लिए—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, यम, नियम आदि की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु योग मार्ग के लिए इन सभी अंगों की अनिवार्यता रहती है। क्योंकि इन्हीं से 'पात्रता' उत्पन्न होती है। इन्हीं से शुद्धता और शक्ति को संभालने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। यद्यपि बहुत से विद्वानों ने योग को षडांग (छह अंगों वाला) कहा है। शुरू के दो अंग जो यम और नियम—महर्षि पातञ्जलि आदि ने माने हैं, गुरु गोरखनाथ आदि ने नहीं माने हैं। जैसा कि *गोरक्षसंहिता* में कहा गया है—

आसनं प्राणसंरोध प्रत्याहाराश्च धारणा।
ध्यानं समाधि रेतानि योगांगांनि वदन्ति षट्॥

अर्थात्—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि—योग के यह 6 अंग कहे जाते हैं।

वैसे देखा जाए तो प्रारम्भ के दो अंग—यम व नियम प्रत्यक्ष रूप से योग से सम्बन्धित हैं भी नहीं। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वे योग मार्ग की भूमिका हैं और योगी में पात्रता उत्पन्न करने में अत्यंत उपयोगी हैं। इसीलिए *महर्षि पातंजलि* ने योग के 8 अंग कहे हैं—

'यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।'
(—पातञ्जल योग प्रदीप)

'*योगतत्त्वोपनिषद्*' के अनुसार भी योग के आठ अंग कहे गए हैं। जैसा कि प्रमाण मिलता है—

यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम।

अर्थात्-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा (भ्रकुटि के मध्य में

हरि का), ध्यान, और समाधि यह जब मिलकर अष्टांग योग कहा जाता है।

अत: यम और नियम का योग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधि।

अर्थात्-'जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति रह जाती है, होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है।'-महर्षि पातञ्जलि ने 'योगदर्शन' में समाधि के स्वरूप की बहुत सारगर्भित व्याख्या की है। ध्यान और समाधि के भेद को स्पष्ट करते हुए 'गोरक्ष संहिता' में कहा गया है—

शब्दादीनां चन्मात्र यावत्कर्णादिबुस्थितम।
तावदेनं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम॥

अर्थात्- जब तक कान आदि पांचों ज्ञानेन्द्रियों में उनके शब्द आदि विषयों का किंचित अंश भी विद्यमान रहता है, तब तक साधक ध्यानावस्था में रहता है। किन्तु जब पांचों ज्ञान इन्द्रियों की वृत्तियां नि:शेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती हैं तब समाधि की अवस्था हो जाती है।

व्याख्या

दूसरे शब्दों में समाधि को हम ध्यान की परिपक्व, प्रगाढ़ या चरम स्थिति कह सकते हैं। इस स्थिति में ध्याता, ध्यान और ध्येय (ध्यान करने वाला, ध्यान तथा जिसका ध्यान किया जा रहा है, वह) का अन्तर समाप्त होकर केवल ध्येय अथवा स्वविस्मृति हो जाती है। शायरी जुबान में—

आतमाद-ए-नजर नहीं है मुझे।
अब किसी की ख़बर नहीं है मुझे।
ये खबर है कि तुम हो मेरे करीब।
मैं कहां हूं, ख़बर नहीं है मुझे।

अथवा

मैं वहां हूं जहां से ऐ हम दम।
खुद को खुद की ख़बर नहीं होती।

ध्यान में इस क़दर खो जाना, कंसन्ट्रेशन (एकाग्रता) का इतना अधिक प्रगाढ़ हो जाना कि सिवाय ध्येय के और कुछ भी स्मरण न रहना। कानों से कोई शब्द, नाक से कोई गंध, त्वचा से कोई स्पर्श, नेत्रों से कोई दृश्य, जिह्वा से कोई रस आदि का ग्रहण न करना। अथवा ज्ञानेन्द्रियों का भी शरीर, मन व बुद्धि सहित ध्येय में खो जाना और 'स्व' का बोध भी न रहना समाधि है। ध्यान ज्ञानेन्द्रियों के विषयों द्वारा,

बाह्य विघ्नों द्वारा अथवा आन्तिरिक विक्षोभ से भंग हो जाता है। तथा ध्यान में स्व की स्मृति व ध्याता, ध्यान व ध्येय का अन्तर बना रहता है साथ ही ध्यान की अवधि कम होती है जबकि समाधि में सब स्मृति व अन्तर समाप्त होकर मात्र ध्येय की प्रतीति रहती है और समाधि की अवस्था स्थाई व दीर्घ होती है।

ध्यान करता हुआ साधक, किसी के द्वारा हुए जाने, पुकारे जाने, उठाए जाने, किसी तीव्र गंध को सूंघकर या तीव्र शब्द आदि को सुनकर अथवा अपने ही कन्सन्ट्रेशन के अस्थिर या विक्षुब्ध हो जाने से ध्यान भंग कर लेता है। तथा ध्यान की अवस्था में भी उसे 'स्व' का बोध या 'मैं चिन्तन अथवा ध्यान कर रहा हूं'—ऐसी अनुभूति बनी रहती है पर समाधि में साधक इन सब स्थितियों से ऊपर उठ जाता है। और दूसरे लोगों के लिए मृतप्राय: अथवा 'कॉमा' में जा पहुंचा हुआ मालूम होता है, या अत्यंत प्रगाढ़ निद्रा में लीन मालूम पड़ता है किन्तु वास्तव में वह ध्यान की पराकाष्ठा में पहुंच कर समस्त दैहिक व्यापारों व स्वबोध को भूल जाता है। जैसा कि *गोरक्ष संहिता* में कहा गया है—

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शन निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना॥

अर्थात् समाधि में लीन योगी को—गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयों का तथा अपने पराए का (स्वबोध) ज्ञान नहीं होता।

और भी देखें

अम्बूसैन्धवयो रैक्यं यथा भवति योगतः।
यदात्मन सोरेक्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

अर्थात—जैसे जल में सैंधा नमक डाल देने पर दोनों एक रूप हो जाते हैं। उसी प्रकार मन आत्मा व इन्द्रियों का एक हो जाना ही समाधि कहा जाता है।

समाधि व ध्यान की अवधि भी *गुरुगोरखनाथ* ने स्पष्ट की है—

धारणा पञ्चनाड़ीभिर्ध्यानं च षष्टनाडिभिः।
दिनद्वादशकेन स्यात्माधिः प्राणसंयमात्॥

अर्थात्—प्राणवायु का पांच घड़ी तक अवरोध करना—धारणा, साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना ध्यान और बारह दिन तक प्राणों का निरंतर संयम करना ही समाधि है (मन और प्राण परस्पर सम्बन्धित होते हैं। प्राण वश में होने से मन और मन वश में होने से प्राण वश में आता है। अत: यहां प्राणों के संयम से मन का संयम भी समझें)।

इस तथ्य की पुष्टि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में भी मिलती है—

दिन द्वादशकेनैव समाधि समवाप्नुयात।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवव्ययम्॥

अर्थात्—योगी व्यक्ति ध्यानावस्था के सिद्ध हो जाने के बाद) बारह दिनों में

ही समाधि को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार प्राण का निरोध करने वाला मेधावी पुरुष जीवन मुक्त (मोक्ष को प्राप्त करने वाला) हो जाता है।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ध्यान का अति प्रगाढ़ावस्था में 12 दिन तक बने रहना ही समाधि है।

विशेष—यहां थोड़ी-सी विस्तृत चर्चा विषय को सुगम्य बनाने के लिए आवश्यक है क्योंकि बारह दिन तक लगातार ध्यान का बने रहना-पाठकों के मस्तिष्क में कुछ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न कर सकता है। उनका निराकरण किए बिना आगे बढ़ना उचित नहीं होगा।

कम से कम 12 दिन स्वविस्मृत होकर निरंतर प्रगाढ़ ध्यान में रहना समाधि है। प्रश्न उठ सकता है कि 12 दिन का समस्त व्यवहार तथा दैहिक व्यापार बन्द कैसे रखे जा सकते हैं? बारह दिनों तक भूख, प्यास, निद्रा, विश्राम, मलत्याग, मूत्रत्याग, जम्हाई, छींक, डकार, पाद, खांसी, खुजली/खारिश तथा थकान आदि के पृथक रहते हुए एक ही स्थति में स्वविस्मृत होकर ध्यानावस्था में कैसे रहा जा सकता है? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। किन्तु इस प्रश्न का हल बताने से पूर्व, इससे और भी विकट सम्भावित प्रश्नों को भी पाठकों के सम्मुख रख दूं।

पौराणिक कथाओं, धर्मग्रन्थों आदि में ॠषियों की आयु हजारों वर्ष (कहीं-कहीं तो युगों तक) कही गई है, जैसे—विश्वामित्र का वर्णन सतयुग (राजा हरिश्चन्द्र से पूर्व से लेकर त्रेतायुग (भगवान राम तक) तक मिलता है। परशुराम का वर्णन त्रेतायुग के पूर्व से लेकर द्वापर युग तक (कृष्ण तक) मिलता है—आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं। साथ ही ऐसे भी वर्णन मिलते हैं कि ऋषियों के कई दशकों तथा शताब्दियों तक समाधिस्थ रहने के कारण उनके शरीर टीलों में छिप गए या उनके शरीरों पर बांबियां बन गईं। तब इतने लम्बे समय तक भूख-प्यास, निद्रा आदि से पृथक रह पाना और आयु का ठहर जाना कैसे सम्भव हुआ? न तो वे ऋषि समाधि की अवस्था में वृद्ध हुए, न रुग्ण हुए और न ही नष्ट हुए। अनेक स्थानों पर हजारों वर्षों तक समुद्र में, पर्वतों पर, वनों आदि में तपलीन रहने का वर्णन भी मिलता है। यह सब कैसे सम्भव हुआ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक साथ दिया जा सकता है इसीलिए इनको भी साथ ले लिया गया है। वैसे तो यौगिक क्रियाऐं ही इस प्रकार के गुण रखती हैं कि भूख, प्यास, निद्रा, मल, मूत्र, रोग, वृद्धवस्था तथा मृत्यु आदि की समस्या साधक के लिए समाप्त हो जाती है। फिर भी सिद्धांत को समझाने की दृष्टि से विवेचित करेंगे।

आहार ऊर्जा देता है। वायु, सूर्य आदि भी ऊर्जा देते हैं। ऊर्जा जीवन के लिए अनिवार्य है। पौधे अपनी ऊर्जा प्रकाश व वायु से लेते हैं। पशु प्रकाश व वायु के अलावा पौधों को भी आहार के रूप में अपनाकर ऊर्जा लेते हैं। जबकि मनुष्य

प्रकाश व वायु के साथ-साथ पौधे (शाकाहार) तथा पशुओं (मांसाहार) को आहार बनाकर ऊर्जा लेता है। यह सामान्य नियम है। किन्तु इस नियम का निष्कर्ष निकलता है कि प्रकाश तथा वायु से ही समस्त जीव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऊर्जा लेते हैं। यदि मनुष्य सीधे सूर्य व वायु से ऊर्जा ले ले तो उसे आहार की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। और जब वह कोई पदार्थ-आहार के रूप में उदर में नहीं डालेगा, तब मल-मूत्र आदि कहां से बनेंगे ? साथ ही जब श्रम या गतिविधियां नहीं रहेंगी तो BODY को RECHARGE करने या REST देने की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। अतः निद्रा, विश्राम, थकान आदि से व्यक्ति स्वतः ही पृथक हो जाएगा। क्योंकि निद्रा व विश्राम द्वारा ही मनुष्य RECHARGE होता है।

अब प्रश्न बचता है आयु के ठहरने का, सुरक्षा का। तो हमें भौतिकी विज्ञान का एक सूत्र समझना होगा। वह यह कि—'*यदि गति को अत्यधिक तीव्रता की स्थिति में ले जाया जाए तो समय/घटना क्रम ठहर जाता है।*' दूसरे शब्दों में '*तीव्रतम गति में कोई भी सत्ता कालातीत हो जाती है।*' अंतरिक्ष विज्ञान व अनुसंधानों में रुचि लेने वाले पाठक इस वैज्ञानिक तथ्य को अधिक बेहतर समझ सकते हैं। दूसरी बात यह कि *अति तीव्र गति अदृश्यता को उत्पन्न कर देती है।* बहुत तेज गति में जाती वस्तु दिखाई नहीं देती।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश की गति सबसे तेज है किन्तु मन की गति प्रकाश से भी तेज है प्रकाश से तेज गति से जाने वाली वस्तु अदृश्य हो जाएगी क्योंकि दृश्य का सम्बन्ध प्रकाश से है। अतः प्रकाश से तेज गति से जाती वस्तु दृश्य नहीं हो सकती। किन्तु गति और भी तीव्र हो जाने पर समय की सीमा से पार हो जाती है। उसके लिए समय ठहर जाता है।

उदाहरण के तौर पर पृथ्वी से सबसे निकट का तारा चार प्रकाश वर्ष दूर है। (एक वर्ष में प्रकाश जितनी दूर जाता है, वह दूरी प्रकाश वर्ष कहलाती है।) अब यदि प्रकाश की गति से चलने वाले यान से भी कोई वहां की यात्रा करके लौटे तो मात्र 8 वर्षों में जाकर लौट आएगा। यानि उसकी आयु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा परन्तु पृथ्वी पर तब तक शताब्दियां बीत चुकी होंगी। यदि वही यात्री प्रकाश की गति से कई गुना तीव्र यान से यह यात्रा करे तो 8 मिनट में पूरी कर लेगा, यानि उसकी आयु जहां की तहां रहेगी, मगर पृथ्वी पर तब तक जमाना गुज़र चुका होगा। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अति तीव्र गति में किसी सत्ता के लिए समय ठहर जाता है। और भी एक उदाहरण देखें—

मेज पर रखे संतरे पर यदि (ऊपर से नीचे नहीं) दांए से बाएं तलवार मारी जाए और उसकी गति अत्यंत कम रखी जाए तो संतरा कटेगा नहीं, लुढ़क जाएगा। किन्तु तीव्र गति से तलवार का प्रहार संतरे को दो टुकड़ों में बांट कर लुढ़का देगा। तलवार की गति और भी तीव्र हो तो संतरा दो भागों में कटकर भी ज्यों का त्यों रखा

रहेगा। उसे लुढ़कने का मौका नहीं मिलेगा। बाद में संतरे को उठाने पर मालूम होगा कि उसके दो टुकड़े हो गए हैं। किन्तु यदि तलवार का वार और भी अधिक तेजी से (हज़ार या लाख गुना तेजी से) किया जाए तो क्या होगा ? शायद आप यकीन न करें। मगर यह सच है कि तलवार के संतरे में से गुज़रने के बाद भी संतरा कटेगा नहीं क्योंकि उसे कटने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इससे पूर्व की उसके रेशे या कण कट पाएं, तलवार दूसरी ओर निकल चुकी होगी। उन्हें अलग होने के लिए जितना समय दरकार होगा—उतना उन्हें मिलेगा ही नहीं अतः वे जुड़े ही रहेंगे। या यूं कहिए कि कटते ही जुड़ जाएंगे। बात अविश्वसनीय लगती है किन्तु वैज्ञानिक सिद्धांतों पर कसी हुई सत्य बात है। यह बात और है कि इतनी तीव्र गति से तलवार का वार कर पाना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु मनुष्य के लिए तो प्रकाश की गति से चलने वाला विमान बनाना भी अभी सम्भव नहीं है, लेकिन मनुष्य के असमर्थ होने का अर्थ यह नहीं कि सिद्धांत गलत हो गया।

और अधिक चर्चा में जाना पुस्तक की बहुमूल्य पृष्ठ सामग्री का अपव्यय ही होगा। समझदार को इशारा बहुत होता है। और कुण्डलिनी जैसे विषय के पाठक इतने तो समझदार होने ही चाहिएं कि इशारे को समझ सकें।

उपर्युक्त उदाहरण यद्यपि समाधि के लिए बिल्कुल सटीक नहीं है। तथापि अविश्वसनीयताओं का समाधान पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से करते हैं। वे ऋषि जो समाधि की अवस्था में प्राण तथा मन सहित अनन्त की मन की गति से यात्रा करते थे अथवा प्राध्स व मन की गति को समाधि की अवस्था में रोक लेते थे, उनके लिए काल, अवस्था व आयु का ठहर जाना कोई बड़ा बात नहीं थी। दूसरे सांसें और रोटी गिनती की होती है इस तथ्य के अनुसार भी जब वे सांसें और रोटी लेते ही नहीं थे तो उनकी गिनती पूरी कहां से होती।

ठोस वस्तु टूटती या कटती है, तरल या गैस नहीं। *पानी को लाठी या तलवार मार कर अलग नहीं किया जा सकता। भाप को भी नहीं,* किन्तु बर्फ को किया जा सकता है। *कारण है—उनके अणुओं की संरचना।* तरल या गैस के अणु सतत् तीव्रता से गतिमान रहते हैं, ठोस के नहीं। गतिमान अणु पृथक नहीं हो पाते क्योंकि पृथक होते ही गति से जुड़ जाते हैं। संतरे में तीव्र गति से तलवार निकालने के उदाहण को यहां उलटा करना पड़ेगा। किन्तु तथ्य वही है। ठोस वस्तु के अणु भी यदि गति शील हो जाएं तो वार किए जाने के बाद भी वे पृथक नहीं होंगे, या पृथक होते ही जुड़ जाएंगे।

सुरक्षा, कालातीतता तथा आयु के ठहर जाने आदि के सम्बन्ध में अब शास्त्रीय प्रमाण भी देखिए—

अभेद्यः सर्वशस्त्राणाम वध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना।।

बाध्यते न सकालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापियोगीः युक्त समाधिना॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—समाधियुक्त योगी शस्त्रों द्वारा नहीं छेदा जा सकता, वह किसी भी शरीरधारी द्वारा मारा नहीं जाता। उस पर मन्त्र-यन्त्र आदि का प्रयोग भी प्रभावकारी नहीं होता। वह काल (समय) के द्वारा भी बाधित नहीं होता, न ही कर्मों में लिप्त होता है। जो योगी समाधि में लीन होता है, उसे कोई किसी भी प्रकार वश में नहीं कर सकता।

एतद्विमुक्तिसोपान मेंतत्कालस्य वंचनम।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

—(*गोरक्ष संहिता*)

(जब योगी योगाभ्यास द्वारा मन को विषय भोगों से दूर कर परमात्मा में लगा लेता है, तब योगी काल (समय) और मृत्यु को जीत कर जनम-मरण को भी वश में कर लेता है। यह कर्म मोक्ष की सीढ़ी है और काल की वंचना भी है।)

निराद्यंतं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित्॥

अर्थात्—समाधि में स्थित हुआ योगी आदि अन्त से रहित, अवलम्ब व प्रपंच से रहित, विशुद्ध, आश्रय और आकार से हीन (ब्रह्म) तत्त्व को जान लेता है। (वह जीवन-मरण, माया, अविद्या, सुख, दुःख, भय, नाश आदि से ग्रस्त नहीं होता और त्रिकालज्ञ हो जाता है, क्योंकि समय के आर-पार देख सकता है)।

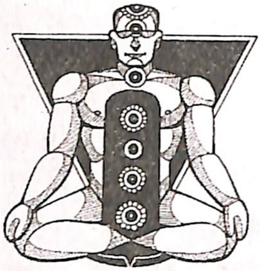
इसीलिए तो 'बह्म विद्योपनिषद्' में कहा है—

एवे गुणाः प्रवर्तन्ते योगमार्गकृतश्रमैः।
यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःख बहिस्कृतः॥

अर्थात्—योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है उसमें इतने गुण हैं कि उनके द्वारा सब प्रकार के दुःख दूर हो जाते हैं। अतः उसमें प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इस प्रकार समाधि प्रकरण के साथ अष्टांग योग का संक्षिप्त परिचय समाप्त हुआ। अब हम कुण्डलिनी जागरण के उपायों के विषय में चर्चा करेंगे।

❑❑❑



14 कुण्डलिनी जागरण के उपाय

कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी विभिन्न अभ्यासों की चर्चा इस खण्ड में हम करेंगे। प्राणायाम, ध्यान योग, हठ योग, तंत्र-मंत्र तथा कुण्डलिनी जागरण में सहयोगी अन्य आसनों, बन्धों, क्रियाओं एवं यौगिक व्यायामों का सविस्तार वर्णन करेंगे। विधि व सावधानियों का निर्देश भी देंगे, अन्य आवश्यक तथ्यों की चर्चा भी करेंगे। किन्तु उससे पूर्व प्रबुद्ध पाठकों से एक बार फिर विनम्र निवेदन करेंगे कि कुण्डलिनी शक्ति का जागना, सिंह के जागने के समान है। अग्नि के भड़क उठने के समान है अतः सुरक्षा के पूर्व उपाय; सावधानियों आदि के प्रति सजग रहना अनिवार्य है।

जिस प्रकार सिंह आदि हिंसक पशुओं को श्रम तथा बुद्धि से, विधि व सजगता से साध लिया जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को साधा जाता है। किन्तु जिस प्रकार थोड़ी-सी भी असावधानी सिंह को साधने वाले के लिए उस 'साधना काल' में घातक सिद्ध होती है उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण व चक्र भेदन काल में हुई असावधानी घातक सिद्ध हो सकती है। अग्नि या विद्युत को नियंत्रित कर उनसे मनचाहे कार्य कराए जा सकते हैं किन्तु अनियंत्रित अग्नि या विद्युत जानलेवा भी हो जाती है। अतः कुण्डलिनी को जमने से पूर्व उसे संभाल पाने का सामर्थ्य अवश्य ही जुटा लेना चाहिए। यही सामर्थ्य 'पात्रता' है। पूर्व वर्णित खण्ड में पात्रता के सम्बन्ध में और उसे उत्पन्न करने की विधियों या अभ्यासों के सम्बन्ध में चर्चा हो चुकी है। उन अभ्यासों में परिपक्व हुए बिना (पात्रता उत्पन्न किए बिना) इस खण्ड के अभ्यासों को न करें। यह निवेदन ही नहीं चेतावनी भी है। यह याद रखें।

पात्रता उत्पन्न कर लेने के बाद भी सुयोग्य तथा समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में यह अभ्यास करें तो अधिक निरापद होगा और सफलता के प्रति निश्चतता भी रहेगी। किन्तु *ऐसा सम्भव न हो तो सच्चे मन और पूर्ण श्रद्धा से ईश्वर को अपना गुरु बनाएं।* ध्यानावस्था में अथवा स्वप्न में उस परमशक्ति से दिशानिर्देशन के लिए प्रार्थना करें, और फिर सब कुछ उसी पर छोड़ दें। जैसा विचार या प्रेरणा वह दे-वैसा ही करें। वह आपका पथ प्रदर्शन करेगा अथवा सुयोग्य गुरु से भेंट करा देगा। या आपको योग्य नहीं पाएगा तो प्रारम्भ में ही हतोत्साहित करके इस साधना से आपको विमुख कर देगा। जैसा भी वह सुझाए, वैसा ही करें। अपने अहं व बुद्धि को आड़े न आने दें। पूर्ण समर्पण करके चलें।

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य

अभ्यास में आवश्यक तथ्यों पर पहले एक दृष्टि डाल लें। उनमें पहला तथ्य शरीर के 29 ज्ञातव्य अवयव हैं जिन्हें जाने बिना योग सिद्धि सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

षट्चक्र षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योम पंचकम।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्तियोगिनः॥

—(*गोरक्षसंहिता*)

अर्थात्— *छः चक्रों* (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र)। योग में क्योंकि छः चक्रों का ही भेदन किया जाता है, अतः 6 चक्रों का जानना अनिवार्य है जिन का भेदन करना है। सातवें चक्र सहस्रार का भेदन नहीं करना है अतः उसका ज्ञान अनिवार्य नहीं है)। *सोलह आंधार*—(पैर का अंगूठा, मूलाधार/सीवन, गुह्या द्वार, वज्रगर्भनाड़ी, उड्डियान बन्धाधार/ जहां उड्डियान बन्ध लगाया जाता है, यानि नाभि के नीचे का क्षेत्र, नाभिमंडलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार, जिह्वयामूलाधार, जिह्वयाअधोभागाधार, उर्ध्वदन्तमूलाधार, नासिकाग्राधार, नासिकामूलाधार, भ्रूमध्याधार और नेत्राधार), *दो लक्ष्य* (बाह्य और आन्तिरिक), *पांच आकाश* (श्वेतवर्णीय ज्योति रूप आकाश, रक्तवर्णीय ज्योतिरूप आकाश, धूम्रवर्ण ज्योति रूप महाकाश, नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्त्वाकाश और विद्युत्वर्णीय ज्योति रूप सूर्याकाश—जो क्रमंशः पहले के भीतर दूसरा, दूसरे के भीतर तीसरा, आदि के क्रम में शरीर के भीतर रहते हैं)। *अपने ही शरीर में रहने वाले इन* (6 + 16 + 2 + 5 = 29) *उनतीस सत्ताओं को जो नहीं जानता, वह योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।*

व्याख्या

ध्यानयोग में कुण्डलिनी जागृत कर षट्चक्र भेदन का विधान है। जिनको भेदा जाना है, उनको भली प्रकार जानना अनिवार्य है। यही छः चक्रों को जानने का महत्त्व है। सोलह आधारों द्वारा मन को प्रारम्भ में एकाग्र करने में सुभीता रहता है। दृष्टि की स्थिरता बढ़ती है तथा पात्रता, शुद्धि, आरोग्यता, बल आदि लाभ होते हैं।

16 आधारों का प्रयोग

प्रथम आधार को दृष्टि स्थिर करने के प्रयोग में लाएं। इससे दृष्टि की स्थिरता बढ़ती है। दूसरे आधार को एड़ी से, तीसरे आधार का संकुचन व विस्तारण करना चाहिए (अश्विनी मुद्रा)। इससे अपान वायु चौथे आधार में प्रविष्ट होकर बिन्दुचक्र में पहुंच जाता है जिससे वीर्य स्तम्भन सामर्थ्य प्राप्त होती है। पांचवें आधार का पश्चिमोत्तानासन में गुदा सहित संकोचन करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदरकृमि नष्ट होते हैं तथा पाचनतंत्र सही रहता है। छठे आधार में ज्योति का ध्यान करने तथा

प्रणव जाप करने से नाद उत्पन्न होता है। सातवें आधार को प्राण वायु से भर कर रोकने से हृदय कमल विकसित होता है। आठवें आधार में ठोड़ी की दृढ़ता पूर्वक कंठकूप में स्थापित करके ध्यान करने से चन्द्र व सूर्य स्वर स्थिर होते हैं। नवें आधार में जिह्वा को पलट कर लगाने से (खेचरी मुद्रा) सहस्रार चक्र के चन्द्रमंडल से निरन्तर झरने वाले अमृत का स्वाद मिलता है। दसवें भाग का मंथन व दोहन करने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। ग्यारहवें आधार के मंथन से कवित्व शक्ति प्राप्त होती है।

बारहवें आधार में जिह्वा का अग्रभाग स्थापित करने से बहुत से रोगों से मुक्ति मिलती है, तथा जिह्वा की सामर्थ्य बढ़ती है। यह आधार बाह्य त्राटक में भी काम आता है। तेरहवें आधार व चौदहवें आधार का प्रयोग अर्न्तत्राटक में होता है। चौदहवां आधार ध्यान लगाए जाने पर ज्योति का साक्षात्कार कराता है (शाम्भवी मुद्रा)। पंद्रहवें आधार में दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास चित्त की लय सिद्धि करता है तथा सोलहवें आधार का उपयोग त्राटक आदि क्रियाओं में किया जाता है। अतः इन 16 आधारों का ज्ञान आवश्यक है। (इस बीच चर्चा में आए—खेचरी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, जिह्वा के अग्रभाग का मंथन/दोहन, अश्विनी मुद्रा तथा त्राटक आदि के विषय में आगे विस्तृत चर्चा करेंगे)।

दो लक्ष्यों में आन्तरिक लक्ष्य—6 चक्र आदि रहते हैं तथा बाह्य लक्ष्य—नासिकाग्र, भ्रूमध्य आदि रहते हैं। इन्हीं लक्ष्यों पर दृष्टि व ध्यान को एकाग्र किया जाता है। अतः इनको 'लक्ष्य' कह कर पुकारा गया है। पांचों आकाश ध्यान लगने के बाद शरीर के भीतर दिखाई पड़ने वाले क्रमशः ज्योतिमान घटक हैं जो 'ध्यान यात्रा' के सुचारु व सही दिशा में जाने के लक्षण हैं। एक प्रकार से मील के पत्थर या मार्ग में पड़ने वाले पहचान चिह्न हैं। इस प्रकार इन 29 सत्ताओं का ज्ञान योगी को अवश्य ही होना चाहिए। गोरखनाथ सम्प्रदाय में इन क्रियाओं का विशेष महत्त्व माना जाता है। क्योंकि यह गुरुगोरखनाथ के निर्देश हैं। 'शारीरकोपनिषद्' भी उन्तीस शरीरस्थ तत्त्वों/सत्ताओं को जानने योग्य मानता है और उनके ज्ञान के बिना योग में सिद्धि मिलना असम्भव मानता है। किन्तु उनके 29 तत्त्व या सत्ताओं में कुछ विभिन्नताएं मिलती हैं। तथापि उपयोगी होने के कारण, पाठकों के लाभार्थ व जिज्ञासा शांति के उद्देश्य से हम उनको भी यहां दे रहे हैं। पाठक अपनी रुचि अनुसार इन्हें स्वीकारें या गोरखनाथ के कहे तत्त्वों को, अथवा दोनों ही शास्त्रों के मतों को—यह पाठकों की अपनी इच्छा, रुचि, स्वभाव, सुविधा, पसंद, सामर्थ्य, ज्ञान आदि पर निर्भर करता है।

श्रोतं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राण चैवतु पंचमम्।
पापस्थौ करौ पादौ वाकैव दशमी भता॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसगन्धस्तथैव च।
त्रयोविंशतिरेतनि तत्त्वानि प्राकृतानितु॥

—शारीरकोपनिषद्

अर्थात्—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका यह पांच (ज्ञानेन्द्रियां) और गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर, वाणी यह पांच (कर्मेंद्रियां) तथा शब्द, स्पर्श, रूप/तेज, रस और गंध यह पांच (तन्मात्राएं अथवा इन्द्रियों के विषय) एवं (मन, बुद्धि, अहंकार और पंचमहाभूत—आकाश,वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) आठ विकार—कुल तेईस तत्त्व प्रकृति के हैं—(इनमें 6 चक्र जोड़कर उन्तीस घटक हुए)। इन्हें जाने बिना योगमार्ग में सफलता नहीं मिलती।

इनके अतिरिक्त भी शरीर को जानना आवश्यक है। जैसा कि कहा है—

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम्।
स्वदेहे येन जानन्तिकथं सिद्धयन्ति योगिनः॥

अर्थात्—एक स्तम्भ, नौ द्वार और पांच देवताओं वाले घर (शरीर) को जो योगी नहीं जानते, उन्हें योगसिद्धि कैसे हो सकती है, यानि नहीं हो सकती।

व्याख्या

शरीर पंचतत्त्वों या पंचमहाभूतों से निर्मित है। वहीं (आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी) पांच देवता हैं। नौ छिद्र (दो कान, दो नेत्र, दो नथुने, एक मुख, एक गुदा व एक जननांग) ही नौ द्वार हैं और मन ही इस घर (शरीर) का एक मात्र दृढ़ स्तम्भ है, क्योंकि मन के चंचल होने पर समस्त इन्द्रियां व शरीर उसका अनुगमन करते हैं। मन के स्थिर होने पर शरीर सहित समस्त इन्द्रियां भी स्थिर होते हैं। अतः मन ही शरीर रूपी घर का आधार स्तम्भ है। जब तक योगी इन सबको जानता हुआ अपने मन को नियंत्रित व दृढ़ नहीं कर लेता, वश में नहीं कर लेता, तब तक सिद्धि सम्भव नही हो सकती। इसीलिए '*शाट्यायनीयोपनिषद्*' में कहा गया है—'*मन एवं मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो*' (मन ही मनुष्यों के बन्धन व मोक्ष का कारण है।)

मन के सम्बन्ध में यद्यपि प्रारम्भ ही में चर्चा कर आए हैं तो भी कुछ विशेष उदाहरण यहां अवश्य देंगे ताकि मन का महत्त्व कुण्डलिनी जागरण में भली प्रकार से समझा जा सके और सफलता की निश्चितता हो।

एतद्विमुक्तिसोपानमेंतत्कालस्य वंचनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

—(*गोरक्ष संहिता*)

अर्थात्—योगाभ्यास द्वारा जब मन विषय भोगों से दूर होकर परमात्मा में लग जाता है, तब योगी काल और मृत्यु को विजय करके ज़रा-मरण को भी वश में कर

लेता है। यह कर्म मोक्ष का सोपान है, और यही काल की वंचना भी है।

मन को साधने के सम्बन्ध में *'मैत्रेय्युपनिषद्'* में कहा गया है—

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषय मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रिय निग्रहः॥

अर्थात्—जीव और ब्रह्म में भेद न देखना ही ज्ञान है। मन को विषयों से दूर कर लेना ही ध्यान है। मन के मैल/कलुष/विकारों को त्यागना ही स्नान है तथा इन्द्रियनिग्रह/उन्हें वश में रखना ही शौच/पवित्रता है।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भांति गुह्यमेतत्सनातनम्॥

—(*मैत्रेय्युपनिषद्*)

अर्थात्—चित्त/मन ही संसार है। अतः प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करें। जैसा चित्त, वैसी गति—यही सनातन सिद्धान्त है। (*नियम परिवर्तित हो सकता है। सिद्धांत कभी नहीं। क्योंकि सिद्ध + अंत = सिद्धांत वही है जो अंत तक सिद्ध हो या जिसका अंतसिद्ध हो*)

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥

अर्थात्—चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शांत चित्त वाला मनुष्य आत्मा में लीन होकर अक्षय आनन्द को प्राप्त होता है।

अतः मन को भटकने से रोकना चाहिए। भोग भी करें तो निर्लिप्त होकर। पानी में रहने वाली नौका का यदि लंगर पड़ा रहे तो वह लहरों पर इधर उधर तैरने का आनंद तो लेती है, पर बहती नहीं। अतः मन रूपी नौका पर आस्था रूपी लंगर पड़ा रहना चाहिए। कीचड़ में रहकर भी कमल जिस प्रकार जलकणों व कीचड़ से प्रभावित नहीं होता। उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी बिना लिप्त हुए कर्म करने से मन माया में नहीं फंसता। जैसा कि 'गोरक्ष संहिता' में कहा गया है—

रज्जुबद्धो यथा श्येनो यतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणेबद्धस्तथा जीवः प्राणापाणेन कृष्यते॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
उर्ध्वानः संस्थितावेतौ संयोजयति योगविद्॥

अर्थात्—बाज पक्षी के पैर में रस्सी बांधकर यदि रस्सी को ढील दें तो वह उड़ जाएगा, किन्तु रस्सी खींच लेने पर वह पुनः निकट आ जाएगा। उसी प्रकार माया के गुणों से बंधा हुआ जीव प्राण व अपान वायुओं द्वारा ऊपर नीचे खींचा जाता है। आज्ञाचक्र में स्थित प्राणवायु मूलाधार में स्थित अपानवायु को ऊपर खींचता है। और मूलाधार में स्थित अपान वायु आज्ञाचक्र में स्थित प्राणवायु को नीचे खींचता है। इस प्रकार दोनों वायु जीव को एक दूसरे के साथ ऊपर-नीचे को खींचते रहते

हैं। किन्तु योगिजन प्राण और अपान का नाभिप्रदेश में समायोजन कर जीव और चित्त को भी स्थिर कर लेते हैं। (अन्यथा जीव-रज, सत् व तम तीन गुणों से बंधा रहता है, जैसा कि कहा है—'गुणबद्धस्ततो जीवः')

मन के पूर्ण संयम और साधक के पूर्ण समर्पण से ही सफलता निश्चित होती है। जैसा कि *गीता* में भी कृष्ण भगवान ने कहा है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदामुक्त एवसः॥

अर्थात्—जीती हुई हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी (अपने ही द्वारा), ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि (परमेश्वर के स्वरूप का निरंतर मनन करने वाला)—इच्छा, भय और क्रोध से रहित हैं—वह सदा मुक्त ही है।

मन व इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ मन का पूर्ण विश्वास और श्रद्धा से संयुक्त रहना भी परमावश्यक हैं। शंका रहित होना अनिवार्य है। क्योंकि शंका श्रद्धा और विश्वास की शत्रु है और परिश्रम व लगन में बाधक है। जिनके अभाव में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती। यदि पूर्वजन्म के संचित् कर्मों के सौभाग्य स्वरूप मिल भी जाए तो व्यक्ति शंका के कारण हीरे को ठींकरा समझ कर छोड़ देता है। पाठकों की समस्त शंकाओं के समाधान हेतु और योग पद्धति को तत्त्वतः समझाने के लिए ही कई तथ्यों की पुनरावृत्ति करके भी इतनी लम्बी भूमिका देने की जरूरत महसूस होती है। क्योंकि शंका का नष्ट हो जाना आवश्यक है। जैसा कि 'गीता' में श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन से कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं
लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थात्—हे अर्जुन! भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी (श्रद्धारहित और संशययुक्त में से)—संशययुक्त पुरुष के लिए तो न सुख और यह लोक है न ही परलोक है। अर्थात् इहलोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं। (अतः संशय रहित होना हर प्रकार की सफलता की प्रथम शर्त है)।

संशय का एक मात्र कारण पूर्ण ज्ञान का न होना अथवा अज्ञान या अर्द्धज्ञान का होना है। अतः सर्वप्रथम साधक को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तभी तो कहा गया है—'*न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।*' (ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह इस संसार में और कुछ नहीं है)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात्—जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान पुरुष-ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

इसीलिए गुरु के प्रति अंधी श्रद्धा कल्याणदायिनी कही जाती है क्योंकि ज्ञान न होने पर भी प्रबल श्रद्धा संदेह या शंका को उत्पन्न नहीं होने देती। जैसा कि '*अद्वयतारक-उपनिषद्*' में कहा है—'*गुरूदेव परंब्रह्म गुरुदेव परागतिः ।*' (गुरु ही परब्रह्म है, गुरु हि परम गति है।) *शाट्यायनोपनिषद् में* भी कहा है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
स ब्रह्म वित्परंप्रेयादिति वेदानुशासनम्॥

अर्थात्—देवताओं में जैसी परम भक्ति होती है, वैसी ही भक्ति गुरु में होनी चाहिए। (इस प्रकार की गुरु भक्ति से व्यक्ति) ब्रह्मज्ञानी होकर परमपद को प्राप्त होता है। यही वेद की व्यवस्था है।

योगमार्ग में तो गुरु की विशेष भूमिका रहती है। जैसा कि कहा गया है—'*अध्यायिता ये गुरु नाद्रियन्ते*' आदि शास्त्रोक्त उदाहरण बताते हैं कि बिना गुरु के प्रति श्रद्धा वाले साधक की तपस्या कच्चे घड़े के जल में घुल जाने के समान नष्ट हो जाती है। गुरु न मिले तो जैसा कि बताया है—ईश्वर को ही सच्चे मन से गुरु मान, पूर्ण समर्पण व श्रद्धा सहित साधना आरम्भ करनी चाहिए। आगे बढ़ने का मार्ग स्वयं मिलता चला जाता है।

जैसे वर्षा ॠतु में ऊंची हो गई घास के मैदान को दूर से देखने पर कोई मार्ग नज़र नहीं आता। चारों ओर घास ही घास दिखाई पड़ती है परन्तु यात्रा आरम्भ कर देने पर जैसे-जैसे निकट जाते हैं—पगडण्डियां दिखाई देने लगती है, और मार्ग स्वतः मिलता चला जाता है। उसी प्रकार श्रद्धावान व संशय रहित होकर तप करने वाला साधक स्वतः अपना मार्ग प्राप्त कर लेता है। '*सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्*' का यह श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

योगेन योगो ज्ञामव्यो योगो योगात् प्रवर्द्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्॥

अर्थात्—योग से योग की वृद्धि होती है। अतः योग के ही द्वारा योग को जानना चाहिए। योग में सदैव दत्तचित्त रहने वाला योगी चिरकाल तक सुख (आनन्द) का उपभोग करता है।

ऊपर कहे श्लोक में कर्म/साधना/तप की महत्ता बताई गई है। केवल ज्ञान ही एकत्र करते रहना अथवा केवल शास्त्रों का अध्ययन ही करते रहना कल्याणकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बिना कर्म किए लक्ष्य प्राप्ति कैसे होगी अधिक अध्ययन में दोष भी है—बुद्धि के भ्रमित हो जाने का। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कहने का अपना ढंग होता है। कोई अपने मार्ग के विषय में बताता है तो दूसरा अपने मार्ग के विषय में। परिणामतः पाठक उलझ जाता है। अतः एक मार्ग पर श्रद्धा व संकल्प करके बस चल देना चाहिए। जैसा कि कवि *हरिवंशराय बच्चन* ने कहा है—

'राह पकड़ तू एक चालाचल
पा जाएगा मधु शाला।'

श्रीमद्भागवत् गीता में भी कृष्ण ने कहा है—

यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

—*श्रीमद्भागवत गीता*

अर्थात्—'और हे अर्जुन! जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल से बिल्कुल तर जाएगी' (स्थिर, शुद्ध व एकमत हो जाएगी) तब तू सुनने योग्य (सुने हुए को समझने के योग्य) और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा (अर्थात् सुने हुए को समझकर आत्मसात् करने और उसे व्यवहार में लाने में समर्थ होगा। अन्यथा तर्क वितर्क में उलझ जाएगा) और जब अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर होकर ठहर जाएगी तब तू समत्वरूप योग को प्राप्त होगा।

सांख्य सिद्धांत में समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए पांच सेतु कहे गए हैं। उन पांचों के विधिवत संयोग से कार्य की सिद्धि होती है। इन्हें भी समझ लेना चाहिए।

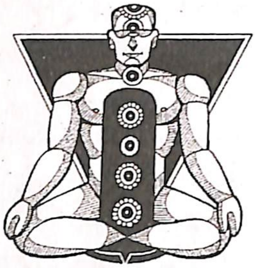
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अर्थात्—आधार/अधिष्ठान (जिसके आश्रय कर्म किए जाएं), कर्त्ता (जो कर्म करे), करण (जिनके द्वारा कर्म किए जाएं अर्थात् माध्यम, जैसे—इन्द्रियां आदि साधन), चेष्टा (कर्म/क्रिया) तथा दैव (पूर्वकृत शुभाशुभकर्मों से निर्मित संस्कार या स्वभाव तथा पूर्व निर्मित भाग्य)—यह पांच सेतु ही कार्यसिद्धि कराने वाले हैं।

कुण्डलिनी जागरण के सम्बन्ध में ध्यान योग या मंत्र पद्धति आधार/अधिष्ठान कहे जाएंगे। कर्त्ता स्वयं आप होंगे। करण आपकी इन्द्रियां, आसन, माला आदि होंगे तथा स्तोत्र या मंत्र होंगे। चेष्टा—प्राणायाम, विपरीतकरणी, खेचरी आदि विभिन्न यौगिक क्रियाएं अथवा जाप व मुद्राएं होंगे और दैव आपका स्वभाव, संस्कार व भाग्य होंगे। इन पांचों के एकत्रित, समायोजित तथा अनुकूल न होने पर कार्य सिद्धि नहीं हो सकती।

इन तथ्यों को भली प्रकार समझ कर कुण्डलिनी जागरण के अभ्यास आरम्भ करें।

❑❑❑



15

ध्यान-योग व हठयोग सम्बन्धी उपाय

प्राणायाम

प्राणायाम के विभिन्न रूप हैं। उनकी भिन्न-भिन्न विधियां तथा फल हैं। कुण्डलिनी का सम्बन्ध प्राण से है और प्राण का मन से। अतः कुण्डलिनी जागरण का सर्वप्रथम, प्रामाणिक, सरल व निश्चित उपाय प्राणायाम ही है। जैसा कि '*योगकुण्डल्यउपनिषद्*' में कहा गया है—

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयाच्चालयेत्सुधीः।
उर्ध्वमाकषयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ब्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां ब्रजति स्वयम्॥

अर्थात्—दो मुहूर्त तक सरस्वती का चालन करके सुषुम्ना नाड़ी को, जो कुण्डलिनी के सर्वाधिक निकट होती है, किंचित ऊपर की ओर खींचें। इस भांति अभ्यास करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और साथ-साथ प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़ सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

बन्द मोक्षद्वार खोलने के लिए प्राणशक्ति को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराना आवश्यक है। इस प्रकार कुण्डलिनी को चलाने के दो ही प्रमुख साधन माने गए हैं—सरस्वती चालन और प्राणनिरोध/प्राणायाम।

कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की होकर मार्ग अवरुद्ध किए पड़ी रहती है। अग्नि या वायु के संयोग/आघात से ही यह जागृत होती है। जैसा कि *गोरक्ष संहिता* में कहा गया है—

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वार मुखं नित्य मुखेनाच्छाद्य तिष्ठिति॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मगारस्नामयम्। मुखेनाच्छाद्य
तदद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरूता सह।
सूचीव गुणमादाय ब्रजव्यूर्ध्व सुषुम्णया॥

अर्थात्—नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान रूप कन्द के ऊपर कुण्डलिनी 8 प्रकार की होकर ब्रह्मरंध्र के मुख को रोकती हुई अवस्थित है। जिस मार्ग से चलते हुए पाप रहित बह्मद्वार की प्राप्ति होती है, उसके द्वार को ढककर यह कुण्डलिनी शक्ति सुप्त पड़ी रहती है। यह बुद्धि के संयोग से (ध्यान लगाने पर) जागृत होकर मन और प्राण के साथ सुषुम्ना द्वार में सूई की भांति प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर चढ़ती है।

'*शाण्डिल्योपनिषद्*' भी कुण्डलिनी के अष्टधा अवरोधक होने की पुष्टि करता है—

नाभेस्तिर्णगधोर्ध्वे कुण्डलिनी स्थानम।
अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृताकुण्डलिनी शक्ति भविति॥

अर्थात्—नाभि के पीछे ऊपर की ओर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति स्वरूपा होकर आठ कुण्डल धारण किए हुए पड़ी रहती है।

कुण्डलिनी के दो मुख होते हैं। एक मुख से वह सुषुम्ना के रुध्र में इड़ा व पिंगला नाड़ी में लपेटा लगाए हुए साढ़े तीन कुण्डलों के साथ सोती रहती है। दूसरा मुख सदैव क्रियाशील व जागृत रहता है। इसी मुख से जीव को चेतना व ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु पहले मुख के निष्क्रिय व सुप्त रहने के कारण व्यक्ति आत्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ होता है। जिस द्वार से जाने पर ब्रह्मद्वार की प्राप्ति होती है, उसी द्वार पर यह परमेश्वरी सोई पड़ी रहती है। वायु या अग्नि के संयोग से प्राण निरोध या सरस्वती चालन से जागृत हो जब यह ऊपर चढ़ने लगती है तभी वह सिद्धित्व मोक्ष देने वाली होती है। जब तक यह देवी जागृत नहीं होती तब तक सभी पूजा-पाठ, मन्त्र आदि असफल रहते हैं। जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निदायिताप्रभो।
तावत किंचिन्न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्य संचयै।
तदा प्रसादमायाति मन्त्र यन्त्रार्यनादिकम्॥

—(*गौतमयितंत्र*)

अर्थात्—जब तक कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सोई रहती है, तब तक कोई मंत्र-यंत्र, पूजा आदि सफल नहीं होते। अनेक संचित पुण्यों के प्रभाव स्वरूप जब यह परमेश्वरी जागृत हो जाती है तब इसी के प्रसाद से यन्त्र-मंत्र पूजा आदि प्रभाव दिखाने वाले होते हैं। (वरदान व श्राप भी तभी फलीभूत होते हैं)।

और जैसा कि '*गोरक्षसंहिता*' में कहा गया है—

प्रसुप्तभुजंगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा बहिन योगेन व्रजत्यूर्ध्व सुषुम्णया॥
उद्धाटयेत्कपाट तु तथा कुञ्चियकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥

अर्थात्—सुप्त कुण्डलिनी सर्पाकार और कमल नाल के तन्तु के समान होती है, वह अग्नि के संयोग से जागृत् होकर सुषुम्ना के रास्ते ऊपर चढ़ती है। चाबी से जिस प्रकार ताला खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी को जागृत कर योगी अपने मोक्ष का द्वार खोल लेता है। (कुण्डलिनी के जागृत हुए बिना साधक का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो पाता)। अनेक योगग्रन्थ 8 प्राणायाम कहते हैं। बहुत से योगशास्त्र प्राणायामों की संख्या बारह बताते हैं। हम कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी प्रमुख प्राणायाम दे रहे हैं।

नाड़िशोधक प्राणायाम—शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों में दस नाड़ियां अत्यंत प्रमुख हैं। क्योंकि ये प्राणवाहक नाड़ियां हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी। नाभि के नीचे (कन्द) इन सभी नाड़ियों का मूलस्थान है। बहत्तर हजार में 72 मुख्य हैं। उन 72 में भी उपर्युक्त दस प्रमुख हैं। और इनमें भी प्रथम तीन तो परम महत्त्व वाली हैं। जैसा कि '*सुबालोपनिषद्*' में कहा है—

'अथेमा दश-दश नाड्यो भवन्ति तासामेकै कस्यों द्वासप्ततिद्वसिप्तति: शाखानाडी सहस्त्राणि भवन्ति यस्मन्नयमात्मा स्वयिति शब्दानां च करोति।' (इस हृदय की 10-10 नाड़ियां हैं। उनमें से प्रत्येक की 72-72 नाड़ियां हैं/शाखाएं हैं। इस प्रकार 72000नाड़ियां हैं जिनमें आत्मा/प्राण सोता है व क्रिया करता है।) '*क्षुरिकोपनिषद्*' में भी कहा है—'***द्वासप्तति सहस्त्राणि प्रतिनाडीषुतैतिलम्***' (72000 सर्वसूक्ष्म नाड़ियां हैं जिन्हें *तैतिल* कहा जाता है)।

इन प्रमुख नाड़ियों के स्थान भी *गोरक्षसंहिता* में कहे गए हैं। नासिका के बाएं भाग में इड़ा, दाएं में पिंगला, इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना है। बाईं आंख में गान्धारी, दाईं आंख में हस्तजिह्वा, दाएं कान में पूषा, बांए कान में यशस्विनी, मुख में अलम्बुषा, लिंग देश में कुहू, मूल स्थान में शंखिनी स्थित है। यह दस प्रमुख प्राण वाहक नाड़ियों के स्थान हैं। इनमें सुषुम्ना परातत्त्व में लीन है तथा ब्रह्म स्वरूप है। क्योंकि यही कुण्डलिनी शक्ति का मार्ग बनती है। प्राणायाम में इड़ा व पिंगला नाड़ियों का प्रयोग होता है। अत: यह तीनों परममहत्त्व वाली हैं। इन तीनों नाड़ियों का मिलन/संगम 'आज्ञाचक्र' पर होता है। तभी तो *क्षुरिकोपनिषद्* में कहा गया है—*तयोर्मध्ये परंस्थानं यस्तं वेद स वेदविद्।* अर्थात् इन तीनों के मध्य में जो परम स्थान हैं, उसे जानने वाला ही वेदों को जानने वाला है।

कुण्डलिनी के समीप होने से सुषुम्ना ही उसका मार्ग बनती है। जैसा कि '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में कहा गया है—'*सुषुम्ना बदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्*' (कुण्डलिनी शीघ्र ही विद्युत रेखा के समान सुषुम्ना नाड़ी में चढ़ती है।) अत: इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना में सुषुम्ना ही अति महत्त्व की है। इसी को सरस्वती भी कहा जाता है।

शरीर, मन आदि को जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र करना आवश्यक है, उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर पहला पड़ाव उपर्युक्त नाड़ियों का शोधन है। जिससे प्राण व कुण्डलिनी का पथ निर्बाध व निर्विकार हो सके। इस विषय में प्राणायाम ही उपयोगी सिद्ध होता है। शरीर को वज्र बनाने के लिए बुद्धि व मन को समर्थ बनाने के लिए, आयुवृद्धि व रोग नाश के लिए, स्फूर्ति, स्वास्थ्य व प्रफुल्लता के लिए, सर्दी गर्मी से शरीर की रक्षा के लिए, भूख प्यास की शान्ति के लिए, कुण्डलिनी जागरण के लिए तथा नाड़ी शोधन के लिए अलग-अलग प्रकार के प्राणायाम उपयोगी होते हैं।



प्राणायाम (बायें नथुने से)

चन्द्रांग सूर्यांग प्राणायाम—बद्ध पद्मासन लगाएं। मूलाधार बन्ध तथा उड्डियान बन्ध लगाएं। चन्द्रनाड़ी (बाएं नथुने) से पूरक करें। फिर जालन्धर बन्ध लगा कर यथाशक्ति कुम्भक करें। तब जालन्धर बन्ध खोल कर सूर्य नाड़ी से (दाएं नथुने से) रेचक करें। फिर यही क्रिया विपरीत क्रम से दुहराएं। अर्थात् सूर्य नाड़ी से पूरक करें और कुम्भक के बाद चन्द्रनाड़ी से रेचक करें। चन्द्र नाड़ी से पूरक करते समय श्वेतवर्णीय अमृत स्वरूप चन्द्रमा का ध्यान करें। सूर्य नाड़ी से पूरक करते समय तेजोमय सूर्य मंडल का ध्यान करें। इस प्रकार चन्द्र व सूर्य का ध्यान करते हुए बार-बार यही क्रम दोहराते हुए प्राणायाम करने से नाड़ी शोधन व सुख होता है। जैसा कि कहा गया है— 'गोरक्ष संहिता' में—

चन्द्रांग प्राणायम

बद्धपद्मासनों योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वायथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्॥
अमृतदधि संकाशं गोक्षीरधबलोपमम्।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्॥

अर्थात्—बद्ध पद्मासन में योगी प्राण का चन्द्र से पूरक करे। यथा शक्ति उसे धारण कर सूर्य से रेचक करे। तब अमृतमयी दही व दूध के समान उजले चन्द्रबिम्ब का ध्यान करें। इससे प्राणायाम करने वाला सुखी होता है।

सूर्यांग प्राणायाम

दक्षिणेश्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः।
कुम्भयित्वा विधानेन पुरश्चन्द्रेण रेचयेत्॥
प्रज्वलज्जवलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम्।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्॥

अर्थात्—दक्षिण (दाएं) से श्वास को शनैः शनैः पूरक करें। चिर विधान पूर्वक कुम्भक कर चन्द्र से रेचक करें। तब प्रज्वलित देदीप्यमान ज्वालापुञ्ज सूर्य मण्डल का ध्यान नाभि प्रदेश में करने से योगी/प्राणायामी सुखी होता है।

इस प्रकार दोनों अंगों को मिला कर बार-बार यह प्राणायाम करने से सुख व नाड़ी शोधन होता है।

दूसरी नाड़ी शोधक प्राणायाम—दूसरे नाड़ी शोधक प्राणायाम का साविधि वर्णन '*त्रिशिखब्रह्मणोपनिषद्*' में मिलता है—

हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्।
शनै शनै रथ बहिः प्रक्षिपेत्पिगलानिलत्॥
इडया बायुमापूर्य ब्रह्मन्बोडशमात्रया।
पूरितं कुंभयेत्पश्चाश्चतुः षष्ट्या तु मात्रया।
द्वात्रिशन्मात्रया सम्यग्रे चयेत्पिंगलानिलम्॥
एवं पुनः पुनः कार्य व्युत्क्रमानुमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः॥

अर्थात्—दाएं हाथ से नासापुटों को दबाकर पहले सारा वायु बाहर निकालें। फिर बाएं नासापुट से शनैः शनैः सोलह मात्रा से वायु को भीतर खींच कर, चौंसठ मात्रा से कुम्भक करें और बत्तीस मात्रा से पिंगला (सूर्य/दायां नथुने) के द्वारा उसे बाहर निकालें। तत्पश्चात् विपरीत क्रम से (यानि दाएं से सांस लेकर बाद में बाएं नथुने से निकालना) इसे दुहराएं। ऐसा करने से समस्त नाड़ियां वायु से भर जाती हैं,

और दसों वायु ठीक प्रकार चलने लगती हैं (नाड़ी शोधन होता है।)—यहां ध्यान देने की बात यह है कि जितने समय या मात्रा में श्वांस लेना है, उससे दुगुने में निकालना है। और जितने में निकालना है, उससे दुगुने में रोकना है। इस प्रकार



प्राणायाम (दायें नथुने से)

अधिकाधिक प्राणवायु नाड़ियों को भर पाती है तथा समुचित समय तक उनमें विचर पाती है और अधिक से अधिक अशुद्ध वायु बाहर निष्कासित कर पाती है। मात्राओं को घड़ी द्वारा सैकण्ड्स में नापा जा सकता है। अथवा प्रणव मंत्र ॐ के 16, 64 व 32 बार मन ही मन उच्चारण करके निश्चित समय पूर्ण किया जा सकता है। स्मरणीय तथ्य यह है कि नाड़ी शोधन प्राणायाम बद्धपद्मासन लगाकर ही किए जाते हैं। यहां बताए गए दोनों प्राणायामों में से कोई एक कम-से-कम तीन महीने तक करना चाहिए। तब समस्त नाड़ियों का समुचित शोधन होता है। जैसा कि कहा गया है—

सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना विम्बद्वयं ध्यायतां।
शुद्धा नाड़िगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयाइर्ध्वतः॥

—(*गोरक्ष संहिता*)

अर्थात्—सूर्य-चन्द्र विधि से दोनों बिम्बों को ध्यान करते हुए अभ्यास में तत्पर रहने से योगी सभी नाड़ियों को तीन मास के पश्चात् शुद्ध कर लेता है। ।

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादादिव्यक्तिरारोग्यं जाते नाड़ि शोधने॥

अर्थात्—नाड़ियों के शोध से यथेष्ट मात्रा में प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर आरोग्य प्राप्त होता है और नाद स्पष्ट सुनाई देता है।

नाड़िशोधन के विषय में *'हठयोगप्रदीपिका'* ने उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षण भी बताए हैं। जिनसे स्वंय ही साधक जान सकता है, कि तीर निशाने पर बैठा है या नहीं।

यदातु नाडी शुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम्॥

अर्थात्—जब नाड़ी शोधन हो जाता है तब उसके बाह्य लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। काया कृश हो जाती है, और शरीर कान्तिमय हो जाता है। ये निश्चित लक्षण हैं।

अतः साधक यदि इस प्राणायाम की साधना में शरीर को पतला या हल्का होता हुआ अनुभव करे तो घबराए नहीं। यह सफलता का लक्षण है। शरीर की फालतू चर्बी को दूर कर प्राणायाम शरीर को हल्का व कृश बनाता है। क्योंकि स्थूलता व गुरुता (भारीपन) आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, शिथिलता, दीर्घसूत्रता, निद्रा, बहुभोजी होना रोगों को बढ़ाता है। तमोगुण में वृद्धि करता है। जबकि हल्का व पतला शरीर, प्रसन्न फुर्तीला, सत्त्वमय रहता है। जिससे तेज या कांति में वृद्धि होती है और शरीर तप व साधना में समर्थ होता है।

प्राणायामों का तथा अन्य योग साधनाओं का अभ्यास करने से पूर्व प्रारम्भ में *नाड़ी शोधक प्राणायाम से ही साधनाध्रा आरम्भ करनी चाहिए।* ताकि रही सही अपात्रता भी दूर हो जाए और शरीर साधना के योग्य व साधना द्वारा प्राप्त शक्ति को धारण करने में समर्थ हो जाए। बिना नाड़ियों को शोधन किए किया गया प्राणयाम व ध्यान पूर्ण लाभ नहीं देता तथा उपलब्धियों को संदिग्ध या विकार ग्रस्त कर सकता है। अतः विधान के अनुसार आगे बढ़ें। जल्दबाजी बिल्कुल न करें। *जैसे-जैसे पात्रता बढ़ती चली जाएगी, उपलब्धियां, शक्तियां व सिद्धियां स्वतः प्राप्त होती चली जाएंगी।* चुम्बक जिस प्रकार से लोहे को सहज ही खींच लेता है, उसी प्रकार पात्रता उपलब्धियों व सिद्धियों को सहज ही आकर्षित कर लेती है।

अजपा गायत्री प्राणायाम

अजपा गायत्री को हंस गायत्री भी कहते हैं। यद्यपि 'हंस' शब्द का प्रयोग आत्मा के पर्याय स्वरूप होता है। आत्मा जब देह छोड़ती है, तो प्राण भी देह छोड़ता है। श्वांस-प्रश्वांस क्रिया में प्राण जब बाहर जाता है तब 'सकार' की ध्वनि करता है और अपान जब भीतर आता है तब 'हकार' की ध्वनि करता है। इस प्रकार मनुष्य श्वांस प्रक्रिया के साथ अनजाने में ही हंस गायत्री (सोऽहं या हंसः) का उच्चारण करता रहता है। जिसका अर्थ है 'वो मैं हूं' या 'हूं मैं वो'। इस प्रकार स्वयं को (आत्मा) परम का (परमात्मा) अंश वह अनजाने में ही स्वीकारता रहता है। अनजाने में जाप होते रहने से ही इसे 'अजपा गायत्री' भी कहा जाता है। इस प्रकार एक दिन

में जीव इक्कीस हजार छह सौ हंसमंत्र (औसतन) जपता है। जैसा कि कहा है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानि त्वहोरात्रे सहस्त्राण्येकविंशति।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

—(*गो. संहिता*)

अर्थात्—यह जीव (प्राणवायु) सकार की ध्वनि से बाहर आता और हकार की ध्वनि से भीतर जाता है। इस प्रकार वह सदा हंस मंत्र का जाप करता रहता है। एक दिन रात में जीव इक्कीस हजार छः सौ बार इस मंत्र का जाप करता है।

इसी अजपा गायत्री को ध्यान में रख कर प्राणायाम करने पर (अर्थात्—श्वांस प्रश्वांस के साथ हंसः अथवा 'सोऽहं' मंत्र के मानसिक जाप से) ज्ञान व मोक्ष प्राप्त होते हैं। अजपा गायत्री प्राणायाम अत्यंत पवित्र व मुक्ति देने वाला है। जैसा कि कहा गया है—

अजपा नाम गायत्रीं योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्थाः संकल्पमात्रे सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशो विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

अर्थात्—अजपा नामक गायत्री योगियों को मोक्ष देती है। इसके संकल्प मात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इसके समान न कोई विद्या है न इसके समान कोई जप है। इस के समान कोई ज्ञान भी भूत या भविष्य में नहीं हो सकता।

यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी में ही उत्पन्न होती है। 'कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री' और जिस प्रकार तिलों में तेल रहता है अथवा काष्ठ में अग्नि रहता है, उसी प्रकार समस्त जीवों में कुण्डलिनी से उत्पन्न अजपा गायत्री व्याप्त रहती है। इस भेद को जान लेने पर (इसका प्राणायाम में ध्यान सहित अभ्यास करने पर) मृत्यु का उल्लंधन भी किया जा सकता है। जैसा कि '*हंसोपनिषद्*' में कहा है—'***सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु, तिलेषु तेलमिव। तं विदित्वा न मृत्युमेति॥***' '*पाशुपतब्रह्मोपनिषद्*' ने तो इसी को ईश्वर व जीव स्वीकारा है और इसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति मानी है। '***हंसात्ममालिका वर्ण ब्रह्मकाल प्रचोदिता।***'

यह तथ्य समस्त योगविषयक ग्रन्थों ने समान रूप से स्वीकारा है। '*विज्ञान भैरव*' में भगवान भैरव ने यही तथ्य और विस्तार से देवी को समझाया है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येकविंशतिः।
जयो देव्याः समुद्दिष्ट प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः॥

भावार्थ यह है कि प्राण सकार के साथ बाहर आता है और अपान जब शरीर में प्रवेश करता है तब हकार का उच्चारण करता है। इस प्रकार प्राण व अपान की गति जब तक चलती रहती है तब तक जीव प्रतिदिन निरंतर 'हंस-हंस' मन्त्र का उच्चारण करता है। दिन-रात में यह जप 21,600 बार होता है। (प्राणों के निकलते समय भी यदि इस अजपा जप के प्रति तन्मयता बनी रहे तो मोक्ष मिलता है)।

उर्ध्वेद्वादशान्ते प्राणः प्राणनरूपो
जीवना ख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः संस्थाप्यः।
अधश्च हृदि हृदय स्थाने जीवोऽपानः,
जीव्यतेऽनेनेति जीवः......विमर्शवान स्यादिति भावः ॥

(श्लोक 24, विज्ञान भैरव)

अर्थात्—ऊपर हृदय से द्वादशान्त तक जाने वाला प्राण और द्वादशांत से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान यह परादेवी का उच्चारण है, स्पन्दन है। परादेवी ही स्वयं इसका निरन्तर उच्चारण करती रहती हैं, यानि प्राण व अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती हैं। यदि परादेवी का इनसे (प्राणापान से) सम्पर्क न हो तो प्राण का प्रवाह नियमित रूप से नहीं हो सकता। परादेवी के इस स्पन्दन (हंस के अजपा मन्त्र पर) पर ध्यान करते हुए वहां भैरव की शक्ति की भावना करने से योगी में भैरव स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। अथवा उसका भैरव स्वरूप प्रकट हो जाता है। (यहां परादेवी कहकर कुण्डलिनी को ही पुकारा गया है।

विशेष : प्राण और अपान की गति जिस स्थान पर आकर रुक जाती है उसे द्वादशांत कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्राण नासिका से बारह उंगल की दूरी तक बाहर जाकर गतिहीन हो जाता है और अपान हृदय से बारह अंगुल नीचे तक आकर रुक जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से यह दूरी तिगुनी (36 अंगुल) तक बढ़ाई जा सकती है। इससे अधिक दूर गया प्राण फिर वापस नहीं लौटता। यह एक प्राणायाम के उच्च अभ्यासों में रखी जाने वाली सावधानी भी है। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा भी गया है—

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते॥
शुद्धिमेति यदा सर्वनाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण संग्रहणे क्षमः॥

अर्थात्—प्राणायाम रूप हंस बाएं व दाएं मार्ग से 36 अंगुल बाहर निकलता है अतः वायु को ही प्राण कहते हैं। मल से भरी नाड़ियों के चक्र का शोधन प्राणायाम से होता है अतः योगी को प्राण वायु को ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए।

आगे कहते हैं—'प्राण व अपान रूपी वायु को नासिका से 36 अंगुल तक

बाहर निकाला जा सकता है। इससे अधिक दूर निकल जाए तो उसे लौटाना कठिन हो जाता है। और न लौटने पर मरण निश्चित है। अतः वायु को ही प्राण की संज्ञा दी है।' इसलिए शास्त्रों ने प्राण का महत्त्व सिद्ध करते हुए कहा है—

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्॥

(प्राण ही भगवान शिव हैं, प्राण ही विष्णु और पितामह ब्रह्मा है। सब लोकों कों प्राण ने ही धारण कर रखा है, अतः यह सम्पूर्ण संसार ही प्राणायाम है)।

बहरहाल श्वांस निःश्वांस के साथ होने वाली अजपा गायत्री पर प्राणायाम के समय ध्यान लगाना ही अजपा गायत्री प्राणायाम है। साथ ही यदि द्वादशांत तक जाते प्राण व अपान पर भी ध्यान लगाया जाए तो लाभ शीघ्र व अधिक निश्चित हो जाता है। अजपा गायत्री प्राणायाम के लाभों को पहले बता दिया गया है।

त्रिविधि प्राणायाम

बारह मात्रा युक्त प्राणायाम रेचक, पूरक व कुम्भक तीन प्रकार का होता है। तीनों को मिलाकर करने से त्रिविधि प्राणायाम होता है। यह प्रणवात्मक होता है। क्योंकि प्रणव (ॐ) के अ+उ+म् (ब्रह्मा, विष्णु, शिव अथवा—ज्ञान, क्रिया व संकल्प या सूर्य, अग्नि व चन्द्र) की तीन मात्राएं ही पूरक, कुम्भक व रेचक में रहती हैं। इस प्राणायाम के साथ मन ही मन ॐ का जाप करना चाहिए और प्राण व अपान का निरोध कर श्वांस को सुषुम्ना में चढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। इससे सुषुम्ना मार्ग कुण्डलिनी के लिए खुलता है। पूरक के समय 'अकार' का स्मरण करते हुए बारह बार ॐ का जाप करें। कुम्भक के समय 'उकार' का स्मरण करते हुए सोलह बार ॐ का जाप करें और रेचक के समय 'मकार' का ध्यान करते हुए दस बार ॐ का जाप करें तब एक प्राणायाम पूर्ण होगा। पूरक चन्द्र नाड़ी से व रेचक सूर्य नाड़ी से करें। इसे त्रिविधि प्राणायाम या प्रणवात्मक प्राणायाम कहते हैं जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामे भवेत्त्रेधा मात्रा द्वादशसंयुतः॥

अर्थात्—रेचक, पूरक व कुम्भक प्रणवात्मक (ॐकार का सूचक) है। बारह मात्रा युक्त प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। (यही त्रिविधि प्राणायाम है)।

जैसे-जैसे अभ्यास दृढ़ होता जाए वैसे-वैसे मात्राओं (प्रणव के जाप)को बढ़ाते जाना चाहिए और उन्हें तिगुनी तक कर लेना चाहिए। तब प्राणायाम उत्तम माना जाता है। प्राणायाम को अधम, मध्यम व उत्तम—तीन प्रकार का माना गया है। अधम प्राणायाम में पूरक 12 प्रणव से, कुम्भक 16 प्रणव से और रेचक 10 प्रणव से किया जाता है। मध्यम प्राणायाम में पूरक 24 प्रणव से, कुम्भक 32 प्रणव से और

रेचक 20 प्रणव से किया जाता है (यानि मात्राएं या प्रणव दुगुने हो जाते हैं)। जबकि उत्तम प्राणायाम में पूरक 36 प्रणव से, कुम्भक 64 प्रणव से और रेचक 40 प्रणव से किया जाता है। उत्तम प्राणायाम में दक्षता, शरीर को लघुता/हल्कापन देती है और योगी के ऊपर उठते ही उसकी देह का ही नहीं, मन आत्मा का भी उत्थान होता है तथा कुण्डलिनी जागरण भी।

त्रिविधि प्राणायाम के सम्बन्ध में इन प्राणायामों के लक्षण व प्रभावों में '*त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्*' में खासा प्रकाश डाला गया है। देखिए प्रमाण—

लक्षण

प्रस्वेदुजननं यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पन वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः।।
कम्पन वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः।

प्रभाव

अधमे व्याधियापानां नाशः स्यान्मध्यमेपुनः।
पाप रोग महाव्याधि नाशः स्यादुत्तमः पुनः।।
अल्पमूत्रोऽल्पपिष्टश्च लघुदेहो मिताशनः।
षत्विन्द्रियः पदुमतिः कालत्रयविदात्मवान्।।

अर्थात्—जिस प्राणायाम में पसीना आता है, वह अधम है। जिसमें शरीर में कंपकंपी होती है, वह मध्यम है। और जिसमें शरीर ऊपर उठता है, वह उत्तम है। अधम प्राणायाम से व्याधियों व पापों का नाश होता है। मध्यम से रोगों व महाव्याधियों का पापों सहित नाश होता है और उत्तम प्राणायाम से साधक मिताहारी, अल्पमूत्र व अल्पमल वाला हो जाता है। शरीर की लघुता (हल्कापन) व सत्त्वगुण प्राप्ति होती है। इन्द्रियां व बुद्धि तीव्र होकर साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है। (त्रिकालज्ञता कुण्डलिनी जागरण के बिना सम्भव नहीं होती, अतः यह प्रमाणित है कि कुण्डलिनी जागरण भी हो जाता है।

'*गोरक्ष संहिता*' आदि योगशास्त्रों ने संक्षेप में यह तथ्य स्वीकारा है और अधम, मध्यम व उत्तम का वर्गीकरण करने के सिद्धांत भी दिया है—

पूरके द्वादशी कुर्याट कुम्भके षोडशो भवेत्।
रेचके दश ओंकाराः प्राणायामः स उच्चते।।
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्य में द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः।।
अधमे चोद्यते धर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत्।।

अर्थात्—पूरक में बारह, कुम्भक में सोलह और रेचक में दस प्रणव की

मात्राओं वाला प्राणायाम अधम है। मध्यम में इससे दुगुनी व उत्तम में तिगुनी प्रणव मात्राएं होती हैं। अधम प्राणायाम में पसीना आता है। मध्यम में कम्पन होता है और उत्तम प्राणायाम के योगी का शरीर ऊपर उठता है। अत: प्रणवात्मक प्राणायाम का अभ्यास करें।

कुम्भक प्राणायाम (केवल व सहित)

कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि के लिए प्रारम्भ में त्रिविधि प्राणायाम ही करना चाहिए। अभ्यास सिद्ध हो जाने पर शरीर के सभी द्वारों को बन्द करके कुम्भक प्राणायाम किया जाता है और वायु को भीतर ही रोक कर उसे सुषुम्ना में चढ़ाया जाता है। उस समय सहस्रार चक्र में परमात्मा का ध्यान किया जाता है। यह अत्यंत श्रेष्ठ प्राणायाम है। कुण्डलिनी जागरण के साथ-साथ परमात्मा की ज्योति के अथवा आत्म साक्षात्कार के लिए यह अत्यंत उपयुक्त है। इसके दो भेद 'केवल' व 'सहित' माने जाते हैं। केवल कुम्भक—विशेषकर कुण्डलिनी जागरण के उपयोगी माना गया है।

कुम्भक प्राणायाम के संदर्भ में '*गोरक्ष संहिता*' में स्पष्ट कहा गया है—

द्वाराणां नवकं निरुद्धय मरुतं पीत्वा दृढं धारितं।
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्यासमुच्चालितम्॥
आत्मस्थान यत स्वनेन विधि वद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं।
यावत्तिष्ठिति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते॥

अर्थात्—'नौ द्वारों को रोककर वायु पान करे (पूरक) और उसे दृढ़ता से धारण करके (कुम्भक) अग्नि और अपान के योग से जागृत् हुई कुण्डलिनी को ऊपर स्थिर कर उक्त वायु से संयुक्त करें। (अर्थात्—वायु के प्रभाव से कुण्डलिनी को ऊपर चढ़ाएं) इस प्रकार आत्मा का ध्यान करने वाला योगी जब तक जीवित रहता है बड़े-बड़े योगीश्वरों द्वारा स्तुत्य होता है।' और भी देखें—

प्राणायामो शवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
भदोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥

अर्थात्—प्राणायाम के नित्य अभ्यास को पाप रूपी ईंधन को भस्म करने वाले अग्नि के समान तथा भवसागर से पार उतारने वाले महासेतु के समान कहा जाता है। (यानि पापनाश एवं मोक्षदायक होता है)।

इसीलिए कुम्भक प्राणायाम करने वाले योगी को सर्वश्रेष्ठ और योगीश्वरों द्वारा स्तुत्य बताया गया है। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद 'सहित' व 'केवल' हैं। सहित कुम्भक पूरक से युक्त होता है। ऊपर के श्लोक में 9 द्वारों को रोककर वायुपान कर कुम्भक करने की विधि—'*सहित कुम्भक प्राणायाम*' की कही गई है। **'सहित कुम्भक' में दक्षता प्राप्त हो जाने पर ही केवल कुम्भक करना चाहिए। 'केवल**

कुम्भक' पूरक तथा रेचक के बिना होता है। अत: इसे 'केवल' कहा जाता है। इस प्राणायाम में श्वांस को फेफड़ों में भरे बिना अथवा बाहर निकाले बिना, जिस भी स्थिति में श्वांस है उसे जहां के तहां पर रोक दिया जाता है और फिर उस रोके हुए वायु को सुषुम्ना में प्रेरित किया जाता है। इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

'केवल कुम्भक' काफी कठिन प्राणायाम है। इसे शनैः शनैः क्रमशः त्रिविधि प्राणायाम व सहित कुम्भक में निपुणता प्राप्त करने के बाद ही आरम्भ करना चाहिए। बिना पात्रता उत्पन्न किए 'केवल कुम्भक' का अभ्यास घातक हो सकता है और श्वांस अवरुद्ध (CHOCKING) होकर मृत्यु भी सम्भावित है। अत: पाठकों को पुन: धैर्य व पात्रता का महत्त्व याद दिलाना आवश्यक है। 'केवल कुम्भक प्राणायाम' की सिद्धि कुण्डलिनी जागरण करने वाली तथा अनेक चमत्कारी उपलब्धियों वाली कही गई है। '*त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्*' के अनुसार—'रेचक व पूरक रहित (केवल) कुम्भक के अभ्यासी के लिए तीनों कालों में कुछ भी करना कठिन नहीं होता।' जैसा कि कहा है—

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरमेव यः।
करोतित्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम्॥

इसके अलावा अन्य योगशास्त्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। जैसे '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में कहा गया है—

'केवल कुम्भक सिद्धेत्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति।'

अर्थात्—'केवल कुम्भक सिद्ध हो जाने पर साधक को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।' इसके अलावा केवल कुम्भक प्राणायाम कुण्डलिनी जागृत भी करता है (वैसे तो इस प्रकार की चमत्कारिक व अविश्वसनीय क्षमताएं कुण्डलिनी जागरण के बिना सम्भव ही नहीं हैं। अत: कुण्डलिनी जागरण 'केवल कुम्भक' से होता है—यह स्वत: ही स्पष्ट है। तथापि प्रमाण के लिए देखिए) जैसा कि कहा गया है—'**केवल कुम्भकात् कुण्डलिनी बोधोजायते।**'—*शाण्डिल्योपनिषद्*। अर्थात्—केवल कुम्भक से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है।

वायु निरोधाभ्यास

'केवल कुम्भक' वास्तव में वायुनिरोध से सम्बन्धित है। प्राणायामों (समस्त) में इसीलिए वायु निरोध का अभ्यास आवश्यक कहा गया है। प्राणवायु की चंचलता मन व बिन्दु (वीर्य) को भी चंचल करती है। किन्तु प्राणवायु को निश्चल करने से मन भी शांत तथा वीर्य भी स्थिर होता है अत: वायु निरोध का अभ्यास उन पाठकों के लिए भी उपयोगी है जो कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर न भी जाना चाहते हैं। शरीर के अंगों को बलिष्ठ बनाने, छाती पर पत्थर तुड़ाने या ट्रक चढ़वा लेने, थाली को कागज की भांति चीर डालने आदि जैसे चमत्कार करना चाहते हैं, ऐसे चमत्कार

वायु निरोध के अभ्यास से तथा शरीर के विशिष्ट भाग/अंग को प्राणवायु द्वारा दृढ़ कर लेने से ही संम्भव है। जैसा कि आमतौर पर देखा जा सकता है कि भरी वस्तु जब सामान्य रूप से नहीं उठाई या हिलाई जाती तब सांस रोक कर, कंन्सन्ट्रेट करके उसे उठाने या हिलाने में सफलता मिल जाती है। यह वायु निरोध व प्राणों के केन्द्रीयकरण का एक अति सामान्य उदाहरण है। वायु निरोधाभ्यास के लिए इसीलिए कहा गया है—

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्व माप्नोति ततो वायुं निरुद्धयेत्॥

अर्थात्—प्राणवायु के चालायमान होने पर बिन्दु भी चालायमान होता है। प्राणवायु के निश्चल होने पर बिन्दु भी स्थिर होता है। अत: प्राणवायु की स्थिरता में ही स्थाणुता संभव है। इसलिए वायुनिरोध का अभ्यास करें।

शरीर में जब तक वायु स्थित है, देह नहीं छूटती। वायु के शरीर से निकल जाने पर ही मरण होता है। अत: प्राण वायु के निरोध का अभ्यास अवश्य करें। इससे चित्त भी स्वस्थ रहता है। वायुनिरोध के समय दृष्टि को भृकुटियों के मध्य रखकर ध्यान लगाया जाता है। इस अभ्यास की सिद्धि मृत्यु के भय से मुक्त करने वाली मानी गयी है। जैसा कि गोरखनाथ जी ने '*गोरख संहिता*' में कहा भी है—

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चितं निरामंयम्।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुत:॥

अर्थात्—जब तक प्राणवायु का निरोध किया जाता है तब तक चित्त (मन) विकार रहित व स्वस्थ रहता है और जब तक दृष्टि भवों के मध्य में स्थिर है, तब तक काल का भय कहां है? (अर्थात् नहीं है)।

इनके अतिरिक्त अनेक प्राणायाम और भी हैं जिनसे भिन्न-भिन्न लाभ होते हैं। जैसे सर्दी के मौसम में गर्मी का लगना अथवा गर्मी में सर्दी का लगना (मौसम से शरीर की सुरक्षा के लिए। जैसे हिमालय आदि बर्फीले प्रदेशों में तप करने वाले योगियों को इस प्रकार के प्राणायामों की आवश्यकता पड़ जाती है)। लोहार की धौंकनी की भांति शीघ्रातिशीघ्र श्वांस लेना व छोड़ना शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है। इसे '*भस्त्रिका-प्राणायाम*' कहते हैं। अथवा भूख व प्यास के शमन के लिए किए जाने वाले प्राणायाम (मुख खोलकर अधिकाधिक वायु को मुख में लेकर सटक कर पेट में उतारा जाता है) आदि। किन्तु उन सबका कुण्डलिनी व योग से विशेष सम्बन्ध न होने के कारण विस्तार भय से उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

कुछ प्राणायाम ऐसे भी है जिनमें नासिका की बजाए मुख या जिह्वा का उपयोग किया जाता है और वायु को जिह्वा द्वारा पीया जाता है। इनमें से एक प्रमुख 'खेचरी मुद्रा' के अध्याय में कहेंगे। क्योंकि वह खेचरी मुद्रा का ही एक भाग है।

काकी मुद्रा



काकी मुद्रा

काकीमुद्रा में प्राणों का आयाम न करके प्राण वायु का पान किया जाता है। उस समय जीभ को कौए की चोंच के समान अर्धगोलाकार/नालीदार बना लिया जाता है अतः इसे 'काकी मुद्रा' कहा जाता है। वृद्धावस्था को रोकने के लिए यह अत्यंत उपयोगी कहा गया है। देखिए प्रमाण—

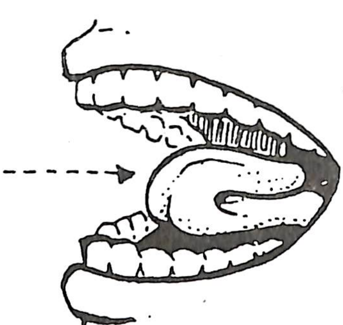
काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलंपिवेत्।
प्राणापानविधाने न तोऽसौ भवति निर्जरः॥
रसना तालुमूलेन य प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संभवः॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात् कौए की चोंच के सदृश मुख को करके जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है (इस मुद्रा से वायु खींचने पर ठण्डी हो जाती है अतः शीतल वायु कही जाती है) वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योगी जीभ से प्राणवायु पीकर तालुमूल को पूरित करता (भर लेता) है, वह छः मास के अभ्यास से समस्त रोगों से छुटकारा पा जाता है।

खेचरीमुद्रा के अन्तर्गत जिह्वा द्वारा वायुपान से लाभ के विषय में '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में कहा गया है—

जिह्वा वायुमानीय जिह्वा मूले निरोधयेत्।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते॥



खेचरी मुद्रा

अर्थात्—जो योगी जीभ से वायु को ग्रहण कर उसे जिह्वा मूल में रोककर अमृत का पान करता है। उसका सब प्रकार से कल्याण होता है (अर्थात्—भौतिक व अभौतिक दोनों तरह से लाभ होता है।)

विशेष

इस प्रकार जीभ से वायु ग्रहण करना और उसे कण्ठ मूल में धारण करना भी दीर्घायु तथा रोगादि के नाश में उपयोगी है। नासिका से वायु ग्रहण करना व उसके नाभि प्रदेश में धारण करना भी रोग, पाप आदि के नाश व आयु वृद्धि में उपयोगी है। कुण्डलिनी जागरण एवं योग सिद्धि के लिए नाभिप्रदेश में धारण किए वायु को सुषुम्ना में प्रेषित किया जाता है और कण्ठमूल में धारण वायु को सहस्त्रार चक्र में प्रेषित किया जाता है। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं को समर्थ, अनुभवी व सुयोग्य गुरु के मार्गदर्शन में करना निरापद होता है फिर भी हमारे दृष्टिकोण से नासिका मार्ग से वायुग्रहण करने की प्रणाली अधिक सहज, सरल व स्वभाविक होने से, विधि समझ लिए जाने के बाद, पूर्ण सावधानी, धैर्य व संयम के साथ बिना गुरु के भी अभ्यास में लाई जा सकती है। किन्तु जिह्वा द्वारा वायुग्रहण कर उसको सहस्त्रार में प्रेषित करना कठिन, असहज व अस्वाभाविक होने से बिना समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में अभ्यास में लानी किसी भी प्रकार से निरापद नहीं कही जा सकती।

श्वांसावरोध (CHOCKING) तथा वायु के मस्तक में चढ़ जाने आदि की घातक सम्भावनाएं जिह्वा द्वारा वायु ग्रहण कर उसके सहस्त्रार चक्र में प्रेषण में निहित हैं। अन्य उपद्रव भी सम्भावित हैं। अतः लापरवाही न करें।

आसन, बंध एवं सावधानी

प्राणायाम सम्बन्धी आसनों, बन्धों, विधि व सावधानियों के सम्बन्ध में विवेचन—

इस प्रसंग में जिन आसनों व बन्धों आदि का ज़िक्र हुआ है, यद्यपि उन पर संक्षिप्त प्रकाश वर्णन के समय ही डाला जा चुका है। किन्तु उनकी विधि व लाभों के विषय में भी कुछ सारगर्भित चर्चा कर लेना आवश्यक मालूम होता है जिससे पाठकों को साधना में अनावश्यक विघ्न व उलझनें न पड़ें और उनका ज्ञानवर्धन भी हो सके।

आसन

योग के आठों अंगों का अपना विशिष्ट महत्त्व है और वे साधक को अपने से अगले अंग के सुयोग्य बनाते हैं। यम और नियम तो भूमिकात्मक अंग हैं किन्तु शेष छः अंग तो योग से प्रत्यक्ष और अविभिन्न रूप से जुड़े हैं। इनका प्रथम आसन ही हैं। ऋषियों ने प्रकृति, पशु, पक्षी आदि के स्वभाव का अध्ययन कर आसनों व मुद्राओं का निर्माण किया। आसनों के मूल प्रवर्तक तो स्वयं भगवान शिव हैं जिन्होंने 84 लाख योनियों के आधार पर 84 लाख आसन बनाए थे। किन्तु संख्या में अत्यधिक हो जाने पर उनमें प्रमुख 84 आसन छांट लिए गए। योग विदों ने उन 84 आसनों में भी प्रमुख रूप से उपयोगी दो आसन छांट लिए। जिनमें एक सिद्ध व दूसरा पद्म आसन है। जैसा कि कहा गया है—

आसनानि न तावन्तो यावन्तो जीव जन्तवः।
एतेषाम खिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः॥

अर्थात्—लोक में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उनकी चेष्टाओं के अनुसार उतने ही आसन हैं। आसनों के इन सभी भेदों को महादेव ही जानते हैं। (इसीलिए शिव को पशुपति भी कहते हैं और '*रुद्रहृदयउपनिषद्*' के अनुसार—ब्रह्मा जीवों की अंतर आत्मा, विष्णु सनातनात्मा और शिव परमात्मा है।)

'*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है—

चतुर शीतिलक्षाणामेककं समुद्राहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशेनं शतं कृतम्॥

अर्थात्—चौरासी लाख आसनों का भेद जानने में मनुष्य के सक्षम न होने के कारण शिव ने केवल 84 आसन बना दिए। ये 84 लाख आसनों के सार स्वरूप हैं। (बाद में योगवेत्ता ऋषियों ने उनमें से दो ही प्रमुख उपयोगी आसन छांटे)।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥

(84 आसनों को भी अधिक जान योगवेत्ताओं ने उनमें से दो ही प्रमुख आसन निश्चित किए—एक सिद्धासन और दूसरा कमलासन/पद्मासन)।

यद्यपि आसनों का राजा शीर्षासन को माना गया है। किन्तु वह शारीरिक/भौतिक लाभ व रोगनाश की दृष्टि से। आध्यात्मिक लाभ या कुण्डलिनी जागरण आदि के सम्बन्ध में ध्यान योग्य आसनों में उपर्युक्त दो ही प्रमुख हैं। (समस्त 84 आसनों को उनकी विधि, लाभ, अवधि, सावधानियों तथा भेदों सहित, अन्य सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं (षट्कर्म) तथा स्थूल यौगिक व्यायाम सहित विस्तृत वर्णन प्राप्त करने के लिए इच्छुक पाठक इसी प्रकाशन से मेरी पूर्व प्रकाशित पुस्तक '*सम्पूर्ण योगशास्त्र*' पढ़ें)। यहां पहले सिद्धासन व पद्मासन पर कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चा करेंगे।

सिद्धासन

योनिस्थान कमंघ्रिमूल घटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेद्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं ह्येतन्मोक्षकपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥

(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—गुदा व जननांग/उपस्थ के मध्य में योनि स्थान है। उसे बाएं पैर की एड़ी से दबा लें। दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थ पर लगाकर नीचे दबाएं। इस प्रकार दोनों एड़ियां एक के ऊपर एक हो जाती हैं और पांवों के अंगूठे जंघा व गुल्फ के नीचे छिप जाते हैं। इनके दबाव से योनिस्थान के नीचे व ऊपर दो इन्द्रियां (गुदा व उपस्थ) रुकते हैं। (यानि इन दोनों पर संयम होता है)। फिर हृदय से 4 अंगुल ऊपर

ठोड़ी को स्थापित करके चित्त को सब इन्द्रियों से हटाकर एकाग्र करें और दोनों नेत्रों से निश्चल होकर भृकुटि मध्य को देखें। (इस अभ्यास से) हृदय कपाट को खोलकर यह मोक्ष मार्ग के दर्शन कराता है। अत: इसे सिद्धासन कहते हैं।

व्याख्या

धरती पर दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएं। बाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी प्रदेश (गुदा व शिश्न के मध्य का स्थान) पर दृढ़ता से स्थापित करें। दाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को उपस्थ के ऊपर तथा पहली एड़ी के (टखने के) ऊपर स्थापित करें। दोनों पैरों के तलवों व अंगूठों को एक-दूसरे पैर की जंघाओं व पिंडलियों के बीच फंसा लें और कमर, गर्दन व सिर को सीधा समसूत्र कर लें। मूलबन्ध लगाएं। उड्डियान बन्ध लगाएं और फिर जालन्धर बन्ध लगाएं। यह सिद्धासन हुआ। इस आसन में आज्ञाचक्र (भृकुटियों के मध्य) पर दृष्टि स्थिर करके मन व इन्द्रियों को भी वहीं एकाग्र करके ध्यान करें तो आत्मसाक्षात्कार होता है। यह तथ्य आगे ध्यान योग में विस्तार से लेंगे। यहां केवल आसन की विधि को समझा रहे हैं।

यह आसन स्वत: सिद्ध है। (क्योंकि मूलबन्ध को लगाने में और स्थिर रखने में अति सहायक होता है तथा पैरों में पद्मासन की भांति जल्दी ही थकान नहीं होने देता।) तथा सिद्धों के लिए है। अत: इसे सिद्धासन कहते हैं। बहुत से विद्वान पद्मासन व सिद्धासन में भी सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। क्योंकि यह सरल, सहयोगी एवं स्वत: सिद्ध है। परन्तु बहुत से विद्वान पद्मासन को अधिक श्रेष्ठ कहते हैं। '*योग कुण्डल्य उपनिषद्*' ने तो सिद्धासन से वज्रासन को श्रेष्ठ माना है और छंटे हुए दो आसनों में पद्मासन के साथ वज्रासन को ही रखा है। यथा—'**उपासनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा।**' अर्थात्—आसनों में दो ही प्रमुख हैं—पद्मासन तथा वज्रासन। बहरहाल वज्रासन अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। एक मात्र यही आसन है जो भोजनोपरांत भी किया जा सकता है। मगर हम यहां इनकी श्रेष्ठता के विवाद में नहीं पड़ेंगे।

पद्मासन

वामोरुपरि दक्षिणं च चरणंसंस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम।

अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधि विकार नाशन कर पद्मासन प्रोच्यते ॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—बाईं जंघा के मूल में दायां और दांई जंघा के मूल में बायां पैर मोड़कर स्थापित करें। फिर हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर दाएं हाथ से बाएं पैर

का तथा बाएं हाथ से दाएं पैर का अंगूठा पकड़ लें। ठोड़ी को हृदय से लगाकर नासिका के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से स्थिर होकर देखें (मन, बुद्धि व इन्द्रियों को भी वहीं केन्द्रित करें) यह पद्मासन सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाला है।

व्याख्या

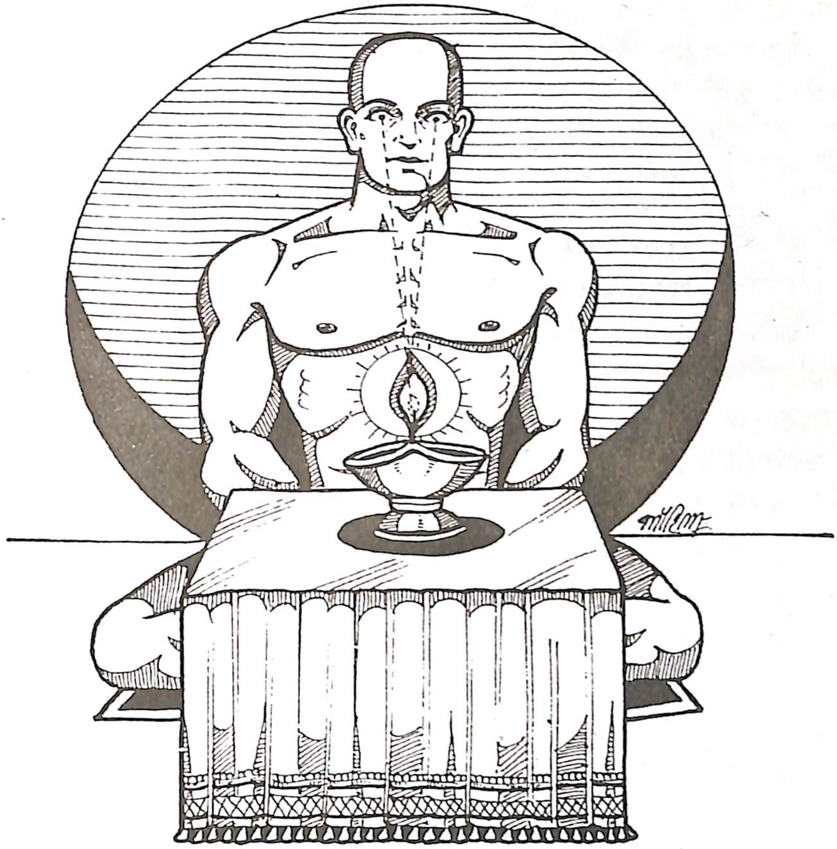
यह विधि वास्तव में बद्ध पद्मासन की है। पद्मासन में हाथों की स्थिति भिन्न होती है। पैरों को अंगूठों को बांधने के स्थान पर दोनों हाथ घुटनों पर अथवा गोदी में रखे जाते हैं। सिद्धासन में भी हाथों को इसी प्रकार रखना चाहिए। किन्तु दोनों ही आसनों में पैरों की स्थिति व लगाए जाने वाले बन्धों एवं ध्यान का महत्त्व है न कि हाथों की स्थिति का। हाथों की स्थिति तो विभिन्न क्रियाओं में बदल दी जाती है। जैसे जाप करना हो तो हाथ से माला फेरी जाती है। मानसिक ध्यान में तर्जनी, अनामिका, मध्यमा, कनिष्ठा आदि को दबाकर (अंगूठे से) रखा जाता है। प्रार्थना या आत्मनिवेदन में नमस्कार की मुद्रा में छाती पर बांध लिया जाता है अथवा भजन आदि में हाथों से खड़ताल/मजीरा आदि बजाया जाता है आदि। अत: हाथों की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है पैरों की स्थिति, कमर व गर्दन की स्थिति। महत्त्वपूर्ण है, मूल, उड्डियान व जालंधर बंध तथा महत्त्वपूर्ण है ध्यान।

त्राटक

यहां दोनों आसनों के माध्यम से अन्तर्त्राटक एवं बाह्यत्राटक का उपाय भी बता दिया गया है। त्राटक भी योग का ही अंग है तथा मन के साथ-साथ दृष्टि के केन्द्रीकरण व उनकी शक्तियों को बढ़ाने में अत्यंत उपयोगी है, किन्तु कुण्डलिनी के सम्बन्ध में यह उतना प्रभावी नहीं है। अत: इसकी विस्तृत चर्चा यहां नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में इतना ही कहेंगे कि दृष्टि को नेत्र बन्द करके, मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित शरीर के भीतर कहीं केन्द्रित करना अन्तर्त्राटक कहा जाता है। (इस कार्य में विभिन्न चक्रों आदि पर ध्यान एकाग्र किया जाता है)। जबकि शरीर के बाहर किसी बिन्दु पर मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित नेत्रों को स्थिर करना 'बाह्यत्राटक' कहलाता है। (इस कार्य में नासिकाग्र, पैर का अंगूठा अथवा दीपक, दीवार पर बना चिह्न, तारा, सूर्य आदि को माध्यम बनाया जाता है)। सम्मोहन विद्या में सफलता के लिए त्राटक का अभ्यास अति उपयोगी है। पर कुण्डलिनी जागरण में प्राणों व ध्यान का महत्त्व है न कि त्राटक का।

बन्ध

अब हम मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध की चर्चा करेंगे। इन तीनों प्रमुख बन्धों का योगविद्या में तथा कुण्डलिनी जागरण में अत्यधिक महत्त्व है। (साथ ही महाबन्ध की भी चर्चा करेंगे)। ये बन्ध योग की प्रमुख पांच मुद्राओं के अन्तर्गत आते हैं जिनके विषय में *योगशास्त्रों* में कहा गया है—



बाह्य त्राटक

पंचमुद्रा

महामुद्रां नभोमुद्रा उड्डीयानं जालन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनः॥

(महामुद्रा, नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर और मूलबन्ध—जो इनको करना जानता है वही योगी मुक्ति भाजन होता है)।

पंचमुद्राओं में उपर्युक्त तीन बन्ध भी शामिल हैं। इसी से इनका महत्त्व सिद्ध हो जाता है। (बन्धों के बाद हम ऊपर कही मुद्राओं की चर्चा भी करेंगे)। फिर भी इन तीनों बन्धों की योगशास्त्र में उपयोगिता एवं महत्त्व को सिद्ध करने के लिए '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में वर्णित निम्नलिखित श्लोक ही पर्याप्त होगा—

बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितियोड्डीयाणाविधः।
जालन्धरस्तृीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥

अर्थात्—योगी को पापनाशक तीन बन्ध अवश्य करने चाहिएं। इनमें पहला मूलबन्ध, दूसरा उड्डियान बन्ध तथा तीसरा जालन्धर बन्ध कहलाता है।

मूलबन्ध

मूलबन्ध को योनिबन्ध भी कहते हैं। गुदा तथा उपस्थ के प्रदेश को ऊपर संकुचित करके रखना तथा प्राण और अपान को मिलाना मूलबन्ध है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

पार्ष्णि भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेदृढम।
अपान मूर्ध्वमत्थाप्य योनि बन्धोऽयमुच्यते॥
प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः॥

अर्थात्—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर भीतर को खींचें। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर प्राणवायु से मिलाने पर योनिबन्ध कहलाता है। इस तरह प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग निःसन्देह सिद्धि प्राप्त कराने वाला होता है।

'*गोरक्ष संहिता*' में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धों विधीयते॥
अपानप्राणयौरैक्यात्क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

अर्थात्—ऐड़ी से योनिस्थान को दृढ़तापूर्वक दबाकर गुदा को सिकोड़ें और अपानवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु से मिलाएं तो यह मूलबन्ध कहलाता है। इस प्राण और अपान को जो मिलाने के प्रयास में रत रहता है उसके मूत्र, मल आदि विकारों का क्षय होता है और वह यदि वृद्ध भी हो तो युवा हो जाता है।

'*शिव संहिता*' में तो मूलबन्ध को और भी महत्त्वपूर्ण तथा जरा-मरण का नाश करने वाला कहा गया है—

'**कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरा मरण नाशनः।**' इसके अलावा आगे कहते हैं—'**सिद्धाया योनिमुद्राया किं न सिद्ध्यति भूतले।**' (योनिमुद्रा सिद्ध हो जाने पर पुरुष इस भूतल पर और क्या सिद्ध नहीं कर सकता ? यानि सभी कुछ सिद्ध कर लेना उसके लिए सम्भव हो जाता है)।

और भी अनेक योगशास्त्रों से ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु उससे पुस्तक की पृष्ठ सामग्री का ही अपव्यय होगा। शंका निवारण तथा विश्वास के लिए इतने भी प्रमाण आवश्यकता से अधिक ही हैं। बहरहाल यह प्रथम और अत्यंत प्रमुख बन्ध है। पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए।

उड्डियान बन्ध

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्डीयते यतः।
उड्डयाणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥

— *योगतत्त्वोपनिषद्*

अर्थात्—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे/उठने लगे उसे योगी लोग उड्डियान बन्ध कहते हैं। (स्पष्ट है कि प्राण को सुषुम्ना में प्रेषित कर सकने में समर्थ यह बन्ध कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाने में सहयोगी होता है। किन्तु लेटे या अधबैठे होकर अथवा कमर झुकाकर बैठने पर मूलबन्ध व जालन्धर बन्ध तो किसी प्रकार लग भी जाएं पर उड्डियान बन्ध नहीं लग सकता—जैसा कि 'सहजयोग' के नाम पर अल्पज्ञों में जिस मर्जी अवस्था में बैठ या लेट कर ध्यान लगाने या योग करने के निर्देश दिए जाते हैं)।

'*गोरक्षा संहिता*' में भी उड्डियान बन्ध के महत्त्व तथा विधि व प्रभाव पर समुचित प्रकाश डाला गया है। साथ ही 'उड्डियान बन्ध' के लगाने के स्थान के सम्बन्ध में भी निर्देश दिए हुए हैं। यथा—

उड्डियानं कुरुते यसमादविश्रांतेमहाखगम्।
उड्डीयानं तदैव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥
उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेनिगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तव बन्धो निगद्यते॥

अर्थात्—(प्राणरूपी) महाखग उड़कर सुषुम्ना में विश्राम करता है। अतः इसे उड्डीयान कहते हैं। यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है। (अर्थात् मृत्यु को जीतने वाला है)। उदर के पश्चिम में तथा नाभि के नीचे के भाग में इस बन्ध का स्थान बताया जाता है। (अर्थात् नाभि प्रदेश/नाभि से कुछ ऊपर व नाभि से नीचे इसका स्थान है। इस बन्ध में इस स्थान को यथा सम्भव भीतर खींचकर सुषुम्ना से ही लगा देने का प्रयास किया जाता है)।

'*पातञ्जल योग प्रदीप,*' 'हठयोग प्रदीपिका' आदि ग्रंथों में विस्तार पूर्वक कही गईं 'नौली क्रिया' तथा 'अग्निसार' आदि क्रियाएं व्यक्ति को बेहतर उड्डियान बन्ध लगा पाने में समर्थ बनाती हैं। ('सम्पूर्ण योग शास्त्र, गोल्ड बुक्स इंडिया में यह समस्त जानकारी पाठक ले सकते हैं')।

जालन्धर बन्ध

ठोड़ी को सिकोड़ कर कण्ठकूप में अथवा हृदय से 4 अंगुल ऊपर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने से किन्तु गर्दन व दृष्टि सीधी रखने पर यह बन्ध लगता है। यह न केवल कुम्भक द्वारा धारण की गई वायु को रोके रखने में सहयोगी होता है अपितु सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत को भी नीचे गिरने से रोकता है। कण्ठ की शिराओं का जाल इस बन्ध से कसा जाता है अतः इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी वायु निरोध में सहायक होने से मृत्यु नाशक माना गया है। '*हठयोग प्रदीपिका*' और '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में प्रायः समान वर्णन ही जालंधर बन्ध की प्रशंसा में मिलता है। प्रमाण के तौर पर पाठक स्वयं ही देखें एक उदाहरण—

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

—*हठयोग प्रदीपिका*

अर्थात्—कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को हृदय पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है। यह वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है।

कण्ठमाकुञ्च्यं हृदये स्थापयेद्दृढवाधिया।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातंगकेसरी॥

—*योगतत्त्वोपनिषिद्*

अर्थात्—कण्ठ को संकुचित कर प्राणवायु का अवरोध करना तथा दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को छाती से सटाकर उसे पुनः ऊपर न आने देना ही जालंधर बन्ध की प्रधान क्रिया है। '*गोरक्ष संहिता*' से इस पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धोः कण्ठदुःखौघनाशनः॥
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोच लक्षणे।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति॥

अर्थात्—जो बन्ध कण्ठ में लगाया जाता है और वहां के शिराजाल को बांधकर/कसकर चन्द्रामृत रूपी जल को कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों व रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिर कर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस जालन्धर बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता (क्योंकि यह वायु निरोध में सहायक होता है)।

मुद्रा

ये मुद्राएं जप एवं मंत्रादि में प्रयुक्त होने वाली मुद्राओं से भिन्न हैं। ये योग बिषयक मुद्राएं हैं। नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), महामुद्रा/महाबन्ध के विषय में तो—पाठक सुन आए हैं। इनके अलावा, शक्तिचालिनी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, काकीमुद्रा, अश्विनी मुद्रा आदि और भी अनेक मुद्राएं हैं। प्रमुख मुद्राएं जो कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी हैं अथवा कुण्डलिनी जागरण के उपायों के रूप में जानी जाती हैं उन्हीं का यहां वर्णन करेंगे क्योंकि यह अध्याय ही कुण्डलिनी जागरण के उपायों का है।

महामुद्रा/महाबन्ध

यह मुद्रा समस्त प्रकार के रोगों का नाश करती है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यंत सहयोगी है। विशेष रूप से पाचन तन्त्र को सुव्यवस्थित करती है। प्रायः समस्त योगग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। इस मुद्रा के साथ विधिपूर्वक किया गया प्राणायाम अत्यंत लाभकारी होता है। जैसा कि 'ग्रह्यामलतन्त्र' में वर्णन आता है—

पादमूलेन वामेन योनि सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारद्वायु मूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्वोदण्डकारः प्रजायते॥

ऋऽवीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्वितपुटाश्रिता॥
तदा शनैः शनैः रेव रेचयेत नवेगतः॥
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते॥

—(*ग्रह्यामल तंत्र*)

अर्थात्—बाएं पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबाकर दाएं पैर को सामने सीध फैलाएं। अपने दोनों हाथों से फैले हुए (दाएं) पैर के तलवे/अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ें (इस प्रयास में दाएं पैर का घुटना मुड़ने न पाए) और कण्ठ को सिकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोकें। इसके अभ्यास से डण्डे द्वारा पीटे गए सर्प की भांति कुण्डलिनी दण्ड के समान सहसा खड़ी हो जाती है। दोनों नासापुटों से प्राणायाम की साम्यावस्था हो जाए, तब वायु को शनैः शनैः निकाल दें। यह महामुद्रा कहलाती है।

'*गोरक्ष संहिता*' में इस मुद्रा में किए जाने वाले प्राणायाम का विधान उपलब्ध होता है। यथा—

वक्षोन्यस्तु हनु! प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसारितं...चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः... ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥

अर्थात्—'हृदय में ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करें। बाएं पैर की एड़ी को योनिस्थान में दृढ़ता से लगाएं व दाएं पैर को सामने पसार कर दोनों हाथों से उसका तलवा पकड़ लें। फिर पूरक द्वारा उदर में वायु को भरके कुम्भक करें। बाद में शनैः शनैः रेचक करें। यह रोगों का नाश करने वाली श्रेष्ठ महामुद्रा कही जाती है। इसका अभ्यास प्रथम चन्द्रनाड़ी से और फिर सूर्यनाड़ी से करना चाहिए। इस प्रकार दोनों नथुनों से प्राणायाम समान मात्रा में पूर्व हो जाने पर यह मुद्रा छोड़ दें।' (विस्तार भय से श्लोकों को संक्षिप्त कर दिया गया है)।

'*घेरण्ड संहिता*' में इस मुद्रा का संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित वर्णन मिलता है—

वाय्रुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्य पादं प्रसार्यार्थ केधृतं पादां गुलः।
कंठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्राकथ्यते चैव सूरिभिः॥

अर्थात्—गुदा स्थान को बाईं एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबाकर दायां पैर फैलाएं और दोनों हाथों से उस पैर की अंगुलियां पकड़कर कण्ठ को सिकोड़ें तथा भवों के मध्य स्थान में दृष्टि स्थापित करें। विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है (घेरण्ड ऋषि ने महामुद्रा में प्राणायाम के स्थान पर ध्यान को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है)।

महामुद्रा के फल व प्रभावों के विषय में '*हठयोग प्रदीपिका*' में कहा गया है—

इयं खलुं महामुद्रा महासिद्धिः प्रदर्शिता।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयते मरणादयः॥

अर्थात्—यह महामुद्रा महान सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से महाक्लेश (अविद्या, राग, द्वेष, अस्मिता तथा अभिनिवेश) आदि दोष एवं जन्म-मरणादि (आवागमन चक्र) नष्ट होते हैं। (अर्थात् अभ्यास सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा मोक्ष दायक तथा आत्मबोध कराने वाली है। इसीलिए इसको 'महामुद्रा' कहा गया है)।

'शाण्डिल्योपनिषद्' ने इन फलों के अतिरिक्त अन्य फल भी कहे हैं। यथा—

तेन सर्वक्लेश हानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते।

क्षयगुल्म गुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणज योपायं सर्वमृत्युपघातकः॥

अर्थात्—इससे सभी क्लेशों का नाश होता है। विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त, पुराने चर्मरोग नष्ट होते हैं (रक्त शोधन होता है)। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु नाशक है।

इसके गुण प्रभावों तथा महत्त्व के सम्बन्ध में '*गोरक्ष संहिता*' के निर्देश भी ध्यान देने योग्य हैं—

तर्हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥
क्षयकुष्ठमुद्रावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां चयोऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥

अर्थात्—महामुद्रा के अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर पथ्य, अपथ्य, रसीले या नीरस आदि का कुछ भी विचार शेष नहीं रहता। (अर्थात् जो भी, जैसा भी खा लिया जाए पच जाता है, तथा आहार की ही भांति गुण देता है)। यदि घोर विष का भी पान कर लिया जाए तो वह भी अमृततुल्य हो जाता है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों का शमन होता है। यह महामुद्रा अत्यन्त ही सिद्धि करने वाली (उपलब्धियां प्राप्त कराने वाली तथा योग के लक्ष्य—कुण्डलिनी जागरण व मोक्ष को सिद्ध करने वाली) है। **इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त रखें और कभी भी अनाधिकारी को न दें (क्योंकि अपात्र व अयोग्य के हाथ में गए मंत्र, विद्या, शक्ति, पद, अधिकार, धन, स्त्री तथा शस्त्र—दुरुपयोग में आते हैं तथा स्वयं उसके व पूरे समाज के लिए घातक होते हैं)।**

अतः महामुद्रा ही नहीं सम्पूर्ण योग विद्या ही गुह्यविद्या/गुप्तविद्या कही गई है और सुयोग्य व्यक्ति को ही इसका उपदेश करने के निर्देश शास्त्रों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा/नभोमुद्रा को सभी योग विषयक ग्रन्थों ने अति सम्मान पूर्ण स्थान दिया है तथा प्रमुखता से उपयोगी व महत्त्वपूर्ण बताया है। विशेष रूप से पातंजल योग प्रदीप, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्ष संहिता, शाण्डिल्योपनिषद् तथा योग कुण्डल्योपनिषद् में इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मिलती है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में भी इसकी प्रशंसा एवं स्तुति है। इस मुद्रा में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जिह्वा का दोहन, मंथन आदि करना पड़ता है। इसका विस्तृत विवरण पातञ्जल योग प्रदीप में उपलब्ध है तथापि यह इतना कष्टपूर्ण, कठिन तथा नाजुक है कि गुरु के मार्गदर्शन के बिना इस मुद्रा का अभ्यास निरापद नहीं कहा जा सकता, लेकिन साथ ही यह तथ्य भी विचारणीय है कि यह महामुद्रा से भी अधिक प्रभावी व लाभकारी मुद्रा है। इस मुद्रा को साधे बिना लोभ में लक्ष्य प्राप्ति सुनिश्चित नहीं कही जाती। अतः पाठकों को ज्ञान वर्धन तथा विषय की सम्पूर्णता के लिए हम इस मुद्रा का विवरण दे रहे हैं। परन्तु दोहन मंथन आदि के घातक कार्यों का वर्णन नहीं कर रहे हैं। इच्छुक पाठक 'पातञ्जल योग प्रदीप' से इन्हें प्राप्त करें।

खेचरी मुद्रा के वर्णन से पूर्व सहस्रारचक्र से निरंतर झरने वाले अमृत के विषय में चर्चा करना आवश्यक है। क्योंकि खेचरी मुद्रा इसी अमृत के पान की विधि है। इस अमृत के विषय में यद्यपि सातों चक्रों के वर्णन के समय सहस्रार चक्र प्रकरण में प्रारम्भ में ही प्रसंगवश संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। किन्तु यहां उसका विस्तृत वर्णन आवश्यक है। क्योंकि बिना इस तथ्य को भली प्रकार जाने 'खेचरी मुद्रा' का महत्त्व नहीं जाना जा सकता। और न ही उसकी उपयोगिता जानी जा सकती है।

सहस्रार चक्र में उपस्थित सोलह दल की कमल कर्णिका में एक चन्द्र बिम्ब है जिससे निरन्तर अमृत स्राव होता है। तालूमूल में स्थित चन्द्रमा से होता हुआ यह सुधा नीचे गिरता है और नाभि में स्थित अग्नि (जठराग्नि) रूपी सूर्य द्वारा ग्रस लिया जाता है। इस प्रकार व्यर्थ चला जाता है। जब तक जीवन रहता है यह अमृतस्राव सतत चलता है। जब यह अमृत झरना बन्द हो जाता है, तब मृत्यु होती है। सहस्रार चक्र में परमशिव का कुण्डलिनी रूपी शक्ति से अभेदात्मक मिलन होता है। यही परमशिव का स्थान है। अतः कोई बड़ी बात नहीं कि शिव की जटाओं से निकलने वाली गंगा की धारा की कथा के माध्यम से इसी अमृतस्राव का मर्म समझाया गया हो। इस अमृत की रक्षा करने के लिए ही विपरीत मुद्रा, खेचरी मुद्रा आदि का प्रावधान है। इस अमृत का मान जरा मृत्यु विनाशक तथा दिव्य उपलब्धियों को देने वाला है। जैसा कि कहा गया है—

यत्किंचित्स्त्रवते चन्द्रामृत दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वग्रसते सूर्य स्तेन पिंडो जरायुतः॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात्—'दिव्य सुधामय रूप वाले तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो अमृत

गिरता है, उसको नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य ग्रस लेता है। जिससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।' (अमृत का निरंतर क्षय होने से)।

अथवा प्रतीक के रूप में इस अमृत को ग्रहण करने की प्रेरणा भी शास्त्रों में यदा-कदा मिलती है। यथा—

एक स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्र मंडलात्।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां सभवेदजरामरः॥

अर्थात्—एक स्त्री चन्द्रमंडल से प्राप्त होकर दो के द्वारा भोगी जाती है। उसे यदि तीसरा भोग ले तो वह अजर और अमर हो जाता है। (वृद्धावस्था व मृत्यु उसके पास नहीं आते)।

व्याख्या

यहां बताई गई स्त्री वास्तव में चन्द्रमंडल से झरने वाला अमृत है जो दो के द्वारा यानि चन्द्र और सूर्य के द्वारा भोगी जाती है। यदि उसे तीसरा (योगी/साधक) भोग ले (स्वयं ग्रहण कर ले) तो अजर अमर हो जाता है।

'*गोरक्ष संहिता*' ने तो इस अमृतपान को इतना महत्त्वपूर्ण माना है कि इसे ही 'प्रत्याहार' की संज्ञा दी है। यथा—

चन्द्रामृतमयी धारा प्रत्याहरति भास्करः।
प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात्—चन्द्रमा की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रसता है। उसे सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रस लेना ही प्रत्याहार है।

इसी सतत झरने वाले अमृत को नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रहण करने के उपायों में एक है—'खेचरी मुद्रा' अथवा 'नभोमुद्रा'। अब इस मुद्रा के विषय, विधि तथा लाभ-प्रभाव के विषय में चर्चा की जा सकती है।

जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर कपालरन्ध्र (हलक के ऊपर) में प्रवेश कराना ही संक्षेप में खेचरी मुद्रा है। अत्यंत प्रभावशाली होने से समस्त सिद्धों व योगियों द्वारा यह पूज्यनीय है। इस मुद्रा से जिह्वा कपाल कुहर में झरने वाले अमृत का पान कर सकने में सक्षम हो जाती है। इसी अमृतपान के प्रभाव से साधक अजर-अमर हो जाता है। जो पांच आकार कहे गए हैं, उनमें जिह्वा इस मुद्रा से विचरण करती है। अतः इसको 'नभो मुद्रा' भी कहा जाता है। परन्तु प्रायः यह खेचरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि 'ख' आकाश के लिए प्रयुक्त होता है। जैसा कि—पक्षी को 'खग' कहते हैं (ख+ग=खग), यानी—आकाश में गमन करने वाला। अतः 'नभोमुद्रा' को 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं। क्योंकि जिह्वा इस मुद्रा में 'ख' (आकाश) में चरती (विचरण करती) है, अतः उसे 'खेचरी' कहते हैं।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी॥
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

—(*गोरख संहिता)*

अर्थात्—जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करा कर दृष्टि को भृकुटियों के मध्य स्थिर कर लेना ही खेचरी मुद्रा है। जो योगी इसे जानता है (इस मुद्रा के अभ्यास में प्रवीण है) उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्छा आदि से पीड़ित नहीं होना पड़ता।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

(अर्थात् उसे ना तो शोक ही होता है, ना ही कर्मबन्धन। इस मुद्रा को सिद्ध कर लेने वाला भव बन्धन से मुक्त होता है)।

'*शाण्डिल्योपनिषद्*' में खेचरी का वर्णन थोड़ा और भी विस्तार से प्राप्त होता है। यथा—

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात्—इड़ा व पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। (यहां 'कपाल रन्ध्र' के विषय में बताया गया है। आगे कहते हैं—)

छेदनं चालनंदोहनं कसां परा जिह्वा कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपाल कुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते।

जिह्वा नित्तं चखे चरती तेनोर्ध्वचिह्नः पुमानमृतौ भवति॥

अर्थात्—छेदन, चालन, दोहन द्वारा जिह्वा को नोकदार (लम्बा) बनाकर, भृकुटियों में मध्य भाग में दृष्टि स्थिर करके जब जिह्वा उलटी होकर कपाल कुहर में प्रविष्ट होने के योग्य हो जाती है—तब खेचरी मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से चित्त व जिह्वा दोनों कपाल कुहर रूपी आकाश में विचरण करते हैं। तब ऊपर पहुंचाई गई जिह्वा वाला पुरुष अमर हो जाता है।

व्याख्या

जीभ को पलटकर कपाल कुहर में ले जाना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह मात्र अभ्यास से भी सम्भव नहीं हो पाता, जब तक कि तकनीक द्वारा जिह्वा को इस योग्य न बना लिया जाए। जिह्वा को इस योग्य बनाने के तकनीकों को भी यहां विधि व लाभ के साथ संक्षेप में कह दिया है। यह तकनीकें—छेदन, चालन व दोहन/मंथन हैं।

जीभ को यदि ऊपर उठाएं तो पाएंगे कि वह एक पतले से तन्तु या लगाम द्वारा नीचे जुड़ी रहती है। यह मांस तन्तु जीभ को उलटकर कपाल कुहर में पहुंचने लायक बन पाने में बहुत बड़ी बाधा होता है। इसे विधि पूर्वक औषधियों के प्रयोग के साथ शस्त्र या शीशे द्वारा शनैः शनैः काट दिया जाता है। यह क्रिया कई दिनों में सम्पन्न की जाती है। **इसी को 'छेदन' कहते हैं।** (पाठकों द्वारा भावातिरेक, जल्दबाजी, जिज्ञासा आदि के कारण खेचरी मुद्रा में सफलता प्राप्ति करने के लिए बिना समर्थ गुरु के मार्गदर्शन के खुद ही छेदनक्रिया कर लेने की सम्भावना को दृष्टि में रखकर हम इस क्रिया की विधि व औषध आदि की चर्चा नहीं कर रहे हैं। गुरु की दीक्षा ही इस विषय में प्रशस्त होगी)। **मंथन या दोहन क्रिया के** अन्तर्गत गाय के मक्खन को जीभ पर मलकर दोनों हाथों के अंगूठों व तर्जनी के प्रयोग से जीभ को आगे की ओर खींचा/दुहा जाता है। इस अभ्यास से जीभ शनैः शनैः लम्बी पतली व नोकदार होने लगती है। यही क्रिया मंथन/दोहन कही जाती है। 'चालन क्रिया' के अन्तर्गत जिह्वा द्वारा कुछ व्यायाम किए जाते हैं जो जीभ को लम्बा व लचीला बनाने में सहायक होते हैं। जैसे जीभ को मुख से बाहर निकालकर ठोड़ी पर लगाने का प्रयास अथवा मुख से बाहर निकालकर नासिकाग्र से जीभ लगाने का प्रयास आदि। इन प्रयासों में हाथ का प्रयोग वर्जित है। जीभ को स्वतः अपनी ही शक्ति से धकेल खींचकर यह व्यायाम करने होते हैं। अतः **इसे जीभ का चलाना या 'चालन' कहते हैं।**

जैसा कि स्पष्ट है 'चालन' का प्रयोग पाठक कर सकते हैं। दोहन या मंथन क्रिया को भी सावधानी पूर्वक किया जा सकता है किन्तु छेदन क्रिया को समर्थ गुरु की छत्रछाया में ही किया जाना चाहिए। अन्यथा वाक्शक्ति का लोप, तुतलाहट, हकलाहट आदि के अलावा अन्य उपद्रवों की सम्भावना भी होती है, जो घातक भी हो सकते हैं।

खेचरी मुद्रा के अन्य गुण प्रभावों के लिए निम्नलिखित श्लोकों को भी देखिए, 'जो *गोरक्ष संहिता*' में आए हैं—

विन्दूमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्॥
खेचरी मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते विन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यौर्भयंकुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥

अर्थात्—बिन्दु (वीर्य) शरीर का मूल (आधार) है। यह पांव से सिर तक शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। इसी से शिराओं में सजीवता आती है तथा हाथ-पैरों व मस्तिष्क की सामर्थ्य बनी रहती है। जिसने खेचरी मुद्रा को उस कण्ठ छिद्र की

लम्बिका के ऊपर रोक लिया उस योगी का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षरित नहीं होता। जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का भय कहां? और जब तक नभोमुद्रा दृढ़ता से बंधी है, तब तक बिन्दु चलायमान नहीं होता। (अर्थात् खेचरी मुद्रा बिन्दु की रक्षा करके भी मृत्यु को पास नहीं आने देती। और कण्ठ छिद्र में अंमृत पान करते रहने के कारण भी मृत्यु की नाशक हो अतः यह अमरत्व प्रदान करती है)।

व्याख्या

परन्तु जैसा कि *गीता* में भगवान कृष्ण ने कहा है—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'** (जन्मने वाले की मृत्यु अवश्य होती है और मरने वाले का जन्म भी अवश्य होता है)। इस न्याय के अनुसार मरण तो निश्चित है फिर अमरता की बात कैसे सम्भव है? इसका यही एक उत्तर है कि व्यक्ति इच्छा मृत्यु हो जाता है अथवा अतिदीर्घजीवी हो जाता है। वह हजारों वर्षों तक या जब तक मरना न चाहे जीवित रह सकता है। किन्तु फिर पुनः जन्म में न लौट कर निर्वाण/मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

खेचरी मुद्रा चित्त में चंचलता नहीं आने देती। अतः बिन्दु/वीर्य भी चालायमान नहीं होता। बिन्दु की स्थिरता का कारण मन की स्थिरता ही है। जिह्वा द्वारा बिन्दु को क्षरित होने से रोकने का भावार्थ यही है। जैसा कि '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में कहा है—

मनसोत्पद्यते विन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धन मध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है। जैसे दूध से घी उत्पन्न होता है। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, जो बन्धन है, वह सब मन का ही है। (विज्ञानानुसार वीर्य की उत्पत्ति रक्त से व रक्त की आहार से होती है। परन्तु इस स्थूल अध्ययन में मन का संयोग आहार के साथ होने पर ही यह सब सम्भव होता है। **'यथा अन्न तथा मन'** इसीलिए कहा है—यदि मन प्रसन्न न रहे तो पौष्टिक आहार लेने के बाद भी रक्त-वीर्य की वृद्धि नहीं होती। मन की अप्रसन्नता अवसाद, ईर्ष्या, क्रोध, चिंता आदि इसीलिए रक्त एवं वीर्य का नाश करते हैं। अब यह कहना ठीक ही है कि मन ही बिन्दु की उत्पत्ति का कारण है। मन में उत्साह हो तो नपुंसक भी 'जोश' में आ जाता है। उत्साह न हो तो पौरुष युक्त व्यक्ति भी 'उत्तेजित नहीं होता, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है')।

भगवान शिव जिस मुद्रा में (*शाम्भवी मुद्रा*)—सदैव ध्यान मग्न रहते हैं, उसमें खेचरी भी सम्मिलित रहती है। इसलिए उन्हें परमात्मा या महादेव कहते हैं। और संकल्प शक्ति के महास्वामी के रूप में उन्हें जाना जाता है। उन्हें महायोगी

कहा जाता है। कुण्डलिनी को सहस्रार में पहुंचाने का विज्ञान परमशिव से परमशक्ति को मिलाने का ही विज्ञान है। अतः महा या परम विज्ञान है। इसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। जो कुछ विज्ञानवादी बाहर खोजना जानना चाहते हैं, वह सब और उसके अलावा भी सब कुछ समाधिस्थावस्था में कालजयी हुआ योगी स्वतः ही जान लेता है। किसी भी विषय पर ध्यान एकाग्र कर उसके विषय में समूचा जान लेना योगी के लिए सम्भव हो जाता है—जैसा कि '*विज्ञान भैरव*' में कहा गया है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात्—देह में अहं भाव नष्ट हो जाने पर और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जहां-जहां मन जाता है, वहीं-वहीं पर समाधि लग जाती है। (इस विषय को पुस्तक के अन्त में विस्तार से लेंगे। यहां प्रसंगवश चर्चा हो गई है)।

'*विज्ञान भैरव*' में खेचरी मुद्रा के व्यावहारिक व वैज्ञानिक पक्ष को भी ध्यान में रखा है—

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।
होच्चारं मनसा कुर्वस्ततः शान्ते प्रलीयते॥

यानि—अपने मुंह को फैलाकर, जिह्वा को उलट कर ऊपर तालु में प्रविष्ट कराने से खेचरी बनती है। इस मुद्रा में अपनी बुद्धि को स्थिर करके मन से स्वररहित 'हकार' का उच्चारण करने से साधक शान्तावस्था में लीन हो जाता है अर्थात्—उसका शान्त स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(यह बताई गई 112 धारणाओं में 57वीं धारणा है। इस ग्रन्थ में 112 धारणाओं का उल्लेख है)।

व्याख्या

प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वभावतः 'हं' तथा निश्वांस दशा में 'सः' का उच्चारण होता है (**सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः**) पहले बता आए हैं। इस तथ्य के अनुसार 'सकार' के साथ बाहर निकला प्राण 'हकार' का ही उच्चारण होता है। यही व्यावहारिक व वैज्ञानिक तथ्य इस श्लोक में कहा गया है। इस मुद्रा की साधना में दृष्टि को भूमध्य में स्थिर रखना चाहिए, जिससे ध्यान लग सके। इस बात को अनेक ग्रन्थों में कहा गया है। खेचरी में जीभ का पलटकर कपाल कुहर में लगाना और दृष्ट का भ्रूमध्य में स्थिर रखना दोनों ही क्रियाएं शामिल रहती हैं। ऐसा '*विवेक मार्तण्ड*' में भी कहा गया है—

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

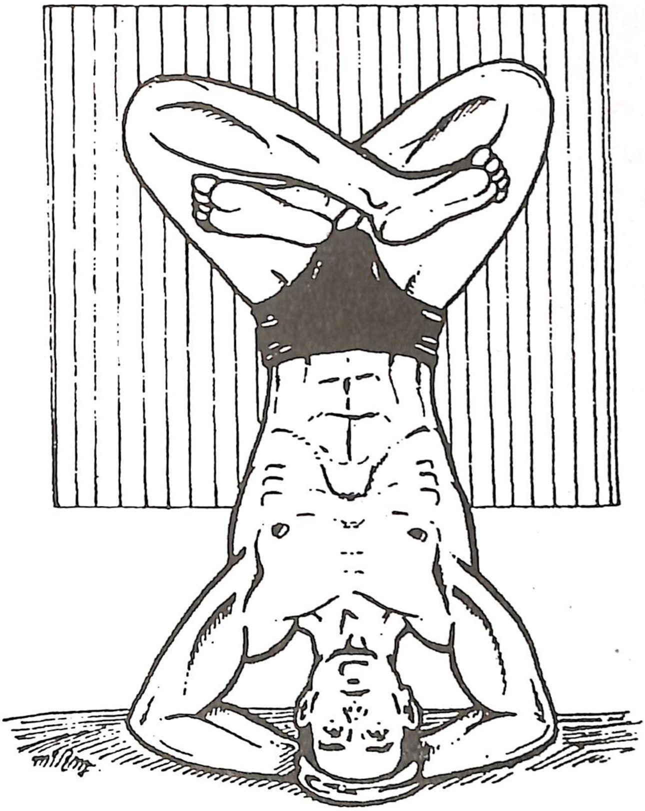
अर्थात्—जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश में स्थित कपाल कुहर में प्रविष्ट करा

देना तथा दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर लेना—यही खेचरी मुद्रा है।

खेचरी मुद्रा पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम कुण्डलिनी जागरण के अन्य उपाय विपरीतकरिणी मुद्रा की चर्चा करेंगे। इस मुद्रा को पहले इसलिए ले रहे हैं, क्योंकि इस मुद्रा में खेचरी का प्रयोग भी किया जाता है और यह मुद्रा भी सतत झरने वाले अमृत के पान के उपाय रूप में प्रयुक्त होती है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

जैसा कि नाम ही से स्पष्ट हो जाता है कि यह मुद्रा शरीर की स्थिति को उल्टी या विपरीत कर देने वाली है। अत: इसको 'विपरीत करिणी' कहते हैं 'हठयोग' के अन्तर्गत यह मुद्रा भी आती है। इस मुद्रा द्वारा कपाल कुहर में गिरने वाले अमृत की रक्षा की जाती है।



विपरीतकरणी मुद्रा

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहनात्मनः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले न चन्द्रमा॥
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्याकरणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—अग्निरूपी एक सूर्य नाभि में रहता है और अमृत रूपी आत्मा वाला चन्द्रमा सदा तालुमूल में निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख किए रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है उसे ऊपर को मुंह किए रहने वाला अग्निरूपी सूर्य नाभि में अवस्थित रहते हुए पी लेता है। परन्तु विपरीतकरिणी मुद्रा को जो योगी जानता है, वह उस अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर स्वयं अपने मुख में ले लेता है। (जिससे रोग आदि का नाश होकर आयुवृद्धि होती है तथा मृत्यु भय नहीं रहता)।

उर्ध्वं नाभिरधस्तालुरुर्ध्वं सूर्यरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुपदेशेन लभ्यते॥

अर्थात्—नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य को ऊपर तथा तालु मूल में स्थित अमृतमयी चन्द्रमा को नीचे (विपरीत) करना ही विपरीतकरिणी नामक मुद्रा है, जो गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो पाती है (अर्थात् बिना गुरु के उपदेश, आज्ञा व निर्देशन के इस मुद्रा में सफलता नहीं मिलती)।

यहां गुरु के उपदेश को महत्त्व इसलिए दिया गया है—क्योंकि मात्र शरीर को उल्टा कर लेने से ही यह मुद्रा सिद्ध नहीं हो जाती। पहले प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राएं सिद्ध की जाती हैं। फिर विपरीतकरिणी मुद्रा में खेचरी का समावेश किया जाता है। प्राणवायु की नासिका के उर्ध्वविवर में तथा जीभ को जिह्वा मूल से पलटकर ब्रह्मरंध्र की ओर पहुंचाने का अभ्यास किया जाता है। यह अत्यंत कठिन अभ्यास है। '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में संध्या के समय वायु को खींचकर पीने का निर्देश मिलता है। उससे तीन महीने में अभ्यासी की वाणी सरस्वती स्वरूपा हो जाती है। छः महीने में समस्त रोग दूर हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में जिह्वा द्वारा प्राणवायु को खींचा भी जाता है। जैसा कि इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है—

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते॥

अर्थात्—जो विद्वान योगी जिह्वा से वायु खींचकर उसे जिह्वा मूल में रोककर अमृत का पान करता है। उसका सब प्रकार से कल्याण होता है। (किन्तु गुरु के मार्गदर्शन में ही इसे करें)।

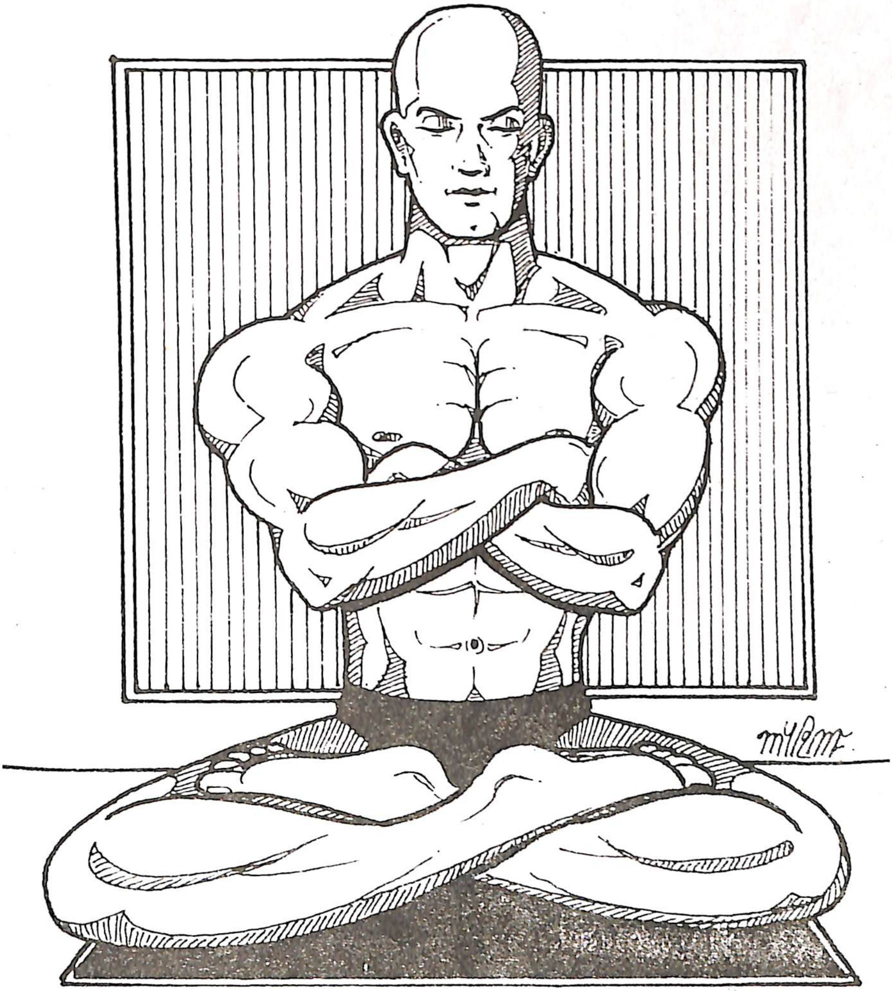
बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो।
नासान्ते सुषिरे नयेत्व गगनद्वारान्ततः सर्वतः।
उर्ध्वास्यो भुविसन्निपत्यनितरामुत्तानपादः पिबेदेवं यः
कुरुतेजितेन्द्रिय गणोनैवास्तितस्य क्षयः॥
ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोतियः।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगविद्॥

(*गो. संहिता*)

अर्थात्—कण्ठ के उर्ध्व भाग में स्थित स्वच्छ चन्द्रकलामृत को रोककर नासिका से ऊपर के विवर में भरे और वायु के समस्त द्वारों को रोककर आकाश में प्राणापन युक्त पूरक करें तथा पृथ्वी पर उत्तान लेटकर पांवों को उत्तान करके (विपरीत करिणी) इस अमृत का पान करें। जो जितेन्द्रिय योगी सदा ऐसा करता है, उसका क्षय कभी नहीं हो सकता। जीव को ऊर्ध्व स्थित कर सुधापान करने वाला साधक पंद्रह दिनों में ही मृत्यु को जीतने वाला हो जाता है। (किन्तु जैसा कि कहा गया है, बिना गुरु की कृपा के यह कार्य सम्भव नहीं होता)।

शक्तिचालिनी मुद्रा व शक्तिचालन

इस मुद्रा का सीधा सम्बन्ध कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उसे ऊपर चढ़ाने से है। अतः इसे 'शक्तिचालिनी मुद्रा' कहा गया है। स्पष्ट है कि यह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किन्तु लम्बे अभ्यास से ही यह मुद्रा सिद्ध होती है। अतः धैर्य



शक्तिचालिनी मुद्रा

आवश्यक है। प्राय: समस्त योग विषयक ग्रन्थों ने इसे सम्मानपूर्वक मान्यता दी है। परन्तु '*घेरण्डसंहिता*' में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़रं बध्वा तु पद्मासनं।
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति।
बारंबारम पानमूर्ध्व मनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं।
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादत:॥

—*गोरक्ष संहिता*

अर्थात्—दोनों हाथों की अञ्जली बांधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करें। ठोड़ी को हृदय से दृढ़तापूर्वक लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपानवायु से मिलाएं और कुम्भक द्वारा धारण करके शनै: शनै: छोड़ दें। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जागृत होती है।

यह शक्तिचालिनी मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है। इसीलिए इसे शक्तिचालिनी कहते हैं। परन्तु यह लम्बे अभ्यास से सिद्ध होती है। परिचय के रूप में '*गोरक्ष संहिता*' का श्लोक ऊपर दिया है। किन्तु पूर्ण विस्तृत रूप से इसका वर्णन '*घेरंड संहिता*' में आता है, जो पाठकों के लिए अधिक उपयोगी होगा।

नाभिं सम्वेष्टय वस्त्रेण न च नग्नो बहि: स्थित:।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥
वितस्तिमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम्॥
एवंमम्बरयुक्तं च कटि सूत्रेण योजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजमेद्बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया॥
यावद्गच्छेत सुषुम्नायां वायु: प्रकाशयेत् हठात्।
तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी॥
बद्धश्वासस्तोभूत्वा ऊर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तीर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति॥

—*घेरंड संहिता*

अर्थात्—नाभि को वस्त्र से लपेटकर शक्तिचालिनी मुद्रा का एकान्त स्थान में अभ्यास करें। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन कभी बाहर न करें। बालिश्त भर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा (कोमल, स्वच्छ) वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र (नाड़े आदि) से कमर पर बांधें (यदि पूरा वस्त्र न लपेट रहे हों तो)। शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन पर बैठकर प्राण को खींचकर अपान से मिलाएं। सुषुम्ना के

द्वार से गमन करती वायु जब तक प्रत्यक्ष न हों, तब तक 'अश्विनी मुद्रा' से गुदा संकोचन करें। इस प्रकार वायु के रुकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जागृत होकर ऊर्ध्व मार्ग में बढ़ती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा (मूलबन्ध) की सिद्धि नहीं होती। (घेरण्ड ऋषि ने गोरखनाथ के मुकाबले शक्तिचालिनी मुद्रा को अधिक स्पष्ट किया है और पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का निर्देश दिया है। विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न मार्गों एवं मुद्राओं से लक्ष्य प्राप्ति की थी। अत: अपने-अपने अनुभूत मार्ग पर उन्होंने अधिक प्रकाश डाला है। इसका कारण मात्र इतना ही है)।

व्याख्या

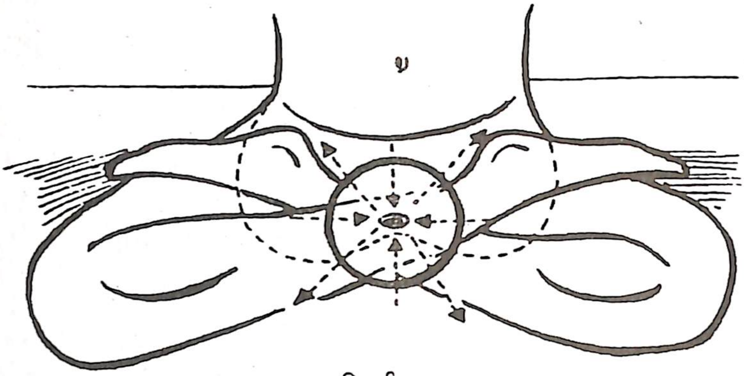
पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का प्रयोग इस मुद्रा में अधिक लाभकारी रहेगा क्योंकि अश्विनी मुद्रा तथा योनिमुद्रा में यही सिद्धासन अधिक सहयोगी रहता है और कम प्रयास से ही मुद्रा को सिद्ध करता है। शरीर पर भभूत मलने के तीन सम्भावित कारण हैं। पहला—नग्नावस्था को ढकना। दूसरा वैराग्य भाव को उदित करने के बाह्य प्रयास एवं तीसरा इस क्रिया में शरीर पर आने वाले पसीने को सोखने की सुविधा प्राप्त करना। क्योंकि पसीने के अधिक बहने की अनुभूति भी मुद्रा के स्थायित्व में बाधक हो सकती है। यह भी सम्भावना है कि शिव को ईष्ट मानने के कारण घेरण्ड ऋषि शिव की ही भांति देह पर भभूत मलने को आवश्यक समझते हों।

नाभि पर वस्त्र लपेटने अथवा वस्त्र को नाभि पर रख कटि सूत्र से बांधने के पीछे दो उद्देश्य संभावित हैं। पहला उड्डियान बन्ध में सहयोग एवं नाभिमंडल को भीतर दबाकर उद्वेलित करना। दूसरा नाभिमंडल पर ध्यान लगाने में सहयोग प्राप्त करना। सुषुम्ना में वायु को प्रत्यक्ष करने का अर्थ वायु को वहां अनुभव करने से है। तब तक 'अश्विनी मुद्रा' का निर्देश दिया है। 'अश्विनी मुद्रा' अपने आप में कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है।

अश्विनी मुद्रा

घोड़ी जिस प्रकार अपनी योनि को बार-बार संकुचित करती तथा विस्तृत करती है, उसी प्रकार उपस्थ सहित गुदा को बार-बार संकुचित करना तथा ढीला छोड़ना अश्विनी मुद्रा कही जाती है। यह कुण्डलिनी को जागृत कर पाने में समर्थ भले ही न हो अथवा चलाने में सक्षम भले ही नहीं किन्तु उसको थपथपा कर या छेड़कर उत्तेजित अवश्य करती है। इसीलिए घेरण्ड ऋषि ने वायु के सुषुम्ना के द्वार पर अनुभव करने तक अश्विनी मुद्रा के प्रयोग का निर्देश दिया है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास स्तम्भन सामर्थ्य भी बढ़ाता है।

इन समस्त विवेचनों से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी को जागृत करके सुषुम्ना में चढ़ाने के लिए वायु को सुषुम्ना में चढ़ाना आवश्यक है। क्योंकि वायु अथवा



अश्विनी मुद्रा

अग्नि ही कुण्डलिनी जगाकर चलाने में समर्थ है। वायु के साथ प्राण व मन भी एकाग्र होकर सुषुम्ना में जाते हैं। अन्ततः आज्ञाचक्र तथा सहस्रार चक्र पर जा पहुंचने पर सम्प्रज्ञात समाधि व असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

वायुना सहचित्तं च प्रविशेच्च महापथम्।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह॥
भूमिरापोऽनलोवायु आकाश चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। उसके लिए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूत रूपी देवताओं की धारणा स्वतः हो जाती है। (धारणा व समाधि की चर्चा अगले अध्याय में करेंगे)।

बिन्दु व रज को, चन्द्र व सूर्य को अथवा प्राण व अपान को मिलाना

अब तक के उपायों एवं विधियों को पढ़कर प्रबुद्ध पाठक जान गए होंगे कि प्राण व अपान को मिलाने से अथवा चन्द्र व सूर्य या बिन्दु एवं रज को मिलाने से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है। समस्त प्राणायाम प्राण व अपान को मिलाने के उपाय हैं तथा विपरीतकरिणी, शक्तिचालिनी, खेचरी आदि मुद्राएं चन्द्र व सूर्य में एकात्म स्थापित करने के उपाय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में बिन्दु (वीर्य) तथा रज रहता है। और प्रत्येक स्त्री में भी। किन्तु स्त्रियों में रज की प्रमुखता रहती है और पुरुषों में वीर्य की। आयुर्वेदीय ग्रन्थों व आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी इसे माना है। 'चरक संहिता' में तो यहां तक बताया गया है कि स्वप्न की अवस्था में उत्तेजित होने पर क्षरित स्त्री की योनि में यदि वायु प्रविष्ट हो जाए और उसका रज उसमें मौजूद वीर्य के अंश से मिल जाए तो गर्भाधान हो जाता है। किन्तु वह अर्थ, अस्थि, नख व केशों से हीन (मांसपिंड रूपी) होता है।

रज एवं बिन्दु का संयोग सृजनात्मक होता है—भले ही बाह्य हो अथवा आन्तरिक। अघोरी सम्प्रदाय में इसी उपाय पर विशेष जोर दिया जाता है और सम्भोग को इसीलिए योग साधना का पर्याय माना जाता है।

शरीर में बिन्दु व रज दोनों रहते हैं। बिन्दु का स्थान चन्द्र एवं रज का स्थान नाभिमंडल में अवस्थित सूर्य माना गया है। बिन्दु का रंग श्वेत व रज का रंग लाल कहा गया है। बिन्दु को शिव और रज को शिवा/शक्ति का प्रतीक माना है। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में प्रमाण मिलते हैं—

स पुनर्द्विबिधो बिन्दुः पाण्डुरो सोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्यहुर्लोहिताख्यो महारजः॥
सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु दो प्रकार का होता है। पाण्डुर वर्ण तथा लोहित वर्ण। पाण्डुर वर्ण वाला 'शुक्र' तथा लोहित वर्ण वाला 'महारज' कहा जाता है। तैल मिश्रित सिंदूरी द्रव के समान रज नाभिमंडल में और बिन्दु चन्द्र स्थान में रहता है। इन दोनों का एक हो पाना अति दुर्लभ है।

विन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रोविन्दु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम॥
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेदिदृव्यं वपुस्ततः॥

अर्थात्—बिन्दु, शिव तथा रज शक्ति है अथवा बिन्दु चन्द्रमा और रज सूर्य है। इन दोनों के संयोग से परम शरीर प्राप्त होता है। वायु द्वारा शक्ति चालन से जब रज आकाश में प्रेरित होकर बिन्दु से मिल जाता है तब शरीर दिव्य बन जाता है (अर्थात् तेजस्वी हो जाता है)।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति सयोगविद॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—शुक्र बिन्दु रूपी चन्द्र से युक्त है और रज सूर्य से समन्वित है। जो इन दोनों की समरसता को जानता है (इन दोनों को मिलाना जानता है) वही योग का ज्ञाता है।

अतः चन्द्र व सूर्य को, बिन्दु एवं रज को अथवा प्राण व अपान को मिलाना ही कुण्डलिनी जागरण के मार्ग हैं।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलतिकन्दुकः।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥

अर्थात्—जैसे हाथ द्वारा पृथ्वी पर पटकी गई गेंद, ताड़ित होकर स्वयं ऊपर

उछलती है। वैसे ही प्राणवायु की प्राप्ति में जीव को आकर्षित करके अपानवायु ठहरने नहीं देता। (जैसे गेंद खेलने वालों के वश में रहती है वैसे ही जीव अविद्या के वश में रहता है। प्राणापान के मध्य जीव स्थिर नहीं रहता। प्राण व अपान को मिलाकर ही उसे स्थिर किया जाता है)।

कुण्डलिनी भेदन के लिए षट्चक्रों का समस्त विवरण प्रारम्भ में ही दे दिया गया है। तथापि इस खण्ड को पढ़ने पर पाठकों को तालु एवं कंठ का महत्त्व भी समझ में आया होगा। बहुतों को तालु या कण्ठ विवर अन्य चक्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भी लगा हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है। चक्रों का अपने स्थान पर पूर्ण महत्त्व है तथापि तालु का महत्त्व भी कम नहीं है क्योंकि शरीर के चार पवित्र अंगों में एक यह भी है। इसकी पवित्रता का कारण यहां रुद्र का निवास होना है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से सहज सिद्ध होता है—

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥

—*ब्रह्मविद्या उपनिषद्*

अर्थात्—हृदय स्थान में ब्रह्मा का तथा कण्ठ स्थान में विष्णु का निवास होता है। तालु मध्य में रुद्र स्थित हैं और ललाट में महेश्वर/परमशिव का निवास है। (अतः कण्ठ व तालु का महत्त्व स्पष्ट है)।

इसके अलावा मूलद्वार भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सुप्त कुण्डलिनी का मार्ग यहीं से आरम्भ होता है। इसके अलावा अनेक मुद्राओं आदि में इसका प्रयोग होता है। कोई भी आसन या उपाय बिना मूलबन्ध के सिद्ध नहीं होता। अतः मूलद्वार का योग में अत्यधिक महत्त्व है '*गोरक्ष संहिता*' में तो यहां तक कहा गया है कि—

वद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखीहरः॥

अर्थात्—जो योगी मूलद्वार को रोकने में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विघ्न नष्ट होकर (यही कारण हैं कि मूलाधार के प्रहरी देवता गणेश हैं) अजरत्व एवं अमरत्व प्राप्त होती है। जैसे पंचमुखी भगवान शिव अजर और अमर हैं (अथवा वह पंचमुखी शिव के समान हो जाता है)।

प्रणवाभ्यास

ॐकार वैदिक प्रणव है। हूंकार शैवागम सम्मत प्रणव है और ह्रींकार शाक्तागत सम्मत प्रणव। तन्त्रशास्त्र में अनेकों प्रणवों का वर्णन है। इनमें ॐकार सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। प्रणव के पर्याय के रूप में इसीलिए यही एक प्रचलित हो गया है। ॐकार में—अकार, उकार और मकार परब्रह्म के स्वरूप को ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की त्रिशक्ति के रूप में दर्शाते हैं। अतः प्रणवोच्चारण में ह्रस्व, प्लुत, दीर्घ

आदि मात्राओं के उच्चारण, उत्पन्न तरंगों के प्रभाव तथा पदों के मनन के प्रभाव कुल मिलाकर चमत्कार दिखाने वाले होते हैं। **एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसके अलावा मूर्च्छनात्मक स्वरों की अवस्थिति दीर्घकाल तक रहने से, अन्य उपायों के मुकाबले चित्त की एकाग्रता यहां अधिक सरल होती है।** (स्वरों के नियमित क्रम से आरोह व अवरोह की प्रक्रिया को संगीत शास्त्र में *मूर्च्छना* कहते हैं)। इसीलिए कहा गया है कि **शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अथवा संगीतशास्त्र में प्रवीण व्यक्ति अनायास ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।** जैसा कि महर्षि *याज्ञवल्क्य* ने कहा है—

वीणावदनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्ष मार्ग नियच्छति॥

(वीणा वादन को तत्त्व से जानने वाले, स्वरों के विशारद तथा ताल का ज्ञाता अपने प्रयासों से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् लय, स्वर और ताल का एकात्म मोक्षकारी होता है।)

प्रणव की मात्राओं को '*विज्ञान भैरव*' के अनुसार परमशिव की अवस्था तक पहुंचने के लिए इस प्रकार सोपान बनाया जाता है—अकार को नाभि में, उकार को हृदय में, मकार की मुख में, बिन्दु की भ्रूमध्य में, अर्धचन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ऊर्ध्वललाट में, नाद की शिर में, नादान्त की ब्रह्मरन्ध्र में, शक्ति की त्वक में, व्यापिनी की शिखा के मूल में, समना की शिखा में और उन्मना की शिखा के अंत भाग में स्थिति रहती है। ॐकार को पिण्ड मन्त्र इसीलिए कहा जाता है कि यह नाभि से द्वादशान्त तक इस पिण्ड में विभक्त हैं। **'सोहं' भी प्रणव का ही स्वरूप है** क्योंकि सकार और हकार रूपी हल् का लोप हो जाने पर ॐ का स्वरूप ही शेष रहता है। इसीलिए '*शिवोपाध्याय*' में कहा है—

ओमिति स्फुरदुरस्यानाहतं गर्भगुम्फित समस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥

अर्थात्—समस्त वाङ्मय को अपने उदर में समेटे हुए यह—ॐकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में अनाहत नाद के रूप में ध्वनित होता रहता है। हृदय में विद्यमान प्रणव रूप सदक्षर ही परम पदस्थानीय है। हम इसी तेज की उपासना करते हैं।

यद्यपि यह तन्त्रागत अथवा मन्त्र सम्बन्धी उपाय ही है तथापि क्योंकि इसका मानसिक जाप किया जाता है अतः इसे हमने ध्यान सम्बन्धी उपायों के अन्तर्गत रखा है। प्रणव के अभ्यास के लिए '*गोरक्ष संहिता*' के निम्नलिखित श्लोक मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त हैं—

पद्मासनं समारूह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्॥

भू र्भुवः स्वरिमेलोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासुः तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥

अर्थात्—एकान्त प्रदेश में दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर अपनी देह, कंठ व सिर को समसूत्र करें और दृष्टि को नाक की नोक पर स्थापित कर ओंकार स्वरूप अव्यय ब्रह्म का जप करें-जिसके तीन वर्णों (अ, उ, म्) में—भूः, भुवः व स्वः इन तीनों लोकों सहित सूर्य, अग्नि व चन्द्र देवताओं का निवास है (ये तीनों क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु व शिव के भौतिक प्रतीक भी हैं।)। यह ओंकार परम ज्योति स्वरूप है।

ॐकार के अकार, उकार तथा मकार में सूर्य चन्द्र तथा अग्नि की कल्पना करने का कारण क्या है, इस ओर '*ब्रह्मविद्या उपनिषद्*' में स्पष्ट संकेत दिया गया है। जैसा कि कहा है—

सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंखमध्यमः।
उकारचन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
त्रिसो मातास्तथाज्ञेयाः सोम सूर्याग्नि रूपिणः॥

अर्थात्—शंख में मध्य का 'अकार' सूर्यमण्डल में स्थित है। चन्द्र के समान 'उकार' चन्द्रमा में ही रहता है और निर्धूम अग्नि तथा विद्युत 'मकार' के समान है। इस प्रकार ओंकार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य और अग्नि स्वरूप जानें।

ओंकार में और भी क्या-क्या निहित हैं इस ओर '*गोरक्ष संहिता*' में संक्षिप्त संकेत तथा '*ब्रह्मविद्योनिषद्*' में व्यापक वर्णन मिलता है। पाठकों के लाभार्थ श्लोकों को संक्षिप्त कर उनके अर्थों को पूर्ण रूप से संकलित किया है—

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रः स्वरा।
त्रयोदेवाः...त्रिधाः शक्ति...त्रिधामात्रा...
...स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति॥

(गो.सं.)

अर्थात्—'उस ॐकार में तीन काल, तीन वेद, तीन लोक, तीन स्वर और तीन देवता स्थित हैं। वह परम ज्योतिस्वरूप है। उसी में इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्ति व ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी शक्तियां स्थित हैं। वह परम ज्योतिस्वरूप है। अकार, उकार और बिन्दु रूप मकार यह तीनों मात्राएं जिसमें स्थित हैं—वह ॐकार ज्योति स्वरूप है।'

ओमित्येकारं ब्रह्म सदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरंतस्य वक्ष्यामि...कालत्रयं...
तत्रदेवास्त्रयः...वेदास्त्रयो...तिस्त्रोमात्रा...

...त्र्यक्षरस्य...ब्रह्मवादिभि...उपकार:...
ईश्वर: परमो देवो मकार: परिकीर्तित:॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्

(उपर्युक्त श्लोक काफी बड़े हैं अत: संक्षिप्त कर दिए हैं)। अर्थात्—ब्रह्मवादियों ने जिस ब्रह्म को ओंकार के अक्षर रूप में कहा है, उसके शरीर स्थान व तीन काल का वर्णन करता हूं। उसमें—सूर्य, चन्द्र, अग्नि तीन देवता, भू: भुव: स्व: ये तीन लोक, भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल, ऋग्, यजुर् और साम ये तीन वेद, गार्हपत्य, दक्षिण और आह्वानीय ये तीन अग्नि, शिव स्वरूप अक्षर की तीन—ब्रह्मा, विष्णु व शिव अथवा अकार, उकार एवं मकार तथा आधी चन्द्र की (परब्रह्म) कुल साढ़े तीन मात्राएं हैं। पृथ्वी, आकाश और अग्नि ये तीन तत्त्व (पृथ्वी के साथ जल और आकाश के साथ वायु संयुक्त रहते ही हैं अत: पांचों मात्राएं), तीन शक्तियां—ब्राह्मी, रौद्री व वैष्णवी अथवा ज्ञान, इच्छा व क्रिया, अवस्थित हैं। इन्हीं शक्तियों से उत्पत्ति, प्रलय तथा स्थिति होती है। (यह शक्तियां ब्रह्मस्वरूपिणी तथा प्रकृति पुरुषात्मक है—जैसा कि देवी स्वयं कहती हैं—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्त: प्रकृति पुरुषात्मक जगच्छून्यं च) यानि मैं ब्रह्म स्वरूपिणी व आनन्दमयी या आत्मरत हूं। यह प्रकृति पुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।

ॐकार का जाप वैराग्य एवं ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। इसे साधना के समय ही नहीं हर समय मानसिक जाप में प्रयुक्त करना चाहिए। इससे साधक संसार में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता, जैसा कि कहा है—

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा।
न सा लिप्यति पापेन पद्मपत्रभिवाम्भसा॥

अर्थात्—बाह्य शौच किया हो अथवा ना भी किया हो तो भी ॐकार का जप करता रहे। इससे कमलपत्र के जल में लिप्त न होने के समान साधक पापों से लिप्त नहीं होता।

मानसिक जाप सदैव मन की एकाग्रता को बढ़ाता है अत: मानसिक जाप का ही प्रणवाभ्यास में विधान है। मन का निरोध करना ही इस जाप का एकमात्र लक्ष्य है। तभी तो कहा जाता है कि—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानञ्च शेषऽत्यो ग्रन्थविस्तार॥

अर्थात्—जब तक वासनाएं नष्ट न हो जाएं तब तक मन का निरोध करना चाहिए। यही ज्ञान है, यही ध्यान है। शेष सब तो ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।

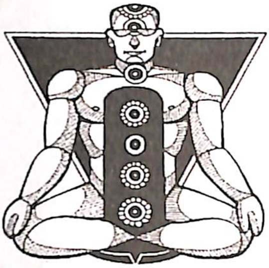
यह समूचे योगशास्त्र का निष्कर्ष दो लाइनों में कह दिया गया है। **मन कभी इच्छाओं/वासनाओं से उसी प्रकार तृप्त नहीं होता जिस प्रकार समुद्र नदियों से, अग्नि काष्ठ से अथवा चरित्रहीन स्त्रियां पुरुषों से तृप्त नहीं होती।**

— चाणक्य

मन की इच्छाओं को पूर्ण करते रहने से अग्नि में डाले गए घृत की भांति इच्छाएं और बलवती होती हैं। अत: उनकी पूर्ति नहीं उनका शमन ही इस अग्नि की शांति का एकमात्र उपाय है। इसीलिए कृष्ण ने *गीता* में कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है, फल की इच्छा में कभी नहीं)। और इसीलिए '*अष्टावक्र गीता*' में अष्टावक्र महर्षि ने राजा जनक को उपदेश दिया है—

'**मुक्तिमिच्छसि चेत्तातविषयान विषवत्यज।**' (मुक्ति चाहता है तो विषयों को विषय की भांति त्याग दे)।

❑❑❑



16

ध्यान, धारणा और समाधि

अब तक के विवेचन से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि मन को जीते बिना, उसका संयम किए बिना, उसकी एकाग्रता शक्ति को बढ़ाए बिना और उसका निरोध किए बिना न तो कुण्डलिनी जागरण ही सम्भव है, न ही मोक्षप्राप्ति। प्राण, बिन्दु, प्रणव आदि के माध्यम से मन को एकाग्र करने के उपाय अब तक आपने जाने। इनमें कोई-सा भी उपाय कारगर हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी उपायों को किया जाए। विधान पूर्वक, तन्मयतापूर्वक, धैर्यपूर्वक तथा पात्रता उत्पन्न करके कोई भी एक उपाय निरन्तर करते जाना सफलता या सिद्धि की प्राप्ति करा देने में सक्षम है। तथापि विभिन्न मार्गों की जानकारी इसलिए दी जा रही है कि अपने गुण, स्वभाव, प्रकृति, रुचि, सामर्थ्य आदि के अनुसार पाठक अपना मार्ग चुन सकें।

अब मन को सीधा ही साधने का उपाय कहते हैं। यह उपाय पढ़ने या सुनने में यद्यपि सबसे सरल लगता है—तथापि करने में सबसे कठिन है। क्योंकि मन को वश में करना अत्यंत दुष्कर है। प्राण, बिन्दु, प्रणव आदि के माध्यमों के सहारे यद्यपि यह कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

ध्यान, धारणा, समाधि के प्रयास सीधे फिर भी नहीं करने चाहिए। इससे पूर्व शेष प्रयासों के अभ्यास से मन को इस योग्य बना लेना चाहिए कि ध्यान का उपाय करने पर बिना किसी सहारे के ही उसे सीधे साधा जा सके। जैसा कि कहा है—

आसनेन रुजो हन्ति प्रणयामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुच्यति॥
धारणाभिमतो धैर्य ध्यानाच्चैतन्यमद् भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति व्यक्त्वाकर्म शुभाशुभम्॥

अर्थात्—आसनों से रोग नष्ट होते हैं (शारीरिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है), प्राणायाम से समस्त पाप नष्ट होते हैं—(शारीरिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है), प्राणायाम से समस्त पाप नष्ट होते हैं। (शोधन होता है), प्रत्याहार से मन के विकार नष्ट होते हैं। (निर्विकारता एवं पात्रता उत्पन्न होती है)। धारणा से धैर्य की वृद्धि होती है। ध्यान से अद्भुत चैतन्य शक्ति की प्राप्त होती है, तथा समाधि से समस्त शुभाशुभ

कर्मों का त्याग होने से मोक्ष प्राप्ति होती है। (अतः यह समस्त उपाय ही किए जाने चाहिएं। इनसे पूर्व यम-नियम का पालन पात्रता व भूमिका के लिए अथवा योग मार्ग की यात्रा के लिए स्वयं को 'तैयार' करने के लिए आवश्यक हैं)। और—

प्राणायाम द्विष्टकेन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहार द्विष्टकेन जायते धारणा शुभां॥
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्धयानविशारदैः।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

(*गो.सं.*)

अर्थात्—बारह प्राणायामों से प्रत्याहार तथा बारह प्रत्याहारों से धारणा होती है। बारह धारणाओं से ध्यान और बारह ध्यानों से समाधि होती है। (अतः समस्त अंग क्रमशः जरूरी है)।

व्याख्या

प्राणायामों के बारह प्रकार हैं (कुछ शास्त्र 8 मानते हैं)। इन प्राणायामों के अभ्यास से प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) में सफलता मिलती है। प्रत्याहार भी बारह हैं (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, एक मन और एक बुद्धि/अहं—इन बारहों को विषयों की ओर भागने से रोकना ही प्रत्याहार है)। इनसे धारणा की योग्यता प्राप्त होती है। बारह धारणाओं (यद्यपि कुल 112 धारणाएं कही गई हैं। किन्तु बारह प्रमुख हैं) से साधक ध्यान करने योग्य बनता है। फिर बारह ध्यानों से (सात चक्र व पांच महाभूत) समाधि के योग्य साधक बन पाता है। (अतः सीधे ध्यान या समाधि लगा पाना असम्भव है)।

बारह प्राणायामों से प्रत्याहार और बारह प्रत्याहारों (अथवा $12\times12=144$ प्राणायामों से) धारणा तथा बारह धारणाओं से (अथवा 144×12 या $12\times12\times12=1728$ प्राणायामों से) ध्यान और बारह ध्यानों से (अथवा—1728×12 या $12\times12\times12\times12=20736$ प्राणायाम) समाधि होती है। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार प्राणायाम से 12 गुना फल प्रत्याहार का होता है। इसी प्रकार, प्रत्याहार का 12 गुना फल धारणा का, धारणा का बारह गुना ध्यान का और ध्यान का 12 गुना फल समाधि का होता है। अतः मात्र कुण्डलिनी जागरण या चमत्कारिक उपलब्धियां तो पूर्ववर्णित किसी भी उपाय से पाई जा सकती हैं परन्तु योग का चरम लक्ष्य मोक्ष समाधि तक पहुंचे बिना सम्भव नहीं है क्योंकि योग यात्रा का यही अंतिम पड़ाव है।

धारणा, ध्यान व समाधि पर चर्चा करने से पूर्व यह चर्चा इसलिए आवश्यक थी कि पढ़ने में सरल लगने से पाठक कूद कर सीधा ध्यान लगाने का प्रयास न करें। अन्यथा लाभ तो कुछ होगा नहीं, अहंकार भले ही बढ़ जाएगा अथवा लाभ न होने पर मोहभंग होगा।

धारणा

मन को समस्त विषयों से रोककर, ज्ञानेन्द्रियों को भी उनके समस्त प्रिय व अप्रिय विषयों से रोककर—(प्रत्याहार) मन को किसी एक बिन्दु पर रोकना ही धारणा है। '**चित्तस्य निश्चलीं भावो धारणा धारण बिदुः**' (**त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद्**) के अनुसार मन को निश्चल बना लेना ही धारणा है। अथवा जैसा कि '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में कहा है—'**आत्मनिमनोधारणां दहराकाशे बाह्याकाशं धारणां पृथिव्यप्ते जो बाह्यऽकाशेष पंचमूर्ति धारणां चेति।**' अर्थात्—आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बाह्याकाश की धारणा और पंचमहाभूतों की पृथक् पृथक् धारणा—यह धारणा के तीन प्रमुख प्रकार हैं। अथवा '**मनसोधारणां यत्तद्युक्तस्य चयनादिभिः**' (यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है)। '*गोरक्ष संहिता*' के अनुसार—

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणां साभिधीयते॥

अर्थात्—हृदय में मन की निश्चलता के साथ पंचभूतों को पृथक्-पृथक् धारण करना ही धारणा है।

आदि अनेक उदाहरण हैं जो धारणा के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं। जिस ऋषि ने जिस मार्ग से धारणा की, वैसा ही कहा। वस्तुतः धारणा में चित्त की निश्चलता ही प्रमुख है। उस किस बिन्दु पर धारा गया है, यह गौण है। वह बिन्दु—पंचमहाभूत हों, सप्तचक्र हों अथवा अन्य भाव या सत्ता हों, प्राण हों या फिर शून्य ही क्यों न हो। उद्देश्य मात्र इतना है कि मन को समस्त विषयों से रोककर एक ही स्थान पर निश्चल रखने के लिए कोई बिन्दु या लक्ष्य तो चाहिए। वह बिन्दु या लक्ष्य अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी हो सकता है। जैसा कि *महर्षि पातञ्जलि* ने कहा है—'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**' अर्थात्—चित्त को (भीतर या बाहर) किसी एक देश में ठहराना धारणा है। इसीलिए '*विज्ञान भैरव*' ने दो, चार, दस नहीं पूरी 112 धारणाएं गिनाई हैं। तथापि पंचभूतों आदि की धारणा क्योंकि विशेष फलदाई रहती है अतः पंचभूतों पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि इनसे पंचतत्त्वों को जीत लिया जाता है तथा उनके अनुसार विभिन्न प्रकार की सिद्धियां भी साधक को प्राप्त होती चली जाती हैं। इनके विषय में कुछ चर्चा करने से पूर्व यह दुहराना आवश्यक है कि धारणा से पूर्व अन्य प्रारम्भिक अंगों को सिद्ध कर लेना चाहिए। जैसा कि कहा भी है—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत्॥

(*गोरक्षसंहिता*)

अर्थात्—आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर ही

धारणा का अभ्यास करना चाहिए। (यहां आसन से पूर्व यम व नियम का वर्णन इसलिए नहीं है क्योंकि गोरखनाथ जी ने योग को पातञ्जिल आदि की भांति अष्टांग नहीं माना। वे योग को षडांग मानने वालों में थे)।

पंचमहाभूतों की धारणा द्वारा चित्त व प्राण को सुषुम्ना में ले जाएं अथवा चित्त व प्राण को अन्य उपायों से सुषुम्ना में ले जाएं मगर चित्त व प्राण का सुषुम्ना में आना स्वत: ही पंचमहाभूतों की धारणा का फल प्रदान कर देता है जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवाना धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—(जिस योगी का चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है) उस योगी को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांचों देवताओं (महाभूतों) की धारणा (स्वत:) हो जाती है।

बहरहाल...पंचमहाभूतों की धारणा के सम्बन्ध में '*गोरक्षसंहिता*' तथा '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में खासा वर्णन मिलता है। पाठकों के लाभार्थ उसे संक्षेप में दे रहे हैं।

पृथ्वी तत्त्व की धारणा

पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम्।
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम्॥
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरणमयम्।
धारयेत्पञ्चघटिका: पृथिवीजयमाप्नुयात्॥

—*योगतत्त्वोपनिषद्*

अर्थात्—पृथ्वी चार कोण वाली, पीत वर्णा और 'लं' अक्षर से युक्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु का आरोप कर और 'लं' को उसमें संयुक्त करके स्वर्ण जैसे वर्ण वाले चतुर्भुज ब्रह्मा का ध्यान करें। ऐसा पांच घड़ी तक करने से पृथ्वी तत्त्व जीत लिया जाता है।

इस तथ्य को '*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है—

'**...प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिका चित्तान्वितान्धारयेदेषास्तंभकारी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा।**' अर्थात् मन सहित प्राण को भूमंडल में लीन कर लें। इस प्रकार यह धारणा पांच घड़ी तक स्तम्भन करने से पृथ्वी तत्त्व जीता जाता है। (पृथ्वी तत्त्व के जीतने के साथ **मूलाधार चक्र का भेदन भी हो जाता है**)। क्योंकि यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का प्रमुख स्थान है, पीतवर्ण चतुष्कोण है। 'लं' इसका तत्त्व बीज है। और ब्रह्मा इसके अधिपति देवता हैं—जैसा कि चक्र प्रकरण में पहले बताया जा चुका है। पृथ्वी तत्त्व विजित हो जाने पर भय, असुरक्षा आदि की समाप्ति

होती है और केन्द्रीयकरण बढ़ता है। पांच घड़ी का अर्थ दो घंटे है।

जल तत्त्व की धारणा

अपोऽर्धचन्द्र शुक्लं वं बीजं परिकीर्तितम्।
वारुणेवायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्।
स्मरेन्नारायणं देव चतुर्बाहुं किरीटिनम्।
शुद्धं स्फटिकसंकाशं पीतवासमच्युतम्॥
धारयेत्पंचघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते॥

—*योगतत्त्वोपनिषद्*

अर्थात्—जल तत्त्व अर्धचन्द्रकार 'वं' बीज से युक्त है। इस तत्त्व में वायु का आरोप करके (प्राणों को संयुक्त करके) 'वं' को समन्वित करे और चतुर्भुज शुद्ध स्फटिक जैसे वर्ण वाले, पीताम्बर धारी भगवान विष्णु का ध्यान करें। पांच घड़ी ऐसा करने पर समस्त पापों से मुक्ति होती है। इस धारणा के समय जल से भय नहीं रहता और ना ही जल से मृत्यु होती है।

'*गोरक्ष संहिता*' के अनुसार इस धारणा से विषय का भी पाचन हो जाता है। अर्थात् पाचन तंत्र अत्यंत सशक्त हो जाता है जैसा कि कहा है—

'...**प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चिंतान्वितं धारयेवेषा दुःसहकाल कूटदहनो स्याद्वारूणी धारणा॥**'

अर्थात्...मनप्राण को पांच घड़ी तक जल तत्त्व में लीन कर लेने पर जलतत्त्व की सिद्धि होती है। इसके अभ्यास से कालकूट विष भी भस्म होता है। (इस धारणा व तत्त्व की सिद्धि से '**स्वाधिष्ठान चक्र' का भेदन या उस पर अधिकार हो जाता है।** क्योंकि पाठकों को याद होगा, इस चक्र का बीज 'वं' है। रूप चन्द्राकार है तथा वर्ण श्वेत और अधिपति देवता विष्णु हैं। जल तत्त्व का यह प्रधान स्थान है। पाप तथा रोग नाश के साथ पाचन तंत्र की सबलता, विवेक, प्रफुल्लता आदि का लाभ साधक को प्राप्त होता है)।

अग्नि तत्त्व की धारणा

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं।
तेजो रेफयुतं प्रवाल रुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम्॥
प्राणं तत्रविलीय पंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेदेषां
वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा॥

—*गोरक्षसंहिता*

अर्थात्—इन्द्रगोप के समान लाल वर्ण, त्रिकोणकार, प्रवाल जैसा रुचिर, तेजस्वरूप, बीज में 'रं' बीज को वायु से युक्त कर प्राण मन सहित रुद्र का ध्यान

करते हुए—अग्नि तत्त्व में पांच घड़ी लीन रहने पर वैश्वानरी धारणा सिद्ध होती है। इसके अभ्यास से अग्नितत्त्व जीता जाता है। (और)—

...धारयेत्पंच घटिका वह्निनाऽसौ नदह्यते।
न ह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्नि कुण्डके॥

—योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्...पांच घड़ी (दो घंटे) में ही अग्नि की धारणा सिद्ध होती है। तब साधक अग्नि में नहीं जलता। दहकते हुए अग्नि कुण्ड में प्रवेश कर जाने पर भी नहीं जलता। (इस अग्नितत्त्व की विजय करने पर मणिपूरक चक्र पर अधिकार हो जाता है। क्योंकि 'रं' मणिपूर चक्र का बीज है। आकृति त्रिकोण और वर्ण लाल है। अग्नि तत्त्व का यह प्रमुख स्थान है और इस चक्र के अधिपति देवता रुद्र हैं। इस चक्र पर अधिकार होने से जठराग्नि, ऊर्जा, आयु व बल बढ़ते हैं तथा साधक में तेज उत्पन्न होता है)।

वायु तत्त्व की धारणा

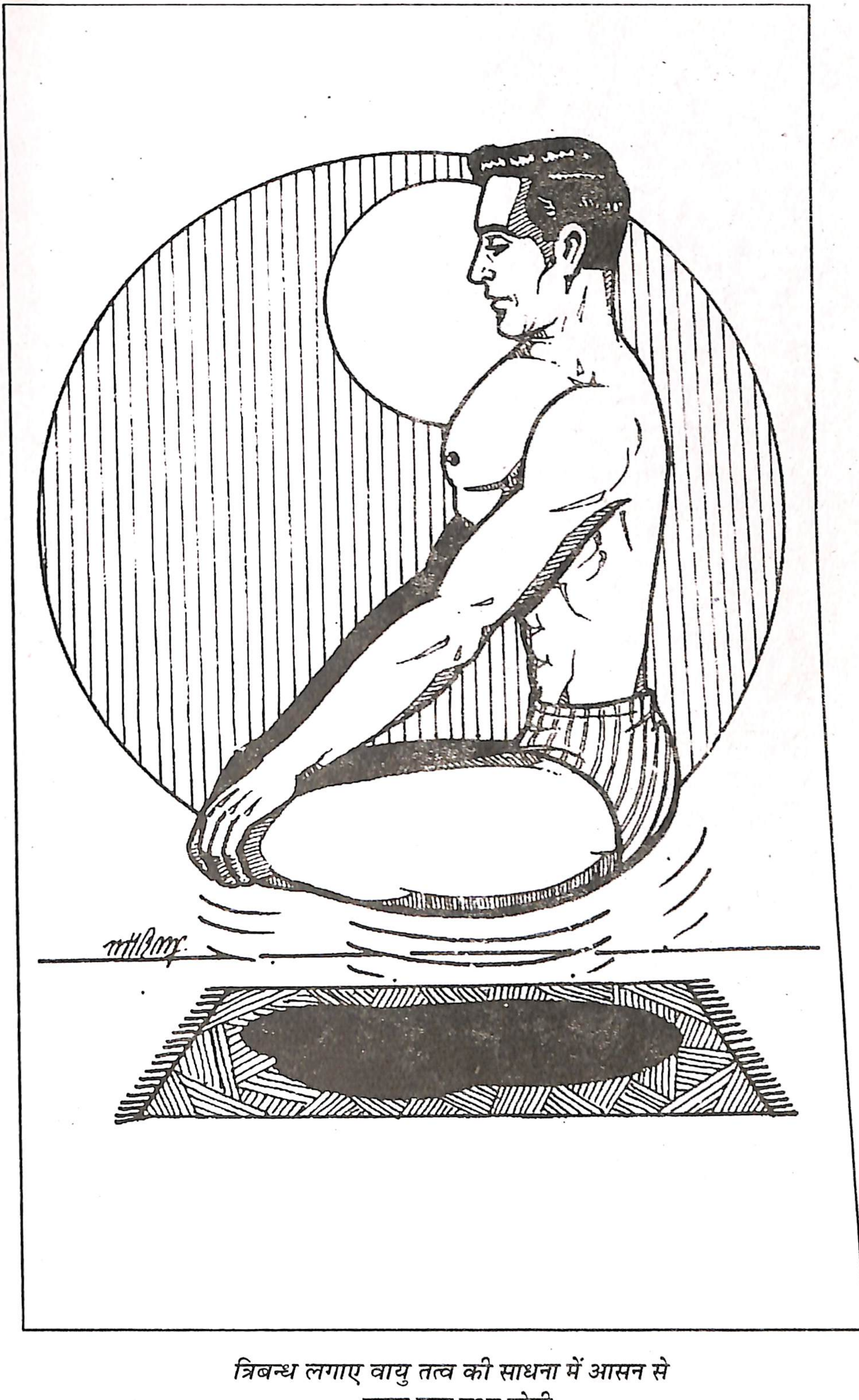
यद्भिन्नाजगपुंज सन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरो।
तत्त्वं वायु मयं यकारसहितं तन्नेश्वरी देवता॥
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चिन्तान्दितं धारये।
देशा रवेगमनं करोति यामिनः स्याद्वायवी धारणा॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—सुरमे के समान रंग वाले, वर्तुलाकार, 'यं' बीज से युक्त वायु तत्त्व का उसके अधिष्ठाता देवता ईश्वर (ईशान) सहित भवों के मध्य ध्यान करता हुआ, मन प्राण सहित स्वयं को भी वायु तत्त्व में लय कर देने पर पांच घड़ी के बाद वायु तत्त्व जीत लिया जाता है। इससे आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है। (साथ ही अनाहत चक्र का भेदन भी हो जाता है। क्योंकि यह चक्र वायुतत्त्व का प्रमुख स्थान है। इसके अधिपति ईशान रुद्र हैं। इसका बीज 'यं' है। यह धूम्रवर्णीय व षट्कोणाकार है। शास्त्रों का मर्म समझने की शक्ति तथा आकाशगमन की शक्ति आदि भी साधक को इससे प्राप्ति होती है)।

इस सम्बन्ध में '*पातञ्जलयोग प्रदीप*' का यह सूत्र '**उदानजयाज्जलपङ्क कण्टकादिष्व्सङ्ग उत्क्रान्तिश्च।**' (उदान वायु को जीत लेने पर जल, कीचड़, कण्टक आदि से साधक के शरीर का संयोग नहीं होता और उसे ऊर्ध्वगति/ऊपर को गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है)। कहना भी उचित होगा, वैसे इस सम्बन्ध में 'योग तत्त्वोपनिषद्' में आया वर्णन खासा रोचक व ज्ञानपूर्ण है। देखिए—

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः॥



त्रिबन्ध लगाए वायु तत्व की साधना में आसन से ऊपर उठा हुआ योगी

ततोऽधिकतराभ्यासात् दर्दुरीस्वेन जायते।
यदा च दर्दुरीभाव उत्प्लुत्योप्लुत्य गच्छति॥
पद्मासन स्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।
ततोऽधिकतराभ्यासात् भूमित्यागश्च जायते॥
पद्मासनस्थ एवासौ भूमि मृत्युज्य गच्छति।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्य मुद्भवेत्॥

अर्थात्—फिर वायु की धारणा शक्ति के शनैः शनैः बढ़ने पर आसन पर बैठे हुए योगी के शरीर में कम्पन होने लगता है। अधिक अभ्यास होने पर मेंढक जैसी चेष्टाएं होती हैं। अर्थात् जैसे मेंढक उछलकर पुनः भूमि पर आ जाता है, वैसी ही दशा पद्मासन पर बैठे योगी की होती है। जब अभ्यास और बढ़ जाता है तब वह भूमि से ऊपर उठ जाता है। पद्मासन में बैठा हुआ ही वह ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार अतिमानवीय चेष्टाएं योगी करने लगता है।

वायु तत्त्व की धारणा के समय वायु (आंधी/तूफान) का प्रकोप नहीं रहता। (पाठक इससे सहज ही जान सकते हैं कि योगी मौसम, भूख, निद्रा, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि से कैसे सुरक्षित रहते थे? अथवा पौराणिक कथाओं के अनुसार इन्द्र द्वारा डाले गए विभिन्न विघ्नों—आग, वर्षा, तूफान, हिमपात आदि से कैसे सुरक्षित रहते थे)।

आकाश तत्त्व की धारणा

व्योमवृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षर भासुरम्।
आकाशे वायु मारोप्य हकारोपरि शंकरम्॥
विन्दु रूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्।
शुद्ध स्फटिक संकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम्॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्पभूषण भूषितम्।
उमार्धदेहे वरद सर्वकारण कारणम्॥
आकाश धारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम्।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तश्नुते॥

—योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्—व्योम वृत्ताकार धूम्रवर्ण, 'हकार' से प्रकाशित है। आकाश तत्त्व को वायु से आरोपित कर महादेव सदाशिव जो शुद्ध स्फटिक के समान बालचन्द्र मस्तक पर धारे हैं। सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों तथा सर्पाभूषणों से सुशोभित, उमा के अर्धांग, वरदायक, समस्त कारणों के कारण हैं—की आकाश तत्त्व में धारण करने से आकाश तत्त्व सिद्ध होता है तथा साधक कहीं भी रहे अत्यधिक सुखी रहता है (यानि आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है)।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं...प्राणं
तत्र विलीय पंघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा
मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्त न भोधारणा।

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—स्वच्छ जल के समान वर्ण, वर्तुलाकार, 'हंकार' बीज युक्त आकाश तत्त्व को सदाशिव के सहित चिन्तन करें। मन प्राण सहित उन्हीं में लीन हो जाने पर पांच घड़ी में आकाश तत्त्व पर अधिकार हो जाता है। इसके प्रभाव से मोक्ष के बन्द कपाट खुल जाते हैं। (साथ ही विशुद्ध चक्र पर भी अधिकार हो जाता है। क्योंकि आकाश तत्त्व का यह प्रमुख स्थान है। इसका बीज 'हं' है। यह रंगहीन तथा गोलाकार है और इसके अधिष्ठाता पंचमुखी सदाशिव हैं)।

मोक्षद्वार खुलने की बात इसलिए कही है क्योंकि पाठकों को याद होगा—चक्र प्रकरण में विशुद्ध चक्र को 'ब्रह्म द्वार' होना बताया गया है। इसी पर चन्द्र बिम्ब से अमृत स्राव होता है। इसी के आगे सर्वोच्च तीर्थ स्थल, तीर्थराज, त्रिवेणी अर्थात् 'आज्ञा चक्र' है। आकाश तत्त्व की सिद्धि के सम्बन्ध में 'पातञ्जलयोग प्रदीप' के यह दो सूत्र भी देखें—

'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।'

अर्थात्—कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के कान दिव्य हो जाते हैं। (यहां कान का संयम 'प्रत्याहार' का विषय है और आकाश का 'धारणा' का विषय है)।

'कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥'

(शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से तथा हल्की वस्तु में संयम करने से आकाश गमन की शक्ति आ जाती है।)

इस प्रकार पंचमहाभूतों पर विजय पा लेने से अणिमा आदि 8 सिद्धियां, सुन्दर, स्वस्थ, निरोगी व तेजस्वी शरीर का प्राप्त होना और भूतों के धर्म से निर्बाधता (यानि आग से न जलना, जल से गीला न होना, पत्थरों या कठोर पदार्थ के वार से शरीर का आहत न होना आदि) यह तीन प्रभाव होते हैं। जैसा कि कहा है—**'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च'**—(**योगदर्शन**) अर्थात्—भूत जय से अणिमादि आठ सिद्धियां, कार्य सम्पत्ति और भूतों के धर्म से बाधित न होना, यह तीनों प्रभाव होते हैं। (**अणिमा**—अणु के समान सूक्ष्म रूप बना लेना, **लघिमा**—शरीर को हल्का बना लेना, वायु में उड़ जाना। **महिमा**—शरीर को बड़ा बना लेना, **गरिमा**—शरीर को भारी बना लेना, अथवा किसी अंग विशेष को भारी बना लेना, **प्राप्ति**—इच्छित पदार्थ की संकल्प मात्र से प्राप्ति, **प्राकाम्य**—अनायास एवं निर्विघ्न इच्छा की पूर्ति हो जाना, या जैसा चाहे वैसा हो जाना, **वशित्व**—पंचभूतों व जीवों आदि का वश में हो जाना तथा **ईशत्व**—भौतिक पदार्थों व भूतों

को नाना रूप में उत्पन्न करने व उन पर शासन करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाना। यह 8 सिद्धियां हैं।)

इसके अलावा जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

स्तम्भिनी, द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पंच धारणाः॥
कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्चदुर्लभाः।
विज्ञान सततं योगी सर्वदुःखै प्रमुच्यते॥

अर्थात्—पृथ्वी का धारणा स्तम्भन करने वाली, जल की धारणा द्रावण करने वाली, अग्नि की धारण दाहन करने वाली, वायु की धारण भ्रमण करने वाली तथा आकाश को धारण शोषण करने वाली होती है। इस प्रकार यह पंचभूतों की पांच धारणाएं मानी गई हैं। कर्म, मन व वचन से इन पांचों दुर्लभ धारणाओं का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

विशेष

आज्ञा चक्र का भेदन अथवा उस पर अधिकार गुरु की आज्ञा के बिना सम्भव नहीं है। आज्ञा चक्र के बीज ॐ का ध्यान करने से तथा मन, प्राण सहित भावना द्वारा कुण्डलिनी को आज्ञा चक्र में प्रेषित करना ही चक्र भेदन का उपाय है। 'आज्ञाचक्र' पर पहुंचे हुए साधक का फिर पतन नहीं होता। वह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में आकर चिदानन्दमयी, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध तथा शिव स्वरूप हो जाता है। आगे सहस्त्रार चक्र में प्रविष्ट होने या असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने के लिए उसे विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। वह मोक्ष का अधिकारी व आत्म साक्षात्कार कर लेने वाला कर्म बन्ध से निर्लिप्त हो जाता है।

ध्यान

ध्यान के दो रूप हैं। सगुण व निर्गुण अथवा साकार व निराकार या मूर्त और अमूर्त—किसी रूप, आकार अथवा गुण में चिन्तन या ध्यान करना सगुण ध्यान है। शून्य, महाशून्य अथवा अमूर्त या अनन्त में ही ध्यान लगाना निर्गुण ध्यान है। सरल शब्दों में सगुण ध्यान में ध्यान का कोई लक्ष्य होता है किन्तु निर्गुण ध्यान में ध्यान का कोई विषय या लक्ष्य प्रकट रूप में नहीं होता। स्पष्ट है कि निर्गुण ध्यान बहुत कठिन है किन्तु सगुण ध्यान सिद्धियों तक ही जाता है और निर्गुण ध्यान मोक्ष तक जाता है। जैसा कि '*योग तत्त्वोपनिषद्*' में कहा है—

सगुण ध्यान मेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुण ध्यान युक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥

अर्थात्—सगुण रूप का ध्यान करने पर अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और निर्गुण का ध्यान करने से समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि, अंततः मोक्ष) प्राप्त

होती है। (अतः निर्गुण ध्यान ही श्रेष्ठ है)।

इस तथ्य को '*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है '**द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्फलं तथा।**' (ध्यान दो प्रकार का होता है—सकल तथा निष्कल)।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥

—पातंजल योग प्रदीप

अर्थात्—चित्त को (अन्दर या बाहर) किसी एक देश में ठहराना धारणा है। (और जहां चित्त को ठहराया जाए) उसी में चित्त की वृत्ति का एक तार चलना (बीच में दूसरी वृत्ति का उत्पन्न ही न होना) ध्यान है। (पाठक ध्यान दें कि—दूसरी वृत्ति का उत्पन्न ही न होना अथवा धारण की गई वृत्ति में एकतार चलना ध्यान है—दूसरी वृत्ति उत्पन्न हो जाए और बुद्धि या विवेक के द्वारा उस वृत्ति को हटाकर पुनः पहली वृत्ति को स्थिर कर लिया जाए—यह ध्यान नहीं है। यह कच्चा ध्यान है। अथवा ध्यान की स्थिति में पहुंचने का प्रयास है। ध्यान का होना नहीं)।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों का प्राण सहित एक साथ एक ही बिन्दु या देश में केन्द्रित बने रहना ध्यान है। इन चारों का संयोग ही फलदाई है। यदि इन्हें चक्रों पर केन्द्रित करें तो कुछ समय के अभ्यास से चक्र जागृत हो जाएंगे। पंच महाभूतों पर केन्द्रित करें तो अभ्यास से वे वश में आ जाएंगे। मूलाधार में सुप्त पड़ी कुण्डलिनी पर केन्द्रित करें और उसके जागृत होने की भावना करें तो कुण्डलिनी जागृत हो जाएगी। किसी भी अन्य विषय पर केन्द्रित कर उसे समझने की भावना करें तो वह विषय समझ में आ जाएगा। आत्मदर्शन की भावना से भृकुटियों के मध्य केन्द्रित करें तो आत्म साक्षात्कार हो जाएगा। मन्त्र पर केन्द्रित करें तो मन्त्र का साक्षात्कार हो जाएगा। शून्य/अनन्त में केन्द्रित करें तो समाधि लग जाएगी और परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाएगा। अर्थात् मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों को जिस भी बिन्दु, विषय या सत्ता पर भावना के साथ केन्द्रित कर देंगे वही प्रत्यक्ष होता चला जाएगा। इसीलिए ध्यान में सिद्ध हो जाने पर साधक त्रिकालज्ञ, सर्ववेत्ता, मनोवांछित को पा लेने वाला, वरदान व श्राप में समर्थ तथा अनेक सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। संक्षेप में यही ध्यान का फलस्वरूप है।

सुखासन में बैठकर मूलाधार चक्र का नासाग्र में ध्यान कर कुण्डलिनी जागरण की भावना से कुण्डलिनी जागृत होती है तथा समस्त पापों एवं विकारों का नाश होता है। जैसा कि कहा है—

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम्।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषै॥

जबकि स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान नासाग्र में करने से स्वाधिष्ठान चक्र सक्रिय होकर साधक सुखी होता है। जैसा कि कहा है—

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्य सम प्रभो।
नासा ग्रहष्टिरात्मनं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥

इसी प्रकार उपर्युक्त विधि से मणिपूर चक्र का ध्यान करने से जगत को क्षुभित करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है—

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके।
नासाग्रदृष्टिरात्मनां ध्यात्वा संक्षोभयंज्जगत्

अनाहत चक्र पर ध्यान से साधक ब्रह्ममय हो जाता है। (**हृदयाकाश स्थितं...ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।**) इसी प्रकार विशुद्ध चक्र का ध्यान योगी को आनन्दमय करता है। (**सततं...विशुद्धे दीपकप्रभे...ध्यात्वानन्दमयो भवेत्।**) आज्ञाचक्र पर ध्यान करने से ब्रह्म व जीव में एकता स्थापित होती है। अर्थात् आत्म एवं ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तथा '**अहं ब्रह्मास्मि**' मैं ही ब्रह्म हूं का बोध होता है। (**भुवोरन्तर्गत...आत्मानं विजित प्राणो...**) आदि।

उपर्युक्त विवरण विस्तार से '*गोरक्ष संहिता*' में उपलब्ध है। '*शाण्डिल्योपनिषद्*' के अनुसार—'वह ब्रह्म मैं ही हूं। ध्यान में ऐसी भावना करने वाला साधक ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।' (**सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति**) आदि समस्त विवेचनों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जैसा ध्यान साधक करेगा, वैसी ही उपलब्धि हो जाएगी। इसीलिए ध्यान योग को समस्त यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है। यथा—

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यान योगस्य तुलां नार्हन्ति षोड्शीम्॥

अर्थात्—सहस्त्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के समकक्ष भी नहीं हो सकता। (ध्यान योग सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है)।

किन्तु जब तक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा आदि द्वारा पात्रता और सक्षमता प्राप्त न कर ली जाए तब तक ध्यान में ऐसी समग्रता या सम्पूर्णता नहीं आ सकती कि चित्त में दूसरी वृत्ति उत्पन्न ही न होने पाए और जहां चाहें मन, प्राण, इन्द्रियों व बुद्धि को वहीं स्थिर कर सकें और इतनी प्रबल व गहन भावना कर सकें। संक्षेप में यही ध्यान योग है। विस्तार में जाने पर इसी पर पचासों पृष्ठ भी लिखे जा सकते हैं। किन्तु उससे व्यर्थ का उलझाव होगा। समझने योग्य सारांश इतना ही है।

समाधि

सरल शब्दों में कहें तो ध्यान की परिपक्वास्था अथवा अत्यधिक प्रगाढ़ता ही समाधि है। ध्यान में मन, एक ही वृत्ति में प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों सहित निश्चल अवश्य रहता है किन्तु चित्त में और उस वृत्ति में भेद बना रहता है। समाधि में यह

भेद समाप्त हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान (अर्थात् जो जाने, जिसको जाने और जैसा जाने) का अन्तर ध्यान में रहता है। 'मैं चिन्तन कर रहा हूं।' 'केवल अमुक का ही चिन्तन कर रहा हूं।' आदि का भाव मन में सूक्ष्म रूप से ध्यान में रहता है किन्तु समाधि में मात्र चिन्तन ही रह जाता है। मात्र लक्ष्य अथवा ज्ञेय/ध्येय ही रह जाता है। बाकी सब और 'मैं' भाव लुप्त हो जाते हैं। जैसा कि **महर्षि पातञ्जलि** ने कहा है—

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥'

अर्थात्—जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होने लगे वह अवस्था समाधि है। अथवा जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा गया है—

न गन्धं न रसं न रूपं न च स्पर्श न निःस्वनम्।
जात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना॥

अर्थात्—जो योगी समाधि में लीन हो जाता है—उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयों का तथा अपने पराए का ज्ञान नहीं होता। (अर्थात्—ज्ञानेन्द्रियों के अति अधिक केन्द्रीयकरण से उनके विषयों का होना, न होना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता और मन व बुद्धि की अति अधिक लीनता से अपने-पराए, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि भेदों का अभाव हो जाता है)।

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम्॥

अर्थात्—शब्द आदि तन्मात्राओं का कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों में जब तक किंचित् भी अंश विद्यमान रहता है, तब तक साधक ध्यानावस्था में रहता है। किन्तु जब पांचो इन्द्रियों (मन, बुद्धि सहित) की वृत्तियां निःशेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती है, तब समाधि होती है।

समाधि चित्त की निर्विकल्पावस्था है। तब किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प साधक में नहीं रहता। 'मैं क्या कर रहा हूं?' यह ज्ञान तो दूर 'मैं हूं।' ऐसी अनुभूति भी नहीं रहती। साधक का 'मैं' अपने ध्येय से एकाकार हो जाता है और बस ध्येय मात्र ही की प्रतीति रहती है। तभी समाधि होती है, जैसा कि '*गोरख संहिता*' में कहा है—

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगत।
यदात्मनसोरेक्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

अर्थात्—जैसे जल व सेंधा नमक आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा (ध्येय) व मन (ध्याता) का एक हो जाना ही समाधि (ध्यान की पराकाष्ठा) है।

इसके अलावा अवधि का अन्तर भी विचारणीय होता है। जैसा कि '*गोरख संहिता*' में कहा है—

धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं च षष्टनाडीभिः।
दिनद्वाक्षशंकेन स्यात्समाधिः प्राण संयमात्॥

अर्थात्—प्राणवायु का पांच घड़ी तक अवरोध करना—धारणा, साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना—ध्यान, और बारह दिनों तक चित्त व प्राणों का निरंतर संयम समाधि कहा जाता है (12 दिन कम से कम)।

'*योगतत्त्वोपनिषद्*' ने भी स्वीकारा है—

दिनद्वादशकेनैव समाधि समवाप्नुयात्।
वायुं द्रुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम्॥

अर्थात्—साधक बारह दिनों में समाधि सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार प्राण का निरोध करने वाला मेधावी पुरुष जीवन मुक्त हो जाता है। (यानि मोक्षाधिकारी हो जाता है)।

समाधि की विशेषताओं के सम्बन्ध में '*गोरक्ष संहिता*' के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिनाः॥
बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगीः युक्त समाधिना॥

अर्थात्—समाधि युक्त योगी शस्त्रों के द्वारा नहीं छेदा जा सकता। वह किसी भी शरीरधारी द्वारा मारा नहीं जा सकता। उस पर मन्त्र, यन्त्र आदि का प्रयोग भी प्रभावहीन रहता है। वह काल द्वारा भी बाधित नहीं होता और न ही कर्मों में वह लिप्त होता है। जो योगी समाधि में लीन हो जाता है, उसे कोई किसी प्रकार भी वश में नहीं कर सकता।

निराद्यंतं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगविद्॥

अर्थात्—योगी समाधिस्थ होकर आदि अन्त से रहित, अवलम्ब, प्रपंच से रहित, विशुद्ध, आश्रय और आकार से हीन परमतत्त्व को जान लेता है। (यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जहां से योगी वापस लौट सकता है। किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि में परमतत्त्व को जानकर योगी उसी में विलीन हो जाता है और सागर में मिले जल की भांति सागर में ही लीन होकर स्वयं सागर बन जाता है। यही मोक्ष है)।

शून्य में ध्यान क्यों?

अतः समाधि की सिद्धि, कल्याण व मोक्ष के लिए शून्य में ही धारणा व ध्यान करने चाहिए जैसा कि '*चन्द्रज्ञान*' नामक आगम ग्रन्थ में कहा गया है—

शून्यात् प्रवर्तते शक्तिः शक्तेर्वणाः प्रज्ञाज्ञिरे।

वर्णेभ्यश्च तथा मन्त्रा मन्त्रेभ्यः सृष्टिरव्यया॥
तस्माच्छून्यं जगद् ध्यायेद्यन्न नश्येत् कदाचन्॥

अर्थात्—इस शून्य में ही शक्ति की प्रवृत्ति होती है। शक्ति से वर्ण पैदा होते हैं। वर्णों से मन्त्र और मन्त्रों से यह कभी न नष्ट होने वाली सृष्टि होती है। अत: इस जगत् की शून्य के रूप में ही उपासना करनी चाहिए।

योगी का चरम लक्ष्य

सहस्त्रार में परमशिव से कुण्डलिनी रूपा शक्ति का अभेद्यात्मक मिलन समाधि की अवस्था में ही सम्भव होता है। जब तक शक्ति से संयुक्त न हो जाए तब तक सहस्त्रार चक्र में निवास करने वाला शिव 'शव' की ही भांति रहता है। **शक्ति का संयोग ही शव को शिव बना देता है।** अत: समाधि ही योगी का चरम लक्ष्य है।

निष्कर्ष

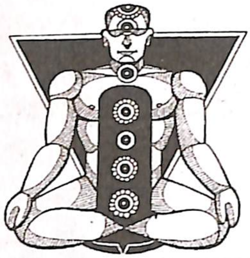
किन्तु जैसा कि बता चुके हैं। समाधि, ध्यान अथवा धारणा—कुछ भी तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक अभ्यास द्वारा मन विषयों से दूर होकर संयत न हो जाए। अत: मन को विषयों से विरत व निश्चल करना ही योगशास्त्र की आत्मा है। योगशास्त्र का मूल संदेश है। जैसा कि महर्षि अष्टावक्र ने राजा जनक को संक्षेप में सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का निष्कर्ष कहा है—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिके रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

—अष्टावक्र गीता

अर्थात्—विषयों में विरसता मोक्ष है। विषयों में रस बन्ध है। इतना ही विज्ञान है। (अब) तू जैसा चाहे वैसा कर।

❑❑❑



17 तन्त्र एवं मन्त्र सम्बन्धी उपाय

प्रभाव विवेचन

भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद और वर्ण—ये 6 तन्त्रशास्त्र में 'षडध्व' नाम से प्रसिद्ध हैं। वास्तव में यह वाच्य (कहा गया) और वाचक (कहने वाला) के रूप में विद्यमान शब्द और अर्थ का ही विस्तार है। **शब्द से वर्ण, पद और मन्त्र की तथा अर्थ से कला, तत्त्व और भुवन की उत्पत्ति होती है।** स्थूल व सूक्ष्म और पर रूप में विद्यमान इन षडध्वों से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। शब्द ब्रह्म ही षडध्व के रूप में परिणित होता है। इनमें वर्ण का विश्व के साथ अभेदात्मक, मन्त्र का भेदाभेदात्मक तथा पद का भेदात्मक सम्बन्ध रहता है।

मन्त्रों में इसीलिए सृष्टि की शक्ति निहित रहती है और वे सिद्धिदायक होते हैं। जैसा कि '*योगदर्शन*' कहता है—**'जन्मौषधि तपो मन्त्र समाधिजा सिद्धयः'** (जन्म से, औषधि से, तप से, मन्त्र से तथा समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है)। अतः सिद्धि प्रप्ति का एक उपाय 'मन्त्र' भी है। **सृष्टिसंकल्प से हुई है और संकल्प ही उसमें परिवर्तन भी कर सकता है।** अतः मन्त्रों के साथ संकल्प/इच्छा/भावना का समावेश भी आवश्यक है और संकल्प या भावना मन का धर्म है। अतः मन का पूर्ण संयोग मंत्र के साथ होना चाहिए। **मंत्र को मंत्र ही इसलिए कहा जाता है कि वे मनन करने पर त्राण (मुक्ति) देते हैं।** (मनन करने पर, मात्र रटने पर नहीं)। किन्तु बीज मन्त्र उच्चारण मात्र से प्रभाव करते हैं। जैसा कि—'*बृहद्गन्धर्व तन्त्र*' में कहा गया है—

श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देवरूपताम्।
मन्त्रोच्चारणमात्रेण देवरूपं प्रजायते॥

(देवी! सुनो, मैं बीजों का देवरूपता का प्रतिपादन करता हूं। मन्त्रों (बीजमन्त्रों) के उच्चारण मात्र से साधक को देवता का (तत्सम्बंधित का) सारूप्य प्राप्त हो जाता है (अथवा साक्षात्कार हो जाता है)।

किन्तु उच्चारण के साथ भावना अथवा संकल्प का सहयोग तो रहना ही चाहिए।

वर्णों अथवा अक्षरों से पद अथवा शब्द या मन्त्र बनता है। अतः मंत्र शब्द या वर्ण में दो शक्तियां छिपी रहती हैं—शब्दशक्ति और अर्थशक्ति। लक्षणा, व्यंजना

आदि शक्तियां अर्थ शक्ति का ही विस्तार हैं। साथ में निहित रहती है उनकी बनावट/आकृति/रूप की वैज्ञानिकता। इसीलिए शब्द को शिव व अर्थ को शक्ति कहा गया है। **काष्ठ में जिस प्रकार अग्नि अथवा तिलों में जिस प्रकार तेल छिपा रहता है उसी प्रकार शब्द में अर्थ छिपा रहता है।**

पद का अर्थ नाम या उपाधि से है। और पद का अर्थ कराने वाला (पद+अर्थ) पदार्थ कहलाता है। **'पदस्य अर्थ प्रकट्यते सः पदार्थः'** (जो पद का अर्थ प्रकट करता है—वही पदार्थ है)। अतः शब्द या पद भले ही सार्थक हों या निरर्थक—उसमें अर्थशक्ति फिर भी निहित रहती है। इस तथ्य को थोड़ा विस्तार से समझना होगा।

संतरे के स्वरूप को देखते ही उसका नाम स्मरण हो आता है। इस प्रकार अपने स्वरूप से अपने पद को प्रकट कर देने के कारण संतरा पदार्थ है। किन्तु वायु के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता अतः उसके पद का या नाम का स्मरण होना सम्भव नहीं इसलिए वायु पदार्थ नहीं 'तत्त्व' है। **लाल कांच की शीशी में भरा हुआ पानी भी जिस प्रकार लाल प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में वह लाल नहीं होता।** इसी प्रकार उपाधि या पद तत्त्व के स्वरूप को समझने में भ्रमित भी कर देते हैं। किन्तु 'तत्त्व' की ओर संकेत भी अर्थ से ही मिलता है। मन्त्रों या बीज मन्त्रों में उपाधि का संयोग न रहने से तत्त्व के विषय में भ्रम उत्पन्न नहीं होता। **अतः व्याकरण की दृष्टि से अथवा सार्थकता की दृष्टि से अक्सर मन्त्र अटपटे होते हैं। अर्थपूर्ण नहीं होते किन्तु शब्द शक्ति के कारण प्रभावशाली और सीधे तत्त्व पर पहुंचाने वाले होते हैं,** उपाधि या पद में उलझा देने वाले नहीं। विशेषतः शाबर मन्त्र।

अक्षर या शब्द की शक्ति और उसके उच्चारण से उत्पन्न होने वाली तरंगें प्रभावकारी होती हैं। इच्छित प्रभाव के लिए तद्नुसार अर्थशक्ति वाले शब्द और आवश्यक तरंग उत्पन्न करने योग्य शब्दों का चयन करना पड़ता है साथ ही उन्हें एक विशेष स्तर या फ्रीक्वेंसी पर उच्चरित करना भी आवश्यक होता है जिससे उतनी और वैसी तरंगें या कम्पन उत्पन्न हो सकें—जैसी और जितनी इच्छित प्रभाव के लिए आवश्यक है। इसमें अक्षरों की रचना या बनावट का विज्ञान भी सहायक सिद्ध होता है।

'वाइब्रेशन्स' से सृष्टि हुई—आधुनिक विज्ञान मानता है। भारतीय दर्शन 'नाद' से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। अर्थात् तरंगों/कम्पन/स्वरलहरियों से सृष्टि होने की बात पर दोनों ही सहमत हैं। बात ठीक भी है। कम्पन या तरंगें निर्माण और ध्वंस दोनों कार्यों में सक्षम हैं। **मन्त्र के प्रभाव में यह सिद्धांत भी भूमिका निभाता है और अर्थशक्ति के सूक्ष्म प्रभाव भी। इसके अलावा नाम, रूप और गुण में जो एक निश्चित व अटूट सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध भी सिद्धि में उपयोगी**

भूमिका निभाता है। क्योंकि व्यवहार, पहचान या ज्ञान के लिए—नाम, रूप व गुण/स्वभाव स्पष्ट हो जाते हैं अथवा किसी वस्तु को देखकर ही उसका नाम मस्तिष्क में सहज ही उभर आता है। क्योंकि नाम, रूप व गुण का एक निश्चित सम्बन्ध है। यही किसी सत्ता या वस्तु की पहचान होते हैं। अतः इनमें से एक घटक का भी पकड़ में आ जाना शेष दोनों घटकों तक पहुंचकर उस सत्ता वस्तु को जानने या उसके साक्षात्कार करने के लिए पर्याप्त होता है।

उदाहरण के तौर पर 'नींबू' कहते ही हम नींबू नामक पदार्थ के रूप, गुण आदि को समझ लेते हैं और हमारे मस्तिष्क में नींबू का चित्र स्पष्ट हो जाता है। अनगिनत पदार्थों में से नींबू की ही छवि हमारे मस्तिष्क में क्यों स्पष्ट हुई? नाम के प्रभाव से। 'नींबू' नामक पद या उपाधि के प्रभाव से। इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि 'पीले रंग का गोल छोटा-सा फल जिसके भीतर बीज व रस रहते हैं।' तब भी मस्तिष्क अनगिनत पदार्थों, फलों आदि में से नींबू की पहचान कर उसका नाम स्मृत कर लेता है। व्यक्ति जान जाता है कि सामने वाला 'नींबू' के विषय में बात कर रहा है। क्योंकि नाम का रूप से निश्चित सम्बन्ध है। इसी प्रकार गुण/स्वभाव का भी है। क्योंकि यदि कहा जाए—अति खट्टे रस वाला, जिसका छिलका कड़वा होता है आदि। तब भी गुण स्वभाव को जानकर व्यक्ति उसके नाम रूप को पहचान जाएगा और नींबू उसके मस्तिष्क में प्रत्यक्ष हो जाएगा। क्योंकि नींबू या **कोई भी सत्ता एक निश्चित नाम, निश्चित आकार/स्वरूप और निश्चित गुण/दोषों का संगठन या समूह मात्र है।** अतः नाम या रूप या गुण के माध्यम से ही उसे जाना जा सकता है।

कुण्डलिनी को, आत्मा को, चक्रों को, परमात्मा को, मन को, प्राण को अथवा जीव आदि को हम देख नहीं सकते फिर ऋषियों ने उनके स्वरूप का वर्णन कैसे कर दिया? क्योंकि समाधि की अवस्था में, ध्यान की अवस्था में नाम या गुण का निरन्तर मनन करके उन्होंने स्वरूप को प्रत्यक्ष किया। ईश्वर का नाम हमें पता है। गुण हमें पता है परन्तु रूप नहीं पता। तब नाम और गुणों का ही गहन चिन्तन करके उसके रूप का साक्षात्कार करते हैं। क्योंकि नाम, रूप व गुण का एक निश्चित सम्बन्ध है। यही संक्षेप में मंत्र जाप विज्ञान है। मनन करने से त्राण होना—यही है। **नाम व गुण का मनन, चिन्तन बार-बार गहनता से करना ही मन्त्र का जाप करना है** जिससे अन्ततः प्रकाश उत्पन्न होता है या साक्षात्कार होता है। स्वरूप समझ में आ जाता है अथवा स्वरूप को समझने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। बकौल शायर—

सबकी आंखों पे परदा पड़ा है।
तेरे चेहरे पर परदा नहीं है।

वह माया (अविद्या का परदा हटते ही देखने की योग्यता आ जाती है। किन्तु

चर्मचक्षुओं से नहीं अर्न्तचक्षुओं या दिव्यदृष्टि से ही परम या आत्म का साक्षात्कार होता है। शायरी ही की जुबान में—

वहां होता है आग़ाज़ तेरे जल्वों का।
जहां निगाह की मंज़िल तमाम होती है।

अर्थात्—तेरे दर्शन/झलक का आरम्भ ही वहां से होता है। जहां नेत्रों की दृष्टि सीमा समाप्त हो जाती है। (यानि इन्द्रियों द्वारा तुझे जाना नहीं जा सकता, तू अतीन्द्रिय है)।

इसीलिए तो '*तुलसी*' ने भी कहा—'**गो गोचर जंह लगि मन जाई। तंह लगि माया जानेहु भाई।**' (इन्द्रियां व इन्द्रियों के विषय/प्रभाव-क्षेत्र और मन की जहां तक पहुंच है वहां तक तो माया का ही विस्तार जानना चाहिए)।

नाम के प्रभाव से रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीलिए *तुलसी* ने कहा—**राम से बड़ा राम का नाम** अतः मन्त्र विज्ञान कोई कपोल कल्पना नहीं है। यह बाकायदा प्रभावशाली विज्ञान है। यद्यपि यह मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं आता, फिर भी पाठकों की मन्त्र प्रयोग में तथा मन्त्र उपायों के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास उत्पन्न हो सके अतः सामर्थ्यानुसार मन्त्र विज्ञान का विवेचन कर रहा हूं। यदि गुणी जन इसमें कोई त्रुटि पाएं तो मेरे अनधिकार चेष्टा की धृष्टता के लिए क्षमा करें।

समूची सृष्टि पंचमहाभूतात्मक है। पंच तत्त्वों से ही सारी सृष्टि बनी है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी)। दुनिया में जो भी सत्ता है—उसमें उपर्युक्त पांचों में से कम-से-कम एक तो अवश्य ही है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान तत्त्वों की संख्या 100 से ऊपर मानता है। (प्रारम्भ में 36 मानता था। जैसे-जैसे नए तत्त्व खोजे जाते गए, गिनती बढ़ती गई। किन्तु यह भ्रम है। क्योंकि ज्ञान को प्राप्त करने के 5 ही माध्यम है। (5 ही 'सैंस' हैं) अतः 'तत्व' (ऐलीमेन्ट) 5 से अधिक मूल रूप से नहीं हो सकते। यौगिक (कम्पाउन्ड) अलबत्ता अनेक हो सकते हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनके अनुसार—स्पर्श, श्रवण, गन्ध, रूप, रस, यह पांच ही अनुभूतियां या ज्ञान पाने के साधन या माध्यम हैं। अतः मूल तत्त्व पांच ही होंगे अधिक नहीं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में 'जल' तत्त्व (एलीमेन्ट) नहीं, यौगिक (कम्पाउन्ड) है। क्योंकि (H_2O) हाईड्रोजन व ऑक्सीजन का मिश्रण है। किन्तु यह उपाधि या नाम से उत्पन्न होने वाला भ्रम है। (जैसे लाल बोतल में बंद पानी को भी लाल समझ लिया जाता है)। **'जल तत्त्व' का जल महाभूत का अर्थ** WATER **या पानी से नहीं है। 'जल तत्त्व' का अर्थ उस महाभूत या तत्त्व से है जो 'रस' के गुण से युक्त है। जो 'रस' की अनुभूति कराता है। क्योंकि जल तत्त्व की तन्मात्रा (गुण) 'रस' है और इस न्याय से उसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा है—जो रस या स्वाद का अनुभव करती है।**

इसी प्रकार अग्नि तत्त्व—रूप या तेज के गुणों को प्रकट करने वाला तत्त्व है न कि FIRE है। आकाश महाभूत SKY नहीं है अपितु 'शब्द' के गुण से युक्त तत्त्व है। इसी प्रकार वायु महाभूत और पृथ्वी महाभूत—क्रमश: WIND या EARTH नहीं अपितु क्रमश: स्पर्श और गन्ध के गुणों से युक्त तत्त्व हैं। जहां-जहां गन्ध की अनुभूति है वहां-वहां पृथ्वी तत्त्व अवश्य है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों की तन्मात्राएं या गुण जहां-जहां हैं, वहां-वहां वे महाभूत अवश्य हैं। इसलिए मूल तत्त्व पांच ही हैं क्योंकि ज्ञान के अनुभव के माध्यम ही पांच हैं। यह बात समझने की है।

तो समूची सृष्टि पंचभूतात्मक है। **यदि हम जानते हैं कि अमुक पदार्थ में फलां-फलां तत्त्व इतनी-इतनी मात्रा में होते हैं तो हम मन्त्र द्वारा, संकल्प द्वारा अथवा ध्यान द्वारा वही-वही तत्त्व उतनी-उतनी मात्रा में मिलाकर उसी पदार्थ की सृष्टि कर सकते हैं। या किसी पदार्थ को इसी सिद्धांतानुसार उसकी संरचना के क्रम व व्यवस्था में परिवर्तन कर उसे अन्य इच्छित पदार्थ में बदल सकते हैं।** मगर इसके लिए पंचभूतों पर हमें अधिकार होना चाहिए अथवा परिवर्तन में समर्थ मन्त्रों का ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए मन्त्रवेत्ता अथवा योगी (ध्यान करने वाला) मनोवांछित सृष्टि करने में समर्थ होता है। ठीक वैसे ही **जैसे कोई वैज्ञानिक अणुओं की संरचना में परिवर्तन करके किसी पदार्थ को अन्य पदार्थ में बदल सकता है** (यदि वह सक्षम हो तो हालांकि विज्ञान अभी इतना समर्थ नहीं हो पाया है। फिर भी सिद्धांत अपनी जगह है)।

यह बात ठीक वैसी ही है जैसे कोई कुशल चित्रकार मात्र तीन मूल रंगों से सैकड़ों अन्य रंग व शेड्ज बना सकता है। पर उसे कम-से-कम तीन मूल रंग तो चाहिए। वैज्ञानिक अणुओं की संरचना की क्रम व्यवस्था बदलने में सफल हो भी जाए तो भी उसे मूल अणु तो चाहिए। मगर योगी या मन्त्रवेत्ता को मूल (पंच महाभूत) तत्त्व भी नहीं चाहिए। **वह तो उन पर अधिकार पा जाने के बाद स्वयं ही उनका सृजन करने में समर्थ होता है।** पुराणों में इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। **जिनमें एक विश्वामित्र द्वारा त्रिशंकु के लिए 'पृथक् सृष्टि' करने का प्रसंग तो सभी को स्मरण होगा।** अत: मन्त्र की शक्ति पर शंका नहीं की जा सकती। संकल्प व ध्यान की शक्ति पर शंका नहीं की जा सकती। फिर भी हम शंका करते हैं तो यह हमारी अल्पज्ञता, अज्ञान, हठधर्मिता अथवा मूर्खता ही होगी।

यदि मंत्रों के प्रति शंका हो, तो मंत्र सम्बन्धी उपायों में हरगिज न जाएं, क्योंकि शंका/संदेह सफलता या सिद्धि में बाधक होते हैं। विश्वास व श्रद्धा ही संकल्प को उत्पन्न करते हैं, जिससे सफलता मिलती है। संशय सदैव ही, और प्रत्येक क्षेत्र में असफलता ही दिलाने वाला होता है अत: सर्वप्रथम संशय का त्याग करें।

मन्त्र प्रक्रियाएं—कुण्डलिनी जागरण

गुरु वंदना

शुभ मुहूर्त आदि का विचार कर, स्नानादि से शुद्ध-बुद्ध हो, एकान्त स्वच्छ स्थान पर कुण्डलिनी की प्रतिमा के आगे शुद्ध घी का दीपक जलाकर आसन पर बैठें और सर्व प्रथम गुरु का स्मरण करें। **'ॐ श्री गुरुवे नमः'** मन्त्र से गुरु का अभिनन्दन करें, फिर गणेश जी का स्मरण करें—

गणेश वंदना

ॐ गजाननं भूतगणादि सेवितं।
कपित्थजम्बूफल चारु भक्षणम्॥
उमासुतं शोक विनाश कारकं।
नमामि विघ्नेश्वर पाद पंकजम्॥
वक्रतुण्ड महाकाय, सूर्यकोटि समप्रभं।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्व कार्येषु सर्वदा॥

इस प्रकार गणेश की प्रार्थना कर उनसे सिद्धि प्राप्ति और निर्विघ्नता की याचना करें।

संकल्प

सिद्धि प्राप्ति के लिए *संकल्प* करें। देवताओं को साक्षी मानकर—संवत्, मास, शुक्ल या कृष्ण पक्ष, तिथि, वार, राज्य, नगर/ग्राम के नाम के उच्चारण के साथ अपना नाम, आयु, पिता का नाम, दादा का नाम, गोत्र, साध्यदेव का नाम, मंत्र का नाम, जप संख्या व साधना की अवधि (कितने दिन में अनुष्ठान पूरा करना है) आदि का उल्लेख करते हुए संकल्प किया जाता है।

पूजन

संकल्प के बाद मां कुण्डलिनी की **पंचोपचार मानसिक पूजा** करें। उसकी विधि इस प्रकार है—

ॐ लं पृथ्वी तत्त्वात्म के गन्धं श्री महाकुण्डलिनी।
पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

इस मंत्र के पाठ के बाद अंगूठे को कनिष्ठा उंगली (दाएं हाथ की) मिलाकर गन्ध मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ हं आकाश तत्त्वात्मकं,
पुष्पं श्री महाकुण्डलिनी,
पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

अथवा तर्जनी व अंगूठे का प्रथम पोर मिलाकर मंत्र को पढ़कर पांचों उंगलियों

को ऊर्ध्वमुख मिलाकर दाएं हाथ से देवी को पुष्प मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ यं वायु तत्त्वात्मकं धूपं श्री महाकुण्डलिनी, पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि।

मंत्र का उच्चारण कर मध्यमा उंगली और अंगूठे के प्रथम पोरों को मिलाकर दाएं हाथ से धूप-मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ रं अग्नि तत्त्वात्मकं दीपं श्री महाकुण्डलिनी, पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

मंत्र का उच्चारण कर दाएं हाथ की अनामिका व मध्यमा को मिलाकर अंगूठे को उनके दूसरे पोर पर लगा कर दाएं हाथ से नैवेद्य मुद्रा देवी को दिखाएं।

विनियोग

फिर दाहिनी हथेली में जल लेकर निम्न मन्त्र से *विनियोग* करें—

ॐ अस्य सर्व सिद्धि श्री कुण्डलिनी,
महामंत्रस्य भगवान श्रीमहाकाली।
ऋषि विश्वव्यापिनी महाशक्ति,
श्री कुण्डलिनी देवता त्रिष्टुप छन्दः।
ह्रीं बीजम् सिद्धि शक्ति प्रणव कीलकं,
चतुर्वर्ग प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः॥

और हथेली का जल भूमि या रिक्त पात्र में डाल दें। फिर चारों उंगलियों और अंगूठे को मिलाकर दाहिने हाथ से अपने सिर का स्पर्श करते हुए *ऋषियों का न्यास* करें—

ऋषिन्यास

ॐ भगवान श्री महाकालो ऋषये नमः शिरसि। (सिर पर हाथ लगाएं)। **ॐ त्रिष्टुप छन्दसे नमः मुखे।** (मुख पर हाथ लगाएं)। **ॐ महाशक्ति श्री कुण्डलिनी देवतायै नमः हृदये।** (हृदय को छुएं)। **ॐ ह्रीं बीजाय नमः गुह्ये।** (गुह्यांग की ओर हाथ कर मन से उसे छूने की भावना करें)। **ॐ सिद्धिः शक्तये नमः पादयो।** (पैरों का स्पर्श करें)। **ॐ प्रणय कीलकाय नमः नाभो।** (नाभि का) **ॐ विनियोगाय नमः सर्वांगे।** (दोनों हाथों से सिर से पैर तक समस्त अंगों का स्पर्श करें)। इस प्रकार ऋषियों का न्यास पूर्ण होने के बाद '*करन्यास*' करें। इसकी विधि व मन्त्र इस प्रकार हैं—

करन्यास

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः अंगुष्ठाभ्यां नमः।

(दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों हाथों के अंगूठों को छुएं।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः तर्जनीभ्यां नमः।

(दोनों हाथों के अंगूठों से तर्जनी उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः मध्यमाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से अनामिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः अनामिकाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से अनामिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से कनिष्ठिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कर तलकर पृष्ठाभ्यां नमः।

(दोनों हाथों की हथेलियों के पृष्ठभाग को छुएं।)

'करन्यास' के पश्चात् उपरोक्त विधि से ही—

'*षडंगन्यास*' करें। प्रारम्भिक मंत्र (ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः) वही रहेगा अन्त में अंगों के नाम बदलते रहेंगे। और जिन अंगों के नाम का उच्चारण किया जाएगा, दाएं हाथ की पांचों उंगलियों से उन्हीं अंगों को छुआ जाएगा। यथा—

षडंगन्यास

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः हृदयाय नमः। (हृदय को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः शिर से स्वाहा। (सिर को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः शिखायै वषट। (शिखा स्थान को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः नेत्रयाय वौषट्। (दोनों नेत्रों व ललाट मध्य)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कवचाय हूं। (दाईं उंगलियों से बाईं

(और बाईं उंगलियों से दाईं भुजा को एक साथ)।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः अस्त्राय फट्। (दाएं हाथ को सिर के ऊपर से बाईं ओर पीछे की तरफ ले जाकर दाईं ओर से सामने लाकर उसकी तर्जनी व मध्यमा से बाएं हाथ पर ताली मारें)।

(इस प्रकार न्यास क्रियाओं द्वारा हम अपने हाथ से निकली विद्युत से उन अंगों को चैतन्य करते हैं तथा पवित्र भाव से भरते हैं, जिन्हें मन्त्रोच्चार के साथ छूते हैं)।

ध्यान

न्यास के पश्चात् देवता का '*ध्यान*' करते हैं। क्योंकि आराधना कुण्डलिनी देवी की है। अतः उनके स्वरूप का ध्यान हृदय या भृकुटियों के मध्य करते हुए निम्न मन्त्रों का उच्चारण करें—

मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम्।
शिखा आनीय तस्याग्नेरथ ऊर्ध्व व्यवस्थिता॥

तस्या शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोक्षरः परम स्वराट्॥
स एवं विष्णुः स कालोऽग्निः चन्द्रमा।
इति कुण्डलिनी ध्यात्वा सर्व पापैः प्रमुच्यते॥

अर्थात्—मूलाधार में दिव्य त्रिकोण तेजपुंज, उर्ध्वगामी तेज शिखा के बीच परब्रह्म अवस्थित है। वह तेज ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अक्षर, काल, अग्नि, चन्द्रमा हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी का ध्यान सब पापों को नष्ट करने वाला है। (मन्त्रोच्चार के सार्थ अर्थ की भावना भी करें)।

ॐ प्रसुप्त भुजगाकारां स्वयं भू लिंगमाश्रितां,
विद्युतकोटि प्रभां देवीं विचित्र वसानान्वितां।
शृंगारादि रसोल्लासां सर्वदा कारण प्रियाम्॥

(वह सोई हुई भुजंग के आकार की कुण्डलिनी स्वयं उत्पन्न होने वाले लिंग के आश्रित हैं। करोड़ों विद्युतों की चमक के समान वह देवी विचित्र वस्त्र धारण किए, शृंगारादि से परिपूर्ण, रस व उल्लास से पूर्ण और सदैव प्रिय करने वाली है)।

मेरुदण्डे वह्निना शब्दात् पदं तेजोमयीति च,
सिद्धि प्राप्ति सिद्धिः सर्वकाम पदात् पुनः।
सर्वेशा परिपुरेति चक्र स्वामिनीति च,
गुप्त योनिन्यनगा च कुसुमेडनग मेखले।
सर्व मंत्रमयीत्युक्ता सर्वे द्वन्द्व क्षयकारी,
सर्वज्ञानमयीत्युक्तात्वा सर्व व्याधि विनाशिनी,
सर्वानन्दमयी देवी सर्व रक्षा स्वरूपिणी।
महाशक्ते महागुप्ते ततश्चैव महा-महा,
कुल कुण्डलिनी देवी, कन्दे मूल निवासिनी॥

अर्थात्—मेरुदण्ड में अग्नि रूप, शब्द, पद व तेजस्वी सिद्धि प्रदान करने वाली, सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाली सबकी स्वामिनी, चक्रसंस्थानों की स्वामिनी और गुप्त योनि कामशक्ति, पुष्प मेखला/अनंग मेखला, समस्त मंत्रों से युक्त, समस्त द्वन्द्वों का नाश करने वाली, सब सौभाग्यों को देने वाली, समस्त विघ्नों का निवारण करने वाली, सर्वज्ञा व ज्ञानदायिनी, समस्त व्याधियों को नष्ट करने वाली, आनन्दमयी देवी सदा रक्षा करने वाली महाशक्ति, महा रहस्यमयी/महागोपनीय होने से महानतम, कुण्डलिनी देवी जो कन्द के मूल में निवास करने वाली है—उनका मैं ध्यान करता हूं।

गायत्री जप

ध्यान के पश्चात् कुण्डलिनी देवी को प्रणाम कर *गायत्री मन्त्र* की एक माला का जाप करें।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

कुण्डलिनी मंत्र जाप

फिर *कुण्डलिनी महामन्त्र* का जप आरम्भ करें जो इस प्रकार हैं—

ॐ हं हां हीं हूं हैं हः कुण्डलिनी
जगन्मातः सिद्धिं देहि देहि स्वाहा।

अथवा इस महामंत्र का जाप आरम्भ करें—

कुण्डलिनी महामंत्र

ॐ ऐं हं हां हीं हूं हैं हौं हः जगन्मातः
सिद्धिं देहि देहि स्वयंभू लिंगमाश्रितायै
विद्युत कोटि प्रभायै महाबुद्धि प्रयायै
सहस्त्र दल गामिन्यै स्वाहा।

(दोनों मंत्रों में से किसी एक का जाप करें)।

जप संख्या, स्थानादि

कुण्डलिनी महामंत्र का कुल जाप **24 लाख** की संख्या में करना चाहिए। प्रतिदिन कम-से-कम तीन हज़ार मंत्रों का जाप अवश्य ही करना चाहिए। अथवा जितने दिनों में 24 लाख मंत्रों के जाप का संकल्प साधना के प्रारम्भ में किया है उसके हिसाब से प्रतिदिन का जाप निर्धारण करें। समय प्रातः 4 बजे से हो तो अति उत्तम है। अन्यथा रात्रि नौ बजे के बाद हो, ताकि व्यवधान न पड़े। यदि जाप अधिक संख्या में करने हों, तो प्रातः व रात्रि दोनों समय जाप किया जा सकता है। इस साधना के लिए सर्वोत्तम स्थान श्मशान माना गया है, क्योंकि वहां शांति, एकांत और वैराग्य का भाव बना रहता है। संकल्प पहले ही दिन करना होता है किन्तु शेष क्रम (प्रार्थना, पूजा, विनियोग, न्यास आदि) वही रहता है। साधना काल में अनुष्ठान पूर्ण होने तक यम, नियम व संयम का पालन अनिवार्य है। उसी से पात्रता उत्पन्न होती है।

क्षमा प्रार्थना

जाप के अन्त में क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए। जिससे कोई त्रुटि या भूल रह गई हो तो उसकी पूर्ति हो सके। क्षमा-प्रार्थना शुद्ध मन से वैसे भी की जा सकती है। किन्तु मन्त्रों के साथ की जाए तो और भी अच्छा रहता है। क्षमा-प्रार्थना के मन्त्र इस प्रकार हैं—

अपराध सहस्त्राणि क्रियन्तेऽहर्निशम मया।
दासोऽयामिति मां क्षमस्व परमेश्वरि॥

आवाहनं न जानामि न जानामि च विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि क्षम्यतां परमेश्वरि॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वरिः।
यत्पूजितं मया देवी परिपूर्णं तदस्तु मे॥
अपराध शतम् कृत्या देवेश्वरि चोच्यरेत।
यां गति समवाप्नोति न तां ब्रह्मदयः सुराः॥
सापरोधोऽस्मि शरणं प्राप्तस्त्वां परमेश्वरि।
इनानीमनुकम्पयो अहं यथेच्छसि तथा कुरु॥
अज्ञानाद्विस्मृतेर्भ्रान्त्या यन्न्यूनाधिकं कृतम्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवी प्रसीद परमेश्वरि॥
कामेश्वरिजगत देवी सच्चिदानन्द विग्रहे।
गुह्याति गुह्या गोप्वी तवं ग्रहाणास्मत्कृतं जपं।
सिद्धि र्भवतु में देवी त्वत्प्रसादात्सुरेश्वरि॥

अर्थात्—हे परमेश्वरी! मैं रात दिन सहस्त्रों अपराध करता हूं। अपना दास समझ मेरे अपराधों को कृपापूर्वक क्षमा कीजिए। हे परमेश्वरी! मैं आह्वान, विसर्जन और पूजा की विधि नहीं जानता, क्षमा करो। हे सुरेश्वरी! मैंने जो मंत्रहीन, क्रियाहीन, भक्तिहीन पूजन किया है—वह आपकी कृपा से पूर्ण हो। सैकड़ों अपराध कर के भी जो आपका शरणागत हो जाता है उसे वह (सद्) गति प्राप्त होती है, जो ब्रह्मादि देवताओं को भी सुलभ नहीं। परमेश्वरी! मैं अपराधी हूं, किन्तु आपका शरणागत हूं अतः दया का पात्र हूं। (अब) आप जैसा चाहें करें। देवी! अज्ञानवश, भूलवश या बुद्धिभ्रान्त हो जाने के कारण मैंने जो कमीबेशी की हो, उसे क्षमा करके प्रसन्न होओ। सच्चिदानन्द रूपिणी परमेश्वरि! कामेश्वरि! आप प्रेमपूर्वक मेरी पूजा को स्वीकार कर मुझ पर प्रसन्न रहिए। देवी! देवताओं की भी देवी! आप गोपनीय से भी गोपनीय और सबकी रक्षा करने वाली हो। मेरे निवेदित जप को ग्रहण (स्वीकार) करो। आपकी कृपा से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।

इस प्रकार देवी को जप समर्पण करके और क्षमा-याचना करके **फिर कुण्डलिनी देवी की स्तुति, अष्टक, कवच एवं स्तोत्रादि का पाठ करें।** अन्त में देवी का पुनः ध्यान कर, दण्डवत् प्रणाम करें और फिर गुरु को प्रणाम कर देवी को आसन से उठाएं।

कुण्डलिनी देवी की उपासना चर्मासन—मृग/बाघ आदि पर बैठकर करनी चाहिए तथा जप माला 108 रुद्राक्ष की होनी चाहिए। प्रातः पूर्व की ओर तथा रात्रि में पश्चिम की ओर मुख करके बैठना चाहिए। और साधना का समय व स्थान निश्चित रखना चाहिए।)

मानसिक मंत्र जाप विधि

एक अन्य विधि के अनुसार दोनों पैरों की एड़ियों पर शरीर को तोलकर *स्वास्तिकासन* में बैठें (बाएं पैर की एड़ी को सिद्ध आसन की भांति योनि प्रदेश/सीवन पर दृढ़ता से लगाएं और फिर दाहिने पैर की एड़ी को बाएं पैर की एड़ी पर स्थापित कर पूरे शरीर को दोनों एड़ियों के आधार पर तोल लें। सिद्धासन और इसमें यही अन्तर है कि सिद्धासन में एक एड़ी योनि प्रदेश को दबाती है जबकि दूसरी उपस्थ पर रहती है और स्वास्तिकासन में दोनों एड़ियां ही योनि प्रदेश व गुदा को दबाती/शरीर के नीचे रहती हैं। इस प्रकार मूलाधार पर भरपूर दबाव पड़ता है। **किन्तु इस आसन को लगाने से पूर्व मूलबन्ध का प्रबल अभ्यास आवश्यक है**)। इस आसन को यदि मूलबन्ध के बिना लगाएं तो नपुंसकत्व की सम्भावना भी रहती है और मूलाधार के या कुण्डलिनी के जागरण की सम्भावनाएं भी न्यून हो जाती हैं। कमर, गर्दन व सिर समसूत्र में रखें। तीनों बन्धों को दृढ़तापूर्वक लगाएं अथवा जालन्धर को छोड़ शेष दो बन्धों को ही लगाएं। इन्द्रियों को मन सहित अन्तर्मुखीकर ठूंठ की भांति निश्चल होते हुए अधखुले नेत्रों से भ्रूमध्य पर देखें (*शाम्भवी मुद्रा*)। इसी मुद्रा में खेचरी मुद्रा शामिल रहे तो प्रभाव और बढ़ जाता है फिर—

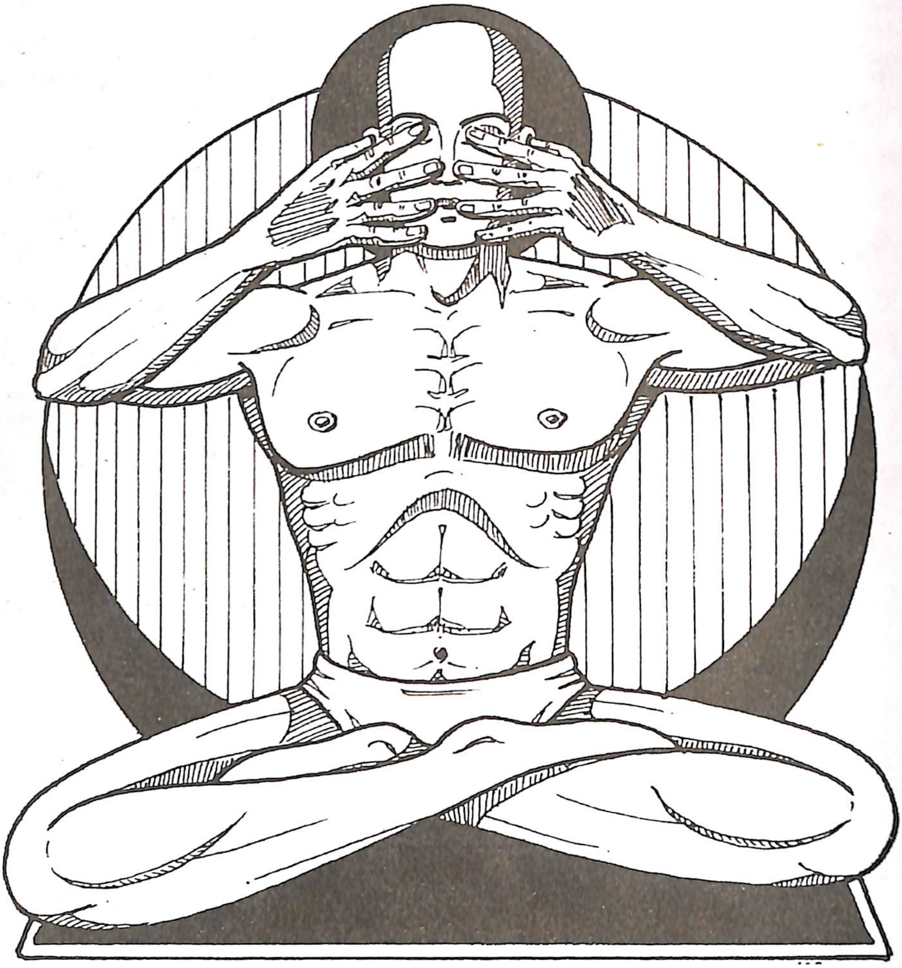
'*शिव सिद्ध शरणं*' मन्त्र को मन में ही 7 बार बोलकर मन ही में सात बार सुनें। तब '**ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं स्वाहा**' मन्त्र को मन ही में बोलते व सुनते रहें। शनैः शनैः ऐसा अभ्यास करें कि बोलें एक ही बार और बार-बार उसकी प्रतिध्वनि भीतर से सुनते रहें (इसके लिए ध्यान की तीव्रता की आवश्यकता होती है)। ऐसा सम्भव न हो तो इस मन्त्र को भी सात बार बोलकर भीतर से ही सुनने के बाद 'सोऽहम्' मन्त्र का ही चिन्तन करते रहना चाहिए। इस प्रकार कुण्डलिनी जागरण की यह विधि ध्यान योग और मन्त्र उपाय दोनों ही का सम्मिलित रूप है। अनुभवियों के अनुसार इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम दिव्य गन्धों की और फिर दिव्य प्रकाश की अनुभूति होती है। अंततः कुण्डलिनी जागृत हो जाती है।

शिव पुराण में वर्णित एक अन्य विधि

रात्रि के दूसरे प्रहर (अर्धरात्री) में श्मशान अथवा किसी निर्जन एकांत स्थान पर, अथवा घर ही के शुद्ध, हवादार, एकांत कक्ष में **(पर्वत की चोटी, पवित्र नदी का तट, वन, तीर्थ स्थान, सरोवर, श्मशान, भूगर्भ (तहखाना) या गुफा आदि ध्यान साधनाओं के सर्वोत्तम स्थान माने गए हैं.)**। पद्मासन अथवा सिद्धासन लगाकर चर्मासन पर बैठें।

तीन प्राणायामों द्वारा मन को स्थिर करें। फिर त्रिबन्ध लगाकर दोनों हाथों के अंगूठों को कानों में डालें, तजर्नियों से दोनों नेत्रों को ढकें तथा मध्यमाओं से दोनों नासापुटों को दबाएं और अनामिकाओं से मुख को बन्द करें। (यदि प्राणायाम का

अभ्यास है तो अन्तर्कुम्भक करके ऐसा करें। यदि नहीं है तो उंगलियों को इस प्रकार स्थापित करें कि नासिका से श्वास ली जा सके व छोड़ी जा सके। किन्तु श्वांस प्रश्वांस यथा सम्भव गहरे और धीमी गति में विलम्ब के साथ हों, जिससे मन की एकाग्रता में सहायता मिले)। अब अपने कानों के भीतर होने वाली गड़गड़ाहट अथवा अग्नि के धधकने के समान उत्पन्न होने वाली ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करें। मन से अन्य सभी विकल्प हटा दें।



शिव पुराण में वर्णित विधि

'ब्रह्माण्ड सन्तके देहे यथा देशं व्यवस्थितः।' (*शिव संहिता*) के सूत्रानुसार शरीर ब्रह्मांड संज्ञक है। जो कुछ इस ब्रह्मांड में है, वह सब इस शरीर में भी है। अतः ध्यान द्वारा शरीर ही में ब्रह्मांड दर्शन हो जाता है।

अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर शरीर के भीतर की गड़गड़ाहट समाप्त होकर नदियों में जल बहने की ध्वनि के समान स्पष्ट नाड़ियों में रक्त बहने की ध्वनि सुनाई

देने लगती है। जैसे-जैसे श्रोत्र शक्ति व केन्द्रियकरण बढ़ता है अन्य भीतरी सूक्ष्म ध्वनियां भी स्पष्ट होती चली जाती हैं। अन्त में जब शंख, घंटा आदि के नाद सुनाई देने पड़ें तो साधक को सिद्धि के निकट समझना चाहिए।

रुद्रयामल तन्त्र में वर्णित विधि

रुद्रयामल तन्त्र में कुण्डलिनी साधना की एक अन्य मंत्रविधि भी दी गयी है। संकल्प, न्यास, विनियोग आदि की विधि पूर्ववत् है। पर मन्त्र बदल जाएंगे। सर्वप्रथम गुरु पूजन *गुरु पादुका मन्त्र* से करें—

तेजोमय-महाविद्या शेखराञ्चितमस्तकाम्।
रक्तां चतुर्भुजा वन्दे श्रीविद्यागुरुपादुकाम्॥

उपर्युक्त मन्त्र से गुरु पादुका का ध्यान कर निम्न मंत्र बोलें—

ॐ हंसः शिवः सोहं सोहं हंसः शिवः हंसः शिवः सोहं हंसः ह्स्ख्फ्रें हसक्षमलवरयूं नमः॥

फिर विघ्नेश्वर का स्मरण कर '**ॐ गं गणपतयै नमः।**' कहें।

प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार में चतुर्दल कमल के बीच त्रिकोण रूप पीठ में स्थित ज्योतिर्लिंग को आवेष्टित कर वहां विराजमान साढ़े तीन वलयवाली कुण्डलिनी को '**ॐ हूं**' बीज द्वारा जागृत करें और '**ऐं ह्रीं श्रीं**' मन्त्र का जप करते हुए ध्यान करें। विनियोग के लिए निन्न मन्त्र है—

विनियोग

(अस्य श्रीकुण्डलिनी मन्त्रस्य शक्तिः ऋषिः गायत्रीच्छन्दः चेतना कुण्डलिनी शक्तिर्देवता ऐं बीजं श्रीं शक्तिः ह्रीं कीलकं मम श्रीकुण्डलिनी प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।)

न्यासादि के मन्त्र निन्नलिखित हैं—

ऋष्यादिन्यास

(शक्तिऋषये नमः (शिरसि), गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुख), चेतना कुण्डलिनी शक्ति देवतायै नमः (हृदये), ऐं बीजाय नमः (गुह्ये), श्रीं शक्तये नमः (पादयोः), ह्रीं कीलकाय नमः (नाभौ), विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।)

कर-हृदयादिन्यास

ऐं, ह्रीं, श्रीं, ऐं, ह्रीं, श्रीं।

(इन छः बीजों से क्रमशः अंगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठा और करतल-करपृष्ठ में तथा हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्रन्यास करें)। फिर निम्न मंत्र से ध्यान करें—

ध्यान

सिन्दूरारुण विग्रहां त्रिनयनां माणिक्य मौलिकस्फुटत्तारानायक शेखरां स्मितमुखी मापीनवक्षोरुहाम्।

पाणिभ्यामलिपूर्ण रत्न चषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं, सौम्यां रत्न घटस्थ सव्यचरणां वन्दे पराम्बिकाम्॥

जाप

फिर **मानसिक पूजा** के बाद मूलमन्त्र '**ऐं ह्रीं श्रीं**' का यथा शक्ति रुद्राक्ष माला पर जाप करें। और अन्त में जप-समर्पण कर क्षमा प्रार्थना करें। फिर **कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक** आदि का पाठकर, गुरु को प्रणाम करें। **वैसे भी प्रातः उठते ही कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक का ध्यान करते हुए पाठ करने से योगशक्ति की प्राप्ति होती है।** (कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक, कुण्डलिनी कवच एवं स्तुति व स्तोत्रादि अन्त में दिए गए हैं)।

विशेष

इस साधना को **रात्रि में ही करें,** क्योंकि यह '**रुद्रयामल तन्त्र**' के अन्तर्गत है। और 'यामल' तन्त्र ही रात्रि में किए जाने वाले कर्मों से सम्बन्धित होता है। जैसा कि यामल की परिभाषा में कहा गया है—

'**यामिनी विहितानि कर्माणि समाश्रीयन्ते तत् तन्त्रं नाम यामलम्।**' (रात्रि में विहित कर्मों का जिसमें आश्रय लिया जाए वह तन्त्र यामल कहलाता है)।

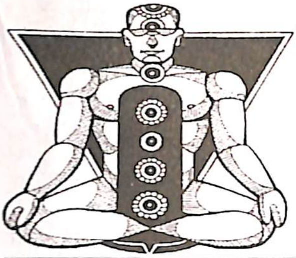
मन्त्र जाप के साथ कवच स्तोत्रादि का पाठ इसलिए किया जाता है कि कवच से साधक का कवचीकरण (सुरक्षा) हो जाती है और विजय निश्चित हो जाती है। इसीलिए '*दुर्गासप्तशती*' में कहा है—

...तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कवची भवसर्वदा॥
कवचेनावृतो नित्यं यत्र यत्रापि गच्छति।...

(अतः सब प्रकार से कवचीकरण सदा करना चाहिए बिना कवच से आवृत्त हुए कहीं भी न जाना चाहिए। सदैव/नित्य कवच पाठ करना चाहिए)।

इसी प्रकार—सहस्रनाम, अष्टक आदि के प्रयोग से 72000 **नाड़ियों में चेतना जागृत होती है,** जिससे साधना में सफलता मिलती है और स्तोत्र के पाठ से मन को प्रसन्नता, कष्टों से मुक्ति तथा देवता की कृपा या प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसा कि '*कुलार्णव तन्त्र*' में कहा गया है—**स्तोक, स्तोकेन मनसः परमप्रीतिकारणात्। स्तोत्रसन्तरणाद् देवि: स्तोत्रमित्यभिधीयते॥**

❑❑❑



18 सिद्धिदायक कवच व स्तोत्र

आधारे परदेवता भवानताधः कुण्डली देवता,
देवानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुञ्जस्थिता।
मूलाधार निवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी, मालिनी,
सा मे मातृमनुस्थिता कुलपथानन्दैकबीजानना॥

इस स्तोत्र को प्रणव से सम्पुटित करके पाठ करने पर सर्वसिद्धि व सर्वसुख होता है, साथ ही पाठकर्ता 'कुण्डली पुत्र' ही बन जाता है अर्थात् मां कुण्डलिनी उसे अपना लेती है। कुण्डली कवच का प्रातः तीन बार, दोपहर 2 बार और सायं एक बार पाठ करने का भी विधान है।

ॐ ईश्वरी जगतां धात्री ललिता सुन्दरी परा।
कुण्डली कुलरूपा च पातु मां कुल चण्डिका॥

इस कवच के साथ विभिन्न अंगों में रक्षा की भावना से पाठ करने और इसे भोजपत्र पर लिखकर धारण करने से भी सर्वसिद्धि होना कहा गया है।

ध्यान योग अथवा तंत्र-मंत्र किसी भी उपाय से सर्वप्रथम कुण्डलिनी जागृत करनी चाहिए। तभी अन्य मन्त्रादि व पूजनादि कुछ प्रभाव देते हैं। बिना कुण्डलिनी जागृत हुए यह सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं जैसा कि '*गौतमीय तन्त्र*' में कहा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनो यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किंचिन्न सिद्धयेत् मन्त्र-यन्त्रार्थनादिकम्॥
जागृर्ति यदि या देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः।
तत् प्रसादमायाति मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम्॥

अर्थात्—मूलाधार में कुण्डलिनी जब तक सुप्त रहती है, तब तक मन्त्र, यन्त्र, भजन-पूजनादि कुछ भी सिद्ध नहीं होते। और जब उनके पुण्यों के प्रभाव से यह देवी जागृत हो जाती है तो उसकी कृपा से मन्त्र, यन्त्र, भजन-पूजनादि सभी सफल हो जाते हैं।

'*ज्ञानेश्वरी गीता*' में कुण्डलिनी जागरण की विधि एवं प्रक्रिया का उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों तथा प्रभावों के साथ विस्तृत वर्णन मिलता है। पाठकों के ज्ञानवर्धन के लिए उसे हम ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहे हैं।

ज्ञानेश्वरी गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार उपदेश दिया है—'पिंडली

को जंघा के साथ मिलाते हुए पैर को इस प्रकार मोड़ें और तलुए को इस प्रकार टेढ़ा करें कि तलवे ऊपर की ओर हो जाएं। इस प्रकार एक-दूसरे के ऊपर पैर इस प्रकार स्थापित करें कि एड़ी से सीवन का स्थान दबा रहे और तलवे शरीर के नीचे हो जाएं। फिर दृढ़तापूर्वक मूलबन्ध लगाकर शरीर को एड़ियों पर तोलते हुए नितम्बों सहित शरीर के पिछले भाग को थोड़ा-सा ऊपर इस प्रकार उठाएं कि यह पता भी न चले कि उन्हें उठाया गया है। इस प्रकार शरीर का समस्त भाग एड़ियों पर आ जाने से मूल स्थान पर पूरा दबाव पड़ता हो। यह मूलबंध नामक आसन है। इसी को 'वज्रासन भी कहते हैं।' (वस्तुतः यह वज्रासन का विलोम प्रकार है। कुछ विद्वान इसे 'स्वास्तिकासन' का नाम देते हैं)।

इस आसन के प्रभाव से आंतों में संचरण करने वाला अपान वायु पीछे को हटने लगता है। हाथों की हथेलियां द्रोणाकार होकर अंक में अवस्थित हो जाती हैं (ऐसा करना चाहिए इससे सुविधा रहती है इस आसन में स्थित होने में)। शरीर दण्ड की भांति सीधा हो जाता है। आंखों की ऊपरी पलकें बन्द हो जाती हैं किन्तु निचली खुली रहती हैं। अतः आंखें अधखुली हो जाती हैं। दृष्टि नासिकाग्र या नासिका संधि लगाकर मनोवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। अपानवायु पीछे को चलने लगती है और दबाव पड़कर फूलकर कुपित होती हुई मत्त हो जाती है। बन्धों के कारण मार्ग न मिलने पर वह उसी बन्ध स्थान में गड़गड़ाने लगती है और नाभि स्थान में मणिपूर चक्र को बीच-बीच में धक्के देती है।

इसके बाद उसकी उमड़न या घुमड़न शांत होती है। तब वह सारे शरीर में विचरकर बाल्यावस्था से तब तक जितना मल शरीर में संचित हो चुका है, वह सब निकाल देती है। कफ और पित्त को आधार स्थल से निकाल देती है, रुधिर आदि सातों धातुओं को उलट देती है, भेद के संग्रहों को चूर्ण करती है। हड्डियों में व्याप्त मज्जा तक बाहर निकाल देती है। वायु मार्ग की नाली का शोधन करती है। इस प्रकार समस्त अवयवों को शिथिलता प्राप्त हो जाती है। नौसिखिए ऐसे उपद्रवों से भयभीत हो जाते हैं। परन्तु भयभीत नहीं होना चाहिए। बलगम, शिथिलता आदि व्याधियां मलों के शोधन स्वरूप उस काल में उत्पन्न होती हैं पर यही अपान वायु उन व्याधियों का परिहार भी करती चलती है। अन्ततः यह वायु कुण्डलिनी शक्ति को अपने आघातों से जागृत कर डालती है।

कार्तिक से फाल्गुन अथवा नवम्बर से मार्च तक का समय इस योगाभ्यास के लिए सर्वोत्तम है। (किन्तु वस्ति या एनिमा द्वारा उदर शुद्धि करते रहें जिससे शरीर के उखड़े मल बाहर निकलते रहें) और साधना काल में होने वाले उपद्रवों से भयभीत बिल्कुल नहीं हों।

कुण्डलिनी जागृत होकर जब सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है तब प्रथम आघात मूलाधार पर होता है। यदि तब मूलबन्ध दृढ़ता से न लगा हो तो मल, मूत्र

या वीर्य निकल जाता है। भृकुटि में स्थित प्राण वायु का प्रवाह कुण्डलिनी में खिंच जाता है और प्राण व अपान का संयोग कुण्डलिनी को सुषुम्ना में चढ़ा देता है। किन्तु उस समय भूख से कुपित वह अपना मुंह फैलाए आगे बढ़ती है और सर्वप्रथम सामने मिले अपान वायु का ही भक्षण करती है। फिर समस्त वायु का भक्षण कर वहां जहां-जहां अधिक मांस होता है, वहां-वहां से मांस का भक्षण करती हुई हृदय के भी दो एक कौर खा जाती है। शरीर के किसी अंग को वह नहीं छोड़ती। हाथ-पांव के नाखूनों तक का रस चूस लेती है। त्वचा का सत्त्व चूस डालती है, हड्डियों की नालियों को चूस शिराओं के जाल को भी साफ कर डालती है। इस प्रकार कुम्भकरणी नींद से जागी यह महाशक्ति सर्वप्रथम अपनी क्षुधा को शांत करने का प्रयास करती है। परिणामत: शरीर के रोमकूप तक बन्द हो जाते हैं।

अत: तब साधक का शरीर सूखकर कृश और नीरस हो जाता है। उसका मानो सारा खून निचुड़ जाता है। कुण्डलिनी शरीर से पृथ्वी और जल तत्त्व का समस्त अंश खा जाती है। तब तृप्त होकर वह सुषुम्ना नाड़ी के पास विश्राम कर जो विष उगलती है शरीर में शेष रह गई प्राण वायु उस विष से अमृत के समान लाभान्वित होती है। उस अमृत के ही प्रभाव से प्राणवायु जीवन धारण करती है और शरीर को बाहर भीतर दोनों पार्श्वों से शीतल कर देती है और शरीर के नष्ट हुए धर्म फिर से जीवन्त होने लगते हैं।

इड़ा पिंगला मिलकर एक हो जाती हैं। उनकी तीनों गांठें खुल जाती हैं और छहों चक्रों को ढकने वाले आवरण फट जाते हैं, बुद्धि की चंचलता नष्ट हो जाती है। प्राणवायु कुण्डलिनी सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। इसी मध्य चन्द्रमा की सत्रहवीं कला के अमृत का सरोवर जो ऊपर की ओर रहता है, शनैः शनैः टेढ़ा होकर कुण्डलिनी के मुंह से लग जाता है। उस अमृत का पान कुण्डलिनी करती है और प्राणवायु के साथ वह अमृत समस्त अंगों में व्याप्त हो जाता है। तब साधक के शरीर का पोषण होता है और वह दिव्य तेज व रूप से लाभान्वित हो, आरोग्य व हल्का हो जाता है तथा विभिन्न प्रकार की सिद्धियां सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधना काल में विभिन्न व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु दवाओं के प्रयोग की अथवा घबराने की जरूरत नहीं होती। समस्त विकारों के निकल जाने पर शरीर स्वयं स्वास्थ लाभ करता है, अंगों में शिथिलता, कृशता, शरीर का सूखकर कांटा हो जाना आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं और शरीर प्राय: निष्प्राण-सा हो जाता है किन्तु अभ्यास की निरंतरता से अंततः सफलता मिलती है। सिंह को साधने के समान इसीलिए कुण्डलिनी को साधना अत्यंत दुष्कर है और असावधानी, भय या अपूर्णता से स्वयं के लिए घातक हो जाती है।

भयमोक्षण

कुण्डलिनी जागरण काल में यदि भय लगे तो विष्णु भगवान के निम्न स्वरूप का ध्यान करना चाहिए—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्॥
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगर्भिध्यान गम्यम्।
वन्दे विष्णुं भव भय हरणं, सर्वलोकैक नाथम्॥

अर्थात्—शान्त स्वरूप, शेषनागशायी, नाभि में कमल वाले, देवताओं के स्वामी, विश्व के आधार, गगन के समान व्यापक, विशाल, अनन्त और शुद्ध, निर्मल, मेघ के समान सांवले रंग वाले, शुभ अंगों से युक्त, लक्ष्मी के पति, कमल नेत्र वाले, योगियों के सदा ध्यान में रहने वाले, सम्पूर्ण विश्व के भय को हरने वाले समस्त लोगों के स्वामी श्रीविष्णु भगवान की मैं वन्दना करता हूं।

भय मुक्ति के लिए साधना से पूर्व नित्य **कुण्डलिनी देवी के कवच** का पाठ करना भी उत्तम रहता है।

योग सिद्धि/सफलता प्राप्ति के लक्षण

दिव्य गन्धों के अनुभूति होना, विचित्र एवं दिव्य दृश्य दिखाई पड़ना, प्राकृतिक रमणीय दृश्यों का दिखाई पड़ना, कभी-कभी भयानक दृश्यों का भी दिखाई पड़ना, झरने, नदी, कलरव आदि की ध्वनियों, संगीत लहरियों, वीणा, मृदंग आदि के स्वरों अथवा घंटा आदि वादों या दिव्य ध्वनियों का सुनाई पड़ना, विभिन्न प्रकाशों की अनुभूति होना आदि लक्षण योगमार्ग में/साधना काल में हों तो साधक को स्वयं को सिद्धि के निकट समझना चाहिए। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा गया है—

गगन वदने प्राप्ते ध्वनिरूत्पद्यते महान्।
घन्टा दीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः॥

अर्थात्—प्राणवायु के गगन में पहुंचने पर घंटा आदि वाद्यों की महाध्वनि उत्पन्न होती है। उस समय योगी को अपनी सिद्धि निकट जाननी चाहिए। (व्यक्तियों के अपने स्वभाव संस्कारादि के अनुसार लक्षणों में विभिन्नता भी रहती है)।

मंत्र साधना के अन्य उपाय

ललिता या भुवनेश्वरी देवी का एकाक्षण मन्त्र है—'**ह्रीं**'। त्र्यक्षरी मन्त्र हैं—'**ह्रीं ॐ ह्रीं**'। और पञ्चाक्षरी मंत्र है—'**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं ह्रीं।**' भुवनेश्वरी का एकाक्षरी मन्त्रं 'देवी प्रणव' के रूप में भी प्रसिद्ध है। इन मन्त्रों में से भी किसी एक मन्त्र का जाप कर भुवनेश्वरी उपासना की जा सकती है। मन्त्र जाप के बाद—'**भुवनेश्वरी अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र**' का पाठ करना चाहिए। और जप से पूर्व संकल्प, विनियोग, न्यास आदि पूर्व वर्णित विधि से करने चाहिए। उनके मंत्र आगे पाठकों के लाभार्थ दे रहे हैं (**रुद्रयामल तन्त्र** से)।

विनियोग

अस्य श्री भुवनेश्वरीमन्त्रस्य शक्तिर्ऋषिर्गायत्रीच्छन्दों भुवनेश्वरी देवता हकारो बीजम्, ईकारः शक्तिः रेफः कीलकं चतुर्वर्गसिद्धयर्थ जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

ऋषये नमः (शिरसि)। गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुखे)। श्रीभुवनेश्वरी देवतायै नमः (हृदये)।

हकारबीजाय नमः (गुह्ये)। ईकार शब्दाय नमः (पादयोः)। रकारकीलाय नमः (नाभौ)। विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।

करषडङ्ग न्यास

ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रं, ह्रौं, ह्रः। (इन छः बीजों से यह न्यास करना चाहिए)।

भुवनेश्वरी-अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र

(रुद्रायमल तन्त्र से उद्धृत)

विनियोग

अस्य श्रीभुवनेश्वर्यष्टोत्तरशतनामस्तोत्रस्य शक्तिर्ऋषिः गायत्रीच्छन्दः। श्री भुवनेश्वरी देवता मम चतुर्वर्गसाधनार्थ पाठे, पूजने विनियोगः।

न्यास

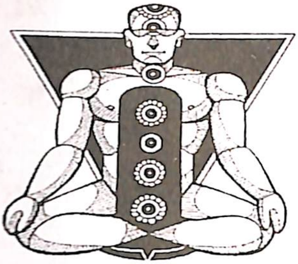
(न्यास ध्यानादि उपरोक्त वर्णित एकाक्षरी यंत्र विधि के समान ही रहेंगे)।

स्तोत्र

महामाया महाविद्या महायोगा महोत्कटा।
माहेश्वरी कुमारी च ब्रह्माणी ब्रह्मरूपिणी॥ 1॥
वागीश्वरी योगरूपा योगिनी कोटिसेविता।
जया च विजया चैव कौमारी सर्वमङ्गला॥ 2॥
हिङ्गुला च विलासी च ज्वालिनी ज्वालरूपिणी।
ईश्वरी क्रूरसंहारी कुलमार्गप्रदायिनी॥ 3॥
वैष्णवी सुभगाकारा सुकुल्याकुल पूजिता।
वामाङ्गा वामचारा च वामदेवप्रिया तथा॥ 4॥
डाकिनी योगिनीरूपा भूतेशी भूतनायिका।
पद्मावती पद्मनेत्रा प्रबुद्धा च सरस्वती॥ 5॥
भूचरी खेचरी माया मातङ्गी भुवनेश्वरी।
कान्ता पतिव्रता साक्षी सुचक्षुः कुण्डवासिनी॥ 6॥

उमा कुमारी लोकेशी सुकेशी पद्मरागिणी।
इन्द्राणी ब्रह्माचाण्डाली चण्डिका वायुवल्लभा॥ 7॥
सर्वधातृमयी मूर्तिर्जलरूपा जलोदरी।
आकाशी रणगा चैव नृकपाल-विभूषणा॥ 8॥
नर्मदा मोक्षदा चैव कामधर्मार्थदायिनी।
गायत्री चाथ सावित्री त्रिसन्ध्या तीर्थगामिनी॥ 9॥
अष्टमी नवमी चैव दशम्येकादशी तथा।
पौर्णमासी कुहूरूपा तिथिमूर्ति-स्वरूपिणी॥ 10॥
सुरारिनाशकारी च उग्ररूपा च वत्सला।
अनला अर्धमात्रा च अरुणा पीतलोचना॥ 11॥
लज्जा सरस्वती विद्या भवानी पापनाशिनी।
नाग पाशधरा मूर्तिरगाधा धृतकुण्डला॥ 12॥
क्षत्ररूपा क्षयकरी तेजस्वी शुचिस्मिता।
अव्यक्ता व्यक्तलोका च शम्भुरूपा मनस्विनी॥ 13॥
मातङ्गी मत्तमातङ्गी महादेवप्रिया सदा।
दैत्यघ्नी चैव वाराही सर्वशस्त्रामयी शुभा॥ 14॥

❑❑❑



19
योगी की चर्या व साधना में सावधानियां

योगी की चर्या

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जात वारिणा।
कट्वम्ललवण त्यागी क्षीर भोजनमाचरेत्॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्व भवेत्मिद्धो नात्र कार्यो विचारणा॥
संदिग्धो मधुराहारी चतुर्थांशिविवर्जिताः।
मुञ्चते स्वरस प्रीत्यं मिताहारी स उच्यते॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः शुभ मोक्ष प्रदायिनी।
बन्धनाय च नूढ़ानां यस्तां वेत्तिस वेदविद्॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—उक्त मुद्रा (अभ्यास) के कारण शरीर पर जो भी पसीना आए उसे शरीर पर ही मल लेना चाहिए। लवण और अम्ल रसों से युक्त भोजन न करे वरन दूध (गाय का) पीकर ही रहे। इस प्रकार अल्पभोजी तथा सर्वत्यागी व योगपराण रहे। इस प्रकार एक वर्ष से अधिक अभ्यास करने पर सिद्धि होती है। इसमें कोई विचार (संशय) नहीं करना चाहिए। सुखद, स्निग्ध, मधुर (सात्त्विक एवं सुपाच्य) आहार करें। चौथाई पेट खाली रहें। (आधा पेट भोजन से और शेष आधे का आधा बाद में पानी से भरे। चौथाई पेट खाली रखे)। भोजन से पूर्व ईष्टदेव को निवेदन करे—वह योगी मिताहारी कहलाता है। कन्द के ऊपर शुभ मोक्ष देने वाली कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वह अज्ञानियों के लिए बन्धकारी है। उसे जो जानता है वही वेदों को जानने वाला है।

योगी को साधना काल में समस्त यम, नियम व संयम का पालन करते हुए अल्प एवं सतोहारी रहना चाहिए। अपना विहार, निद्रा व आहार संतुलित रखना चाहिए। सद् संगति में रहें अथवा एकान्त में रहें तो और भी अच्छा है। सद् ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, धर्म चर्चा करें। कुसंग व कुसाहित्य से बचें। व्यसनों से दूर रहें। ब्रह्मचर्य का विशेष ध्यान रखें।

साधना काल में सावधानियां

❑ शुभ मुहूर्त आदि का विचार कर साधना आरम्भ करें, जिससे मन का उत्साह तथा विश्वास दृढ़ हो तथा विघ्न न पड़ें।

❑ मन्त्र या तन्त्र की साधनाएं रात्रि में करें। ध्यान योग की साधना करनी हो तो ब्रह्म मुहूर्त में (प्रातः सूर्योदय से पूर्व) करें।

❑ साधना के समय लंगोट धारण करें। सम्भव हो तो अन्य वस्त्र न पहनें। मात्र कोई हल्का स्वच्छ व सूती वस्त्र ओढ़ें। यदि ठण्ड हो तो वस्त्र पहनें किन्तु कम से कम। कम्बल ओढ़ा जा सकता है।

❑ आसन के लिए मृगछाला सर्वोत्तम है और जाप के लिए रुद्राक्ष की माला। किन्तु जाप में सुमेरु का उल्लंघन निषिद्ध होता है। सुमेरु आ जाने पर नेत्रों से माला लगाकर फिर माला पलट कर दुबारा जपना चाहिए और माला को मध्यमा अंगुली से भीतर को चलाएं (अंगूठे व अनामिका के आधार पर।) तर्जनी का स्पर्श माला से जाप के समय वर्जित माना जाता है।

❑ साधना का स्थान समतल, स्वच्छ, शान्त, एकान्त, हवादार तथा रमणीय होना चाहिए (प्राणायामादि के अभ्यास में तो विशेष तौर पर) धूप या अगरबत्ती आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। परन्तु देसी घी का दीपक जलाया जा सकता है। साधना से पूर्व (शंखनाद करने से, जहां तक शंख ध्वनि जाती है वहां तक वायुमंडल में कीटाणु नष्ट हो जाते हैं अतः शंखनाद करना श्रेष्ठ रहेगा)।

❑ साधना काल में किसी व्यक्ति आदि का कक्ष या उस स्थान में प्रविष्ट होना प्रारम्भ में ध्यान भंग करता है। अतः कक्ष में प्रवेश निषेध रखें अथवा निर्जन एकान्त का चुनाव करें। समय ऐसा रखें कि किसी के आने-जाने, दरवाजे या फोन की घंटी बजने, शोर कोलाहल होने अथवा अन्य व्यवधानों की सम्भावना ना के बराबर रहे।

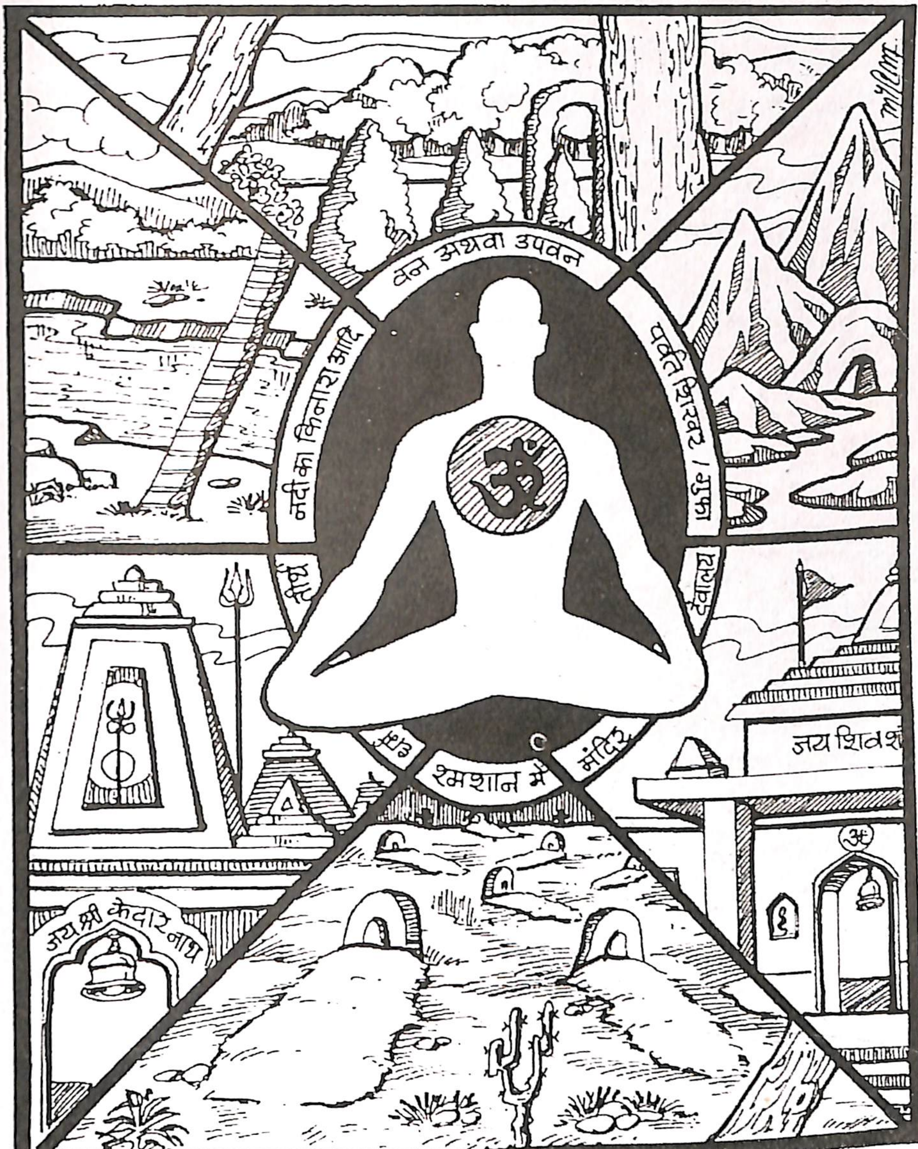
❑ भूगर्भ, सरोवर, वन, उपवन, पर्वत, नदी तट, मंदिर, तीर्थ तथा श्मशान आदि साधना के श्रेष्ठ स्थान होते हैं।

❑ दिन में जब रजोगुण प्रधान सूर्य स्वर चल रहा हो तो योग साधना न करें। रात्रि में जब तमोगुण प्रधान चन्द्र स्वर चल रहा हो तब भी योगाभ्यास न करें। दिन रात दोनों अर्थात् सूर्य व चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके—सुषुम्ना के समय योगाभ्यास करें। (अभ्यास हो जाने पर इच्छानुसार स्वर चालन की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, तब कोई दिक्कत नहीं है) जैसा कि कहा है—

दिवा न पूजये लिंग रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेलिंग दिवा रात्र निरोधः॥

—पवन विजय स्वरोदय

❑ चन्द्र स्वर में ऐसे कार्य करें जिनमें अल्पश्रम की आवश्यकता हो तथा सूर्य स्वर में कठिन या अधिक श्रम वाले कार्य करें। और जब सुषुम्ना चले तब योग



ध्यान योग्य स्थान

साधना, सात्त्विक कार्य अथवा धर्म पूजन आदि के कार्य करने चाहिएं।

❑ साधना में शुद्ध, धुले हुए वस्त्र पहनने चाहिए तथा स्नान शौचादि से शुद्ध होकर साधना करनी चाहिए।

❑ त्रिबन्धों का तथा मेरुदण्ड के सीधे रहने का विशेष रूप से ध्यान रखें किन्तु शरीर कड़े नहीं, (RELAXE)हो।

❑ सात्त्विक साधनाओं में कुशासन, रजोगुणी साधना में सूत का आसन तथा तमोगुणी साधना में ऊन का आसन श्रेष्ठ रहता है। कुण्डलिनी जागरण की साधना में चर्मासन।

❑ साधना निश्चित समय पर, नियमित रूप से, नियत स्थान पर और निश्चित विधि से ही होनी चाहिए।

❑ कुण्डलिनी साधना में पूर्व दिशा में मुख करके बैठना उचित रहता है। परन्तु रात्रि में साधना करें तो पश्चिम दिशा में मुख करके बैठें।

❑ जप के समय कंठ में ध्वनि हो, होंठ भी हिलें परन्तु पास में बैठा व्यक्ति उसे सुन न सके, इतनी ही शक्ति से उच्चारण करके मंत्र बोलने चाहिएं। परन्तु इस प्रयास से मंत्र का उच्चारण अस्पष्ट या अशुद्ध न हो।

❑ साधना काल के अपने अनुभव, मन्त्र तथा प्रक्रिया आदि को गुप्त रखना चाहिए। मात्र गुरु से ही परामर्श लेना चाहिए।

❑ विश्वास तथा श्रद्धा न टूटनी चाहिए। संकल्प, लगन, धैर्य तथा आत्मविश्वास बने रहना चाहिए।

❑ साधना काल में होने वाले अनुभवों की भयंकरता अथवा उत्पन्न होने वाली व्याधियों, कृशता या शिथिलता आदि से घबराना नहीं चाहिए। न ही साधना छोड़नी चाहिए। शनैः शनैः स्वयं ही सब कुछ ठीक हो जाता है। न ही साधना काल में होने वाले रमणीय अनुभवों में आसक्त होना चाहिए। मात्र दृष्टा बनकर उन्हें देखना चाहिए।

❑ साधना काल में अहं, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मद, मात्सर्य, काम, मोह, लिप्सा आदि से यथा सम्भव दूर रहना चाहिए।

❑ प्राप्त होने वाली उपलब्धियों अथवा सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ना ही किसी को बतानी चाहिए और न ही उनका बार-बार प्रयोग करके स्वयं देखना चाहिए और न ही उनका उपयोग (दुर अथवा सद्) करना चाहिए। अन्यथा सफलता वहीं रुक जाती है तथा प्राप्त हुई शक्तियां लुप्त होने लगती हैं। दुरुपयोग से साधक को अति भय उपस्थित हो जाता है।

❑ लेटकर, अध बैठे होकर, खड़े होकर, जैसे मर्जी और जब मर्जी वाला सहज योग 'सिद्धांत' तब तक हरगिज लागू न करें जब तक अभ्यास में परिपक्वता न हो जाए। अपितु हमारे विचार से तो इनका प्रयोग परिपक्वावस्था में भी नहीं करना ही निरापद है।

❑ एक बार कुण्डलिनी जागृत हो जाए और भय आदि कारणों के प्रभाव से पुनः वापस लौट आए तो पछतावा ही रह जाता है। आवश्यक नहीं कि वह शीघ्र ही पुनः जागृत हो। अतः अवसर बिल्कुल न चूकें।

❑ मांस, मदिरा, तम्बाकू, गांजा, सुल्फा आदि नशों, जुओं, परस्त्रीगमन आदि दुर्व्यसनों तथा आत्मा को पतित करने वाले कार्यों—झूठ, बेईमानी, दलाली, कपट आदि से साधना काल में सर्वदा दूर रहें। वैसे तो जीवन भर ही इनसे दूर रहना श्रेयस्कर होता है।

❑ योग मार्गी को प्रदर्शन, प्रचार, आत्मप्रशंसा, आडम्बर, कृत्रिमता, बनावट, दिखावा, यश पाने की इच्छा या प्रशंसा पाने की चाह, आदि से बचते हुए अपनी साधना, मंत्र तथा साधना में प्राप्त होने वाले अनुभवों, उपलब्धियों, शक्तियों व चमत्कारों को यथासम्भव गुप्त रखना चाहिए। जैसा कि समस्त अध्यात्म विषयक ग्रन्थों ने एक स्वर में स्वीकारा है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृतं न दुवृतं, वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥
गूढ़धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवक्व जडवचापि मूकबन्ध महीं चरते ॥

अर्थात्—जिसको न सन्त, न असंत, न आश्रुत, न बहुश्रुत (गुमनाम व प्रसिद्ध), न सुवृत (सज्जन), न दुर्वृत (दुर्जन) ही जानता हो (अर्थात् इनमें से कोई जिसे न जानता हो यानि जिसकी योग्यता, विद्वता, साधना व शक्तियां सभी प्रकार के लोगों से गुप्त हों) वही ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ़ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान योगी दूसरों से अज्ञात चरित रहे। अन्ध के समान, जड़ के समान और मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करे।

❑ सिद्धियों व शक्तियों की प्राप्ति के लिए विशेष चक्रों अथवा पंचमहाभूतों पर भावना सहित ध्यान किया जाता है। परन्तु सात्त्विक साधना करने वाले पाठकों को इस लम्बे तन्त्र मार्ग में न पड़कर मात्र ध्यान ही करना चाहिए। जैसा कि कहा है—'**यदि तन्नोपक्षास्यात् मोक्षाद् भ्रष्टः।**' '*योगसुधाकर*' (यदि इन सिद्धियों की आकांक्षा रही तो साधक मोक्ष पथ से भ्रष्ट हो जाएगा)। और—**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।** — *योगदर्शन*

(ये सिद्धियां समाधि में विघ्न रूप हैं। जागृत अवस्था में सिद्धियां हैं)। निरुद्देश्य साधना अधिक फलदायिनी होती है और चरम लक्ष्य तक जा पहुंचती है। निरुद्देश्य होने से उसके नियमों में थोड़ा बहुत झोल भी पड़ जाए तो चल जाता है। जबकि सोद्देश्य साधना कठोर नियम का पालन चाहती है और सिद्धि प्राप्ति तक ही प्रगति करती है। जैसा कि 'त्रिपुरा तन्त्र' में आया है—'जो देवता भोग देते हैं वे मोक्ष नहीं देते, जो मोक्ष देते हैं वे भोग नहीं देते, परन्तु कुण्डलिनी दोनों ही प्रदान करती है।'

❑ भोजन के सम्बन्ध में अवश्य सावधान रहें, क्योंकि **भोजन के स्थूल भाग का मल, मध्यम भाग का मांस व सूक्ष्म भाव का मन बनता है।** इसीलिए 'यथा अन्न तथा मन' कहते हैं। जैसा अन्न मनुष्य खाता है उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं।

❑❑❑

20

कुण्डलिनी स्तुति

('कुण्डलिनी सिद्धि मंत्र साधना' से)

ॐ नमस्ते देव देवेशि, योगीश प्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे मातः, स्वयंभू लिंग वेष्टिते॥
ॐ प्रसुप्त भुजंगाकारे सर्वदा कारण प्रिये।
काम कलान्वित देवि, ममाभीष्टं कुरुष्व च॥
ॐ आसारे घोर संसारे भव रोगात् कुलेश्वरि।
सर्वदा रक्ष मां देवि, जन्म संसार सागरात्॥
मूलोन्निद्र भुजंगराज सदृशी यान्तीं सुषुम्नान्तर,
भित्त्वाआधार समहमाशु विलसत्सौदामिनी सन्निभाम्।
व्यामोम्भोज गतेन्दु मण्डलगलद् दिव्यामृतौधै पलुतंपतिं,
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां संचिन्तयेत कुण्डलीम्॥ 1॥
हंसं नित्य मनन्त मद्व्यगुणं स्वाधारतो निर्गता,
शक्तिः कुण्डलिनी समस्त जननी हस्तेगृहीत्वा च तम्।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं,
यान्ति स्वाश्रयमर्क कोटि रुचिका ध्येया जगन्मोहिनी॥ 2॥
अव्यक्तं परबिम्बमंचित रुचिं नीत्वा शिवस्यालयं,
शक्ति कुण्डलिनी गुणत्रय व पुर्विद्युल्लता सन्निभा।
आनन्दामृत कन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्क कोटि प्रभं,
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयान वद्या गुणैः॥ 3॥
मध्ये वर्त्म समीरण द्रुयमिथस्त्रध्यद्द संक्षो भज,
शब्दस्तोममतीव्य तेजसि तडित्कोटि प्रभाभास्वराम्।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजप सिन्दूर सान्द्रारुणां,
सान्द्रानन्द सुधामयीं परशिवं प्राप्तं परां देवताम्॥ 4॥
गगनागमनेषु जा लांघिनी सा, तनुयाद योग फलानि कुण्डली।
मुदिता कुल कामधेनु रेषा, भजतां वांछित कल्पवल्लरी॥ 5॥
आधारस्थित शक्ति विन्दु निलयां नीवारशूकोयमां,
नित्यानन्दमयीं गलत्पर सुधावर्षे प्रबोधप्रदैः।

सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्ड मध्योदितां,
ध्यायेद् भास्वर बन्धु जीव रुचिरां संविन्मयी देवताम्॥ 6 ॥
हृत्पंकेरुह भानुबिम्ब निलयां विद्युल्लता मन्थरां,
बालार्कारुण तेजसा भगवती निर्भर्त्सयन्ती तमः।
नादाख्यां परमर्धचन्द्र कुटिलां संविन्मयीं शाश्वतीं,
यान्तिमक्षर रूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विण्भुं तेजसाम्॥ 7 ॥
भालेपूर्ण निशापति प्रतिभटां नीहारहारत्विषा,
सिंचन्तीम् मृतेन देवममितेना नन्दयन्ती तनुम।
वर्णानां जननी तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां,
ध्यायेत् सम्यगनाकुलेन मनसा सविन्यमयीमम्बिकाम्॥ 8 ॥
मले भाले हृदि च विल सद्वर्णरूपा सावित्री,
पीनो तुंगस्तनभरनम तन्नमध्यादेशा महेशी।
चक्रे चक्रे गलित सुधया सिक्तगात्री प्रकामं,
दद्या दद्या श्रियमविकलां वांङमयी देवतां बः॥ 9 ॥
आधारबन्ध प्रमुख क्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः
त्रिधाम बीज शिवमर्चयन्ती, शिवांगना वः शिवमातनोत्॥ 10 ॥
निजभवन निवासा दुच्चरन्ती विलासैः,
पथि-पथि कमलां चारुहासं विधाय।
तरुण तरणि कान्तिः कुण्डली देवता,
सा शिव सदन सुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः॥ 11 ॥
सिन्दूर पुञ्जनि भमिन्दु कलावतं, समानन्द पूर्णनयन त्रय शोभिवक्त्रम्
आपीनतुंग कुचनम्रमनंगतन्त्रम्, शम्भोः कलत्रममितां श्रिया मातनोतु॥ 12 ॥
वर्णैर्णविषड्दिशार विकला चक्षु विभक्तैः क्रमा,
दाद्यैः सादिभिरावृतान् क्षहयुतैः षट्चक्र मध्यानिमान।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्देवते,
भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्ते विधतां मुदम्॥ 13 ॥
आधाराद् गुणवृत्तशोभिततनुं लिंगत्रयं सत्वरं,
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मय घनानन्द प्रबोधोत्तराम्।
संक्षुब्ध ध्रुव मण्डलामृतकर प्रस्यन्द मानामृत,
स्तोत्रः कन्दलिता ममन्दतडिदाकारां शिवां भावयेत्॥ 14 ॥
मूलाधारे त्रिकोणे तरुण तरुणि भाभास्वरे विभ्रमन्तं,
कामं बालार्क कालानल जरठ कुरंगांक कोटि प्रभाभम्।
विद्युन्माला सहस्त्रद्युति रुचिरलसद्बन्धु जीवाभिरामं॥ 15 ॥

तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुट रुचिरतड़ित्पुंज भाभास्वरांगी,
मुद्गच्छन्तीं सुषुम्नामनु सरणि शिखामालातेन्दु बिम्बम्।
चिन्मात्रां सूक्ष्म रूपां जगदुदयकरीं भावनामात्र गम्यां,
मूलं सा सर्वधान्नां स्फुरति निरूपमा हुंकृतोदंचितोरः ॥ 16 ॥
नीता सा शनकैरधौमुख्र सहस्त्रारारुणाब्जोदरे,
रच्योतत्पूर्ण शशांक बिम्ब मधुनः पीयूष धारा स्त्रतिम्।
रक्तांमन्त्रमयीं निपीय च सुधानिष्यन्द रूपा विशेद्,
सूयोऽप्यात्म निकेतनं पुनरपि प्रोत्थाम पीत्वा विशेत् ॥ 17 ॥
यो अभ्यस्यनु दिनमेवमास्मनो,
अन्तर्बीजाशम् दुरितं जराप मृत्यु रोगान्।
जित्वासौ स्वयमिव मूर्ति माननंग,
संजीवेच्चिरमति नीलकेश जाल ॥ 18 ॥

कुण्डलिनी कवचम्

आनन्द भैरवी

अथ वक्ष्ये महादेव! कुण्डली कवचं शुभम्।
परमानन्दं सिद्धं सिद्ध-वृन्द निषेवितम्॥
यद्धृत्वा योगिन! सर्वे धर्माधर्म-प्रदर्शकाः।
ज्ञानिनो मानिनो धीरा विचरन्ति यथा नराः॥
सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च करस्थाः सर्वदेवताः।
एतत् कवच-पाठेन देवेन्द्रौ योगि-राड् भवेत्॥
ऋषयो योगिनः सर्वे जटिलाः कुल-भैरवाः।
प्रातः काले त्रिवारं च मध्याह्ने वार युग्मकं॥
सायाह्ने वारमेकं तु पठेत् कवचमुत्तमम्।
पाठादेव महायोगी कुण्डली-दर्शन लभेत्।

विनियोग

ॐ अस्य श्रीकुलऽकुण्डली-कवचस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः, श्रीकुल-कुण्डली देवता, सर्वाभीष्ट-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगः।

कवच

ॐ ईश्वरी जगद्धात्री ललिता सुन्दरी परा।
कुण्डली-कुल-रूपा तु पातु मां कुल चण्डिका॥
शिरो में ललिता देवी पातृग्राख्या कपोलकम्।
ब्रह्म-रन्ध्रेण पुटिता भ्रू-मध्यं पातु मे सदा॥

नेत्र-त्रयं महाकाली कालाग्नि-भक्षिका शिखां।
दन्तावलीं विशालाक्षी ओष्ठमिष्टान्न वासिनी॥
काम-बीजात्मिका विद्या अधरं पातु मे सदा।
लृ-युगस्था गण्ड-युग्मं माया-बीजा रस प्रिया॥
भुवनेशी कर्ण-युग्मं चिबुकं - कनकेश्वरी।
कपिला में गलं पातु सर्व-बीज-स्वरूपिणी॥
मातृका-वर्ण-पुटिता कुण्डली कण्ठमेव च।
हृदयं काल-पुत्री च कङ्काली पातु में मुखम्॥
भुज-युग्मं चंड-दुर्गा चण्ड-दोर्दण्डखण्डिनी।
स्कन्ध-युग्मं स्कन्द-माता कपोलं क्रोध कालिका॥
अंगुल्यग्रे कुलानन्दा श्रीविद्या नख-मण्डलम्।
कालिका भुवनेशानी पृष्ठ-देशं सदाऽवतु॥
पाश्र्व-युग्मं महा-वीरा वीरासन-धराऽभया।
पातु मां कुल-दर्भस्था नाभिमुदरमम्बिका॥
कटि देश पृष्ठ-संस्था महा-महिष-घातिनी।
लिंग स्थानं महा-मुद्रा भग-माला मनु-प्रिया॥
भगीरथ-प्रिया धूम्रा मूलाधारं गणेश्वरी।
चतुर्दलं काम-विद्या दलाग्रं मे वसुन्धरा॥
धीर्धरा धारणाख्या च ब्रह्माणी पातु में मुखम्।
मेदिनी पातु कमला वाग्देवी पूर्वगं दलं॥
छेदिनी दक्षिणे पाश्र्वे पातु चण्डा महा-तपा।
चण्ड-घण्टा सदा पातु योगिनी वारुणं दलं॥
उत्तरस्थं दलं पातु पृथिवीमिन्द्र-लालिता।
चतुष्कोणं काम-विद्या ब्रह्म विद्याष्ट कोणकं॥
अष्ट दलं सदा पातु सर्व-वाहन-वाहना॥
चतुर्भुजा सदा पातु डाकिनी कुल चञ्चला॥
मेढस्था मदनाधारा पातु मे चारु पंकजम्।
स्वयम्भू लिंगं चार्वंगी कोटराक्षी ममासनम्॥
कदम्बं बनगा पातु कदम्ब वन वासिनी।
वैष्णवी परमा माया पातु मे वैष्णवं पदम॥
षड्दलं राकिणी पातु रंगिनी काम वासिनी।
कामेश्वरी कामरूपा कृष्णं मे पीत वाससं॥
धनुः सा वन दुर्गा में शंख में शंखिनी शिवा।
चक्रं चक्रेश्वरी पातु कमलाक्षी गदां मम॥

पद्मं मे पद्म गन्धा च पद्म माला मनोहरा।
बादि लान्ताक्षरं पातु लाकिनी लोक पावनी॥
षड्दले स्थित देवांश्च पातु कैलाश वासिनी।
अग्नि वर्णा सदा पातु गलं में परमेश्वरी॥
मणिपूरं सदा पातु मणि-माला-विभूषणा।
दश पत्रं दश वर्णं डादिकान्तं त्रि-विक्रमा॥
पातु नीला महाकाली भद्रा भीमा सरस्वती।
अयोध्या वासिनी देवी महा पीठ निवासिनी॥
वाग्भवाद्या महाविद्या कुण्डली कालरूपिणी।
दशच्छद शतं पातु रुद्रं रुद्रात्मकं मम॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मतरा पातु सूक्ष्म स्थान निवासिनी।
राकिनी लोक जननी पातु कूटाक्षरान्विता॥
तैजसं पातु नियतं रजकी राज पूजिता।
विजया कुल बीजस्था तवर्ग तिमिरापहा॥
चन्द्रात्मिका मणि ग्रन्थि भेदिनी पातु सर्वदा।
भग माला भृगु सुता पातु मां नाभि वासिनी॥
नन्दिनी पातु सकलं कुण्डली काल कल्पिता।
हत् पद्मं पातु कालाख्या धूम्र वर्णा मनोहरा॥
दल द्वादश वर्णं च भास्करी भाव सिद्धिदा।
पातु में परमा विद्या कवर्ग काम चारिणी॥
चवर्गं चारु रसनां व्याघ्रास्या टंक धारिणी।
टकारं पातु कृष्णाख्या हाकिनी पातु कालिका॥
ठंकुरांगी ठकारं मे बीज भाषा महोदया।
ईश्वरं पातु विमला मम हृत पद्म वासिनी॥
कर्णिकां काल सन्दर्भा योगिनी योग मातरं।
इन्द्राणी वारुणी पातु कुल माला कुलांतरं॥
तारिणी शक्ति माता च कण्ठ वाक्यं सदाऽवतु।
विप्रचित्ता महोग्रोग्रा प्रभा दीप्ता घनामला॥
वाक् स्तम्भिनी वज्र देहा वैदेही वृष वाहिनी।
उन्मत्तानन्द चित्ता च कुलेशी सा भगातुरा॥
मम षोडश पत्राणि पातु मातृतया स्थिता।
सुरान् रक्षतु वेदज्ञा सर्वभाषा च कालिका॥
ईश्वरार्द्धासन गता प्रपायान्मे सदाशिव।
शाकम्भरी महामाया शाकिनी पातु सर्वदा॥

भवानी भव माता च पयादू भ्रूमध्य पंकजं।
द्विदलं व्रत कामाख्या अष्टांग सिद्धि दायिनी॥
पातु मामखिलानन्दा मनोरूपा जप प्रिया।
लकारं लक्षणाक्रान्ता सर्व लक्षण लक्षणा॥
कृष्णा जिन धरा देवी क्षकारं पातु सर्वदा।
द्वि दलस्थं सर्व देवं सदा पातु वरानना॥
बहुरूपा विश्वरूपा हाकिनी पातु चण्डिका।
हरा पर शिवं पातु मानसं पातु पञ्चमी॥
षट् चक्रस्था सदा पातु षट् चक्र कुल वासिनी।
अकारादि क्षकारान्ता बिन्दु सर्व समन्विता॥
मातृकार्णा सदा पातु कुण्डली ज्ञान कुण्डली।
पूर्ण काली गति प्रेता पूर्ण गिरि तटं शिवा॥
उड्डीयानेश्वरी देवी सकलं पातु सर्वदा।
कैलास पर्वतं पातु कैलास गिरि वासिनी॥
डाकिनी शाकिणी शक्तिर्लाकिनी काकिनी कला।
शाकिनी हाकिनी देवी षट् चक्रादीन् प्रपातु में॥
कैलासाख्यं सदा पातु पञ्चानन दनूद्भवा।
हिरण्या वर्णा रजनी चन्द्र सूर्याग्नि भक्षिणी॥
सहस्त्र दल पद्मं मे सदा पातु कुलाकुला।
सहस्त्र दल पद्मस्था दैवतं पातु भैरवी॥
काली तारा षोडशाख्या मातंगी पद्मवासिनी।
शशि कोटि गलद् रूपा पातु में सकलां तनुम्॥
रणे घोरे जले दोषे युद्ध वादे श्मशान के।
सर्वत्र गमने ज्ञाने सदा मां पातु शैलजा॥
पर्वते विविधाव से विनाशे पातु कुण्डली।
पापादि ब्रह्म रन्ध्रान्तं सर्वाकाशं सुरेश्वरी॥
सदा पातु सर्व विद्या सर्व ज्ञानं सदा मम।
नव लक्ष महा-विद्या दश-दिक्षु प्रपातु माम्॥

फल श्रुति

इत्येतत्-कवचं देव! कुण्डलिन्याः प्रसिद्धदं।
ये पठन्ति ध्यान-योगे योग-मार्ग-व्यवस्थिताः॥
ते यान्ति मोक्ष-पदवी मैहिके नात्र संशयः।
मूल पद्मे मनोयोगं कृत्वा हृदायसन-स्थितः॥

मन्त्री ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्म-पद्म-प्रकाशिनीं।
धर्मोदयां दयारुढ़ामाकाश-स्थान-वासिनीं॥
अमृतानन्द-रसिकां विकलां सकलां सितां।
असितां रक्त-रहितां विरक्तां रक्त विग्रहाम्॥
रक्त-नेत्रां कुल-क्षिप्तां ज्ञानाकुल-जलोज्ज्वलां।
विश्वाकारां मनोरूपां मूले ध्यात्वा प्रपूजयेत्॥
यो योगी कुरुते एव स सिद्धो नात्र संशयः।
रोगी रोगात् प्रमुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात्॥
वस्तु-प्रियमवाप्नोति वस्तु हीनं पठेद्यदि।
पुत्र-हीनो लभेत् पुत्रं योग-हीनो भवेद् वशी॥
कवचं धारयेद् यस्तु शिखायां दक्षिणे भुजे।
वामा वामकरे धृत्वा सर्वाभीष्टमवाप्नुयात्॥
स्वर्णे रौप्ये तथा ताम्रे स्थापयित्वा प्रपूजयेत्।
स भूयात् कुण्डली पुत्रो यदि ध्यानं दृढ़ भवेत्॥

(रुद्रयामल तन्त्र से)

❑❑

21

कुण्डलिनी अष्टक

(रुद्रायमलतन्त्र से)

जन्मोद्धार निरीक्षणीय तरुणी वेदाहि बीजादिमा,
नित्यं चेतसि भाव्यते भुवि कदा सद्वाक्यं संचारिणी॥
मां सा तु प्रिय दास भाव कपटं संघायते श्रीधरे,
धात्रि! त्वं स्वयमादि देव वनिता दीनाति दीनं पशुम्॥ 1॥
रक्ताभामृत चन्द्रिका लिपि मयी सर्पाकृतिर्निदिता,
जागृत कूर्म समाश्रिता भवती त्वं मां समालोकय॥
मांसोद्गन्ध कुगन्ध दोष जडितं वेदादिकार्यान्वितं,
स्वल्पान्यामल चन्द्र कोटिकिरणे नित्यं शरीरं कुरु॥ 2॥
सिद्धार्थी निज दोष वित् स्थल गतिर्व्याजीयते विद्यया
कुण्डल्याकुल मार्ग मुक्तनगरी माया कुमार्गः श्रिया।
यद्येवं भजति प्रभात समये मध्याह्न कालेऽथवा,
नित्यं यः कुल कुण्डली जप पदाम्भोजं स सिद्धो भवेत्॥ 3॥
वायव्याकाश चतुर्दलेऽति विमले वाञ्छा फलान्यालके,
नित्यं सम्प्रति नित्य देह घटिता सांकेतिता भाविता।
विद्या कुण्डलमानिनी स्वजननी माया क्रिया भावव्यते,
यैस्तैः सिद्ध कुलोद्भवैः प्रणतिभि सत् स्तोत्रकै शम्भुभिः॥ 4॥
वेधः शंकरमोहिनीं त्रिभुवनच्छायापटोद्गामिनी,
संसारादिमहाऽसुखप्रहरणी तत्र स्थिता योगिनी।
ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी स्वभुंजगा सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा,
ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी कुलकुटी-व्याघातिनी भाव्यते॥ 5॥
वन्दे श्रीकुलकुण्डलीं त्रिवलिभिः सांगैः स्वयम्भुव-प्रियां,
प्रावेष्ट्याम्बर-मार-चित्तचपलां बालाबलां निष्कलाम्।
या देवी परिभाति वेद वदना सम्भावनी तापिनी,
स्वेष्टानां शिरसि स्वयम्भु वनिता तां भावयामि क्रियाम्॥ 6॥
वाणीकोटि-मृदंगनादमदना-निःणिकोटि- ध्वनिः,
प्राणेशी रसराशिमूलकमलोल्लासैक-पूर्णानना।

आषाढोद्भव-मेघवाज-नियुत-ध्वान्तानना स्थायिनी,
माता सा परिपातु सूक्ष्मपथगा मां योगिनां शंकरी॥ 7॥
त्वामाश्रित्य नरा व्रजन्ति सहसा वैकुण्ठ-कैलासयो
रानन्दैक-विलासिनी शशिशतानन्दाननां कारणाम्।
मातः श्रीकुलकुण्डलि प्रियकरे काली-कुलोद्दीपने:,
तत्स्थानं प्रणमामि भद्रवनिते मामुद्धर त्वं पशुम्॥ 8॥

फलश्रुति

कुण्डली-शक्ति-मार्गस्थं स्तोत्राष्टक-महाफलम्।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय स वै योगी भवेद् ध्रुवम्॥
क्षणदेव हि पाठेन कवि-नाथो भवेदिह।
पावित्री कुण्डली योगी ब्राह्मणी नो भवेन्महान्॥
इति ते कथितं नाथकुण्डली-कोमलं स्तवम्।
एतत् स्तोत्र प्रसादेन देवषु गुरु गष्पितिः॥
सर्वे देवा सिद्धि युतः अस्या स्तोत्र प्रसादतः।
द्वि परार्द्धं चिरञ्जीवी ब्रह्मा सर्व सुरेश्वरः॥
त्वष्टामपि मम निकटे स्थितो भगवती पतिः।
मां विद्धि परमां शक्तिं स्थूल सूक्ष्म स्वरूपिणीम्॥
सर्व प्रकाश करणीं विन्ध्य पर्वत वासिनीम्।
हिमालय सुतां सिद्धां सिद्ध मन्त्र स्वरूपिणीम्।
सर्वभूता महा बुद्धि दायिनीं दानवा पहाम्।
स्थित्युत्पत्ति लयकरीं करुणा सागर स्थिताम्॥
ज्ञानदां वृद्धिदां ज्ञान रत्न माला कला पदाम्।
सर्व तेजः स्वरूपा भामनन्त कोटि विग्रहाम्॥
दरिद्र धनदां लक्ष्मीं नारायण मनोरमाम्।
सदा भावय शम्भो! त्वं योग नायक पण्डितः॥
कुल मार्ग स्थितो मन्त्री सिद्धिमाप्नोति निश्चितम्।
वीर भाव प्रसादेन दिव्य भावमाप्नुयात्॥
दिव्यं भावं वीर भावं ये गृह्णन्ति नरोत्तमाः।
वाञ्छा कल्पद्रुम लता पतयस्ते न संशयः॥
भाव ग्रहण मात्रेण मम ज्ञानी भवेन्नरः।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः॥

लघु स्तुति : कुण्डलिनी

मूलोन्निद्रभुजङ्गराज सदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं।
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत् सौदामिनी सन्विभाम्॥
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौधैः पतिं।
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सच्चिन्तये कुण्डलीम्॥

उद्घाटन कवच

प्रार्थना-चक्र नायिकाओं/चक्रावरणगत देवियों की, 'रुद्रायमलतंत्र'

मूलाधारे स्थिता देवि, त्रिपुरा चक्रनायिका।
नृजन्म भीति-नाशार्थं, सावधान सदाऽस्तु मे॥ 1॥
स्वाधिष्ठानाख्य चक्रस्था, देवी श्री त्रिपुरेशिनी।
पशुबुद्धिं नाशयित्वा, सर्वैश्वर्यप्रदाऽस्तु मे॥ 2॥
मणिपूरे स्थित देवी, त्रिपुरेशीति विश्रुता।
स्त्री जन्म-भीतिनाशार्थं, सावधाना सदाऽस्तु मे॥ 3॥
स्वस्तिके संस्थिता देवी, श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी।
शोक भीति-परित्रस्तं, पातु मामनद्यं सदा॥ 4॥
अनाहताख्य-निलया, श्रीमत् त्रिपुरवासिनी।
अज्ञान भीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम॥ 5॥
त्रिपुराश्रीरिति ख्याता विशुद्धारण्य स्थलस्थिता।
जरोद्भव-भयात् पातु, पावनी परमेश्वरी॥ 6॥
आज्ञा चक्रस्थिता देवी त्रिपुरामालिनी तु या।
सा मृत्युभीतितो रक्षां, विंदधातु सदा मम॥ 7॥
ललाट-पद्म-संस्थाना, सिद्धा या त्रिपुरादिका।
सा पातु पुण्यसम्भूतिर्भीति संद्यात् सुरेश्वरी॥ 8॥
त्रिपुराम्बेति विख्याता, शिरः पद्मे सुसंस्थिता।
सा पाप भीतितो रक्षां, विदधात सदा मम॥ 9॥
ये पराम्बापदस्थान गमने विघ्न सम्ययाः।
तेभ्यो रक्षतु योगेशी, सुन्दरी सकलार्तिहा॥ 10॥

विशेष

(**यदि चक्र साधनाएं करनी हैं तो 'कुण्डलिनी कवच' से पूर्व इस 'उद्घाटन कवच' को अवश्य करें।** क्योंकि इसमें चक्रों की देवियों से प्रार्थना की गई है।) जैसा कि पहले कह आए हैं, बहुत से ग्रन्थों में चक्रों की संख्या 8, बहुतों में 9, बहुतों में 10 मानी गई है। तथापि प्रमुख चक्र 7 ही हैं। सम्भवतः सात चक्रों के बीच पड़ने वाली तीन ग्रन्थियों को ही बहुत से विद्वानों ने चक्र माना है अथवा

प्रमुख चक्रों के अलावा जो अन्य छुटपुट चक्र हैं उन्हें भी मुख्य की गिनती में ही माना है। बहरहाल—यहां 10 चक्रों के गणित से उनकी दस देवियों से प्रार्थना की है। इस दृष्टि से दस चक्र उनकी दस देवियां तथा उनके भय (जिनका वे नाश करती हैं) इस प्रकार हैं—

चक्र	चक्रनायिका/देवी	भय
मूलाधार चक्र	त्रिपुरा	नृजन्म
स्वाधिष्ठान चक्र	त्रिपुरेशिनी	पशुबुद्धि
मणिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी	स्त्रीजन्म
स्वास्तिक चक्र	त्रिपुरसुन्दरी	शोक
अनाहत चक्र	त्रिपुरवासिनी	अज्ञान
विशुद्ध चक्र	त्रिपुराश्री	ज़रा (बुढ़ापा)
आज्ञा चक्र	त्रिपुरामालिनी	मृत्यु
ललाटपद्म चक्र	त्रिपुरासिद्धा	भीतिसंघ
सहस्रार चक्र	त्रिपुराम्बा	पाप
बिन्दु चक्र	सुन्दरी योगेशी	विघ्न

(भुवनेश्वरी, ललिता, त्रिपुर सुन्दरी आदि कुण्डलिनी देवी के ही पर्याय नाम हैं। साधक इनसे भ्रमित न हों।)

भुवनेश्वरी-अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र
('रुद्रायमल तन्त्र' से उद्धृत)

विनियोग

अस्य श्रीभुवनेश्वर्यष्टोत्तरशतनामस्तोत्रस्य शक्तिर्ऋषिः गायत्रीच्छन्दः। श्रीभुवनेश्वरीदेवता मम चतुर्वर्गसाधनार्थ पाठे। पूजने विनियोगः।

न्यास

(न्यास ध्यानादि उपरोक्त वर्णित एकाक्षरी मंत्र विधि के समान ही रहेंगे)।

स्तोत्र

महामाया महाविद्या महायोगा महोत्कटा।
महोश्वरी कुमारी च ब्रह्माणी ब्रह्माणी ब्रह्मारूपिणी॥ 1॥
वागीश्वरी योगरूपा योगिनी कोटिसेविता।
जया च विजया चैव कौमारी सर्वमङ्गला॥ 2॥
हिङ्गुला च विलासी च ज्वालिनी ज्वालरूपिणी।
ईश्वरी क्रूरसंहारी कुलमार्ग प्रदायिनी॥ 3॥

वैष्णवी सुभगाकारा सुकुल्याकुलपूजिता।
वामाङ्गा वामचारा च वामदेवप्रिया तथा ॥ 4 ॥
डाकिनी योगिनीरूपा भूतेशी भूतनायिका।
पद्मावती पद्मनेता प्रबुद्धा च सरस्वती ॥ 5 ॥
भूचरी खेचरी माया मातङ्गी भुवनेश्वरी।
कान्ता पतिव्रता साक्षी सुचक्षुः कुण्डवासिनी ॥ 6 ॥
उमा कुमारी लोकेशी सुकेशी पद्मरागिणी।
इन्द्राणी ब्रह्माचाण्डाली चण्डिका वायुवल्लभा ॥ 6 ॥
सर्वधातृमयी मूर्तिर्जलरूपा जलोदरी।
आकाशी रणगा चैव नृकपाल-विभूषणा ॥ 7 ॥
नर्मदा मोक्षदा चैव कामधर्मार्थदायिनी।
गायत्री चाथ सावित्री त्रिसन्ध्या तीर्थगामिनी ॥ 9 ॥
पौर्णमासी कुहूरूपा तिथिमूर्ति-स्वरूपिणी ॥ 10 ॥
सुरारिनाशकारी च उग्ररूपा च वत्सला।
अनला मर्धमात्रा च अरूणा पतिलोचना ॥ 11 ॥
लज्जा सरस्वती विद्या भवानी पापनाशिनी।
नागपाशधरा मूर्तिरगाधा धृतकुण्डला ॥ 12 ॥
क्षत्ररूपा क्षयकरी तेजस्विनी शुचिस्मिता।
अव्यक्ता व्यक्तलोका च शम्भुरूपा मनस्विनी ॥ 13 ॥
मातङ्गी मत्तमातङ्गी महादेवप्रिया सदा।
दैत्यघ्नी चैव वाराही सर्वशस्त्रमयी शुभा ॥ 14 ॥

सिद्धकुञ्जिकास्तोत्र

(शीघ्र मन्त्रसिद्धि के लिए 'रुद्रयामल तन्त्र' से)

अथ मन्त्र

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ॥ ॐ ग्लौं हुं क्लीं जूँ सः ज्वालय ज्वालय ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल
ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ज्वल हं सं लं क्षं फट् स्वाहा।

इतिमन्त्र

नमस्ते रुद्ररूपिण्यै नमस्ते मधुमर्दिनि।
नमः कैटभहारिण्यै नमस्ते महिषार्दिनि ॥ 1 ॥
नमस्ते शुम्भहन्त्र्यै च निशुम्भासुरघातिनि ॥ 2 ॥
जाग्रतं हि महादेवि जपंसिद्धंकुरुष्व मे।
ऐंकारी सृष्टिरूपायै ह्रींकारी प्रतिपालिका ॥ 3 ॥

क्लींकारी कामरूपिण्यै बीजरूपे नमोऽस्तु ते।
चामुण्डा चण्डघाती च यैकारी वरदायिनी॥ 4॥
विच्चे चाभयदा नित्यं नमस्ते मन्त्ररूपिणी॥ 5॥
धां धीं धूं धूर्जटेः पत्नी (वां वीं वूं)वां वीं वूं वाग्धीश्वरी।
क्रां क्रीं क्रूं कालिका देवि शां शीं शूं में शुभं कुरु॥ 6॥
हुं हुं हुंकाररूपिण्यै जं जं जं जम्भनादिनी।
भ्रां भ्रीं भ्रूं भैरवी भद्रे भवान्यै ते नमो नमः॥ 7॥
अं कं चं टं तं पं यं शं वीं दूं ऐं वीं हं क्षं
धिजाग्रं धिजाग्रं त्रोटय त्रोटय दीप्तं कुरु कुरु स्वाहा।
पां पीं पूं पार्वती पूर्णा खां खीं खूं खेचरी तथा॥ 8॥
सां सीं सूं सप्तशती देव्या मन्त्रसिद्धिं कुरुष्व मे।
इदं तु कुञ्जिकास्तोत्रं मन्त्र जागर्तिहेतवे।
अभक्ते नैव दातव्यं गोपितं रक्ष पार्वति॥
यस्तु कुञ्जिकया देवि हीनां सप्तशतीं पठेत्।
न तस्य जायते सिद्धिरण्ये रोदनं यथा॥

(शिव पार्वती संवाद)

श्री कुण्डलिनी सहस्त्रनाम स्तोत्र

(रुद्रायमल तन्त्र से)

विनियोग

अस्य श्रीमहाकुण्डली-साष्टोत्तरशत-सहस्त्रनाम स्तोत्रस्य ब्रह्मा-ऋषिः, जगती छन्दः, भवगती श्रीमहाकुण्डली देवता, सर्व योग-समृद्धि-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास

श्रीब्रह्मर्षये नमः शिरसि। जगती-छन्दसे नमः मुखे। भगवती श्रीमहा-कुण्डलिनी-देवतायै नमः हृदि। सर्व-योग-समृद्धि-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

(विनियोग एवं न्यास आदि की विधियां पूर्ववत ही रहेंगी। मन्त्र बदल जाएंगे, जो कि ऊपर दे दिए गए हैं। इसके बाद कुण्डलिनी देवी का हृदय में ध्यान करते हुए निम्नलिखित स्तोत्र का पाठ करें)।

स्तोत्र

कुलेश्वरी कुलानन्दा कुलीना कुल-कुण्डली,
श्रीमन्महा-कुण्डली च कुल-कन्या कुल-प्रिया॥ 1॥

कुल-क्षेत्र-स्थिरता कौलो कुलीनार्थ-प्रकाशिनी,
कुलाया कुल-मार्गस्था कुल-शास्त्रार्थ-पातिनी ॥ 2 ॥
कुलज्ञा कुल-योग्या च कुल-पुष्प-प्रकाशिनी,
सुकुलीना कुलाध्यक्षा कुल-चन्दन-लेपितां ॥ 3 ॥
कुल-गर्भासना कुल्ला कुलच्छात्रा कुलात्मजा,
कुलीना नाग-ललिता कुण्डली कुल-पण्डिता ॥ 4 ॥
कुल-द्रव्य-प्रिया कौला कलि-कन्या कुलान्तरा,
कुल-काली कुलामोदा कुलशब्दोत्भवाकुला ॥ 5 ॥
कुल-रूपा कुलोदभूता कुल-कुण्डलिवासिनी,
कुलाभिन्ना कुलात्पन्ना कुलाचार-विनोदिनी ॥ 6 ॥
कुल-दृक्ष-समुद्भूता कुल-माला कुल-प्रभा,
कुलज्ञा कुल-मध्यस्था कुल-कङ्कण-शोभिता ॥ 7 ॥
कुलोत्तरा कौल-पूजा कुलालापा कुल-क्रिया,
कुल-भेदा कुल-प्राणा कुल-देवी कुल-स्तुतिः ॥ 8 ॥
कौलिका कालिका काल्या कलि-भिन्ना कलाकला,
कलि-कल्मष-हन्त्री च कलि-दोष-विनाशिनी ॥ 9 ॥
कङ्काली केवलानन्दा कालज्ञा काल-धारिणी,
कौतुकी कौमुदी केका काका काक-लयान्तरा ॥ 10 ॥
कोमलांगी करालास्या कन्द-पूज्या च कोमला,
कैशोरी काक-पुच्छस्था कम्बलासन-वासिनी ॥ 11 ॥
कैकेयी-पूजिता कोला कोल-पुत्री कपिध्वजा,
कमला कमलाक्षी च कम्बलाश्वतर-प्रिया ॥ 12 ॥
कलिका-भंग-दोषस्था कालज्ञा काल-कुण्डली,
काव्यदा कविता-वाणी काल-सन्दर्भ-भेदिनी ॥ 13 ।
कुमारी करुणाकारा कुरु-सैन्य-विनाशिनी,
कान्ता कुलागता कामा कामिनी काम-नाशिनी ॥ 14 ॥
कामोद्भवा काम-कन्या केवला काल-घातिनी,
कैलास-शिखरारूढा कैलास-पति-सेविता ॥ 15 ॥
कैलाश-नाथ-नमिता केयूर-हार-मण्डिता,
कन्दर्पा कठिनानन्दा कुलगा कीच-कृत्यहा ॥ 16 ॥
कमलास्या कटोरा च कीट-रूपा कटि-स्थिता,
कन्देश्वरी कंद-रूपा कौलिका कंद-वासिनी ॥ 17 ॥
कटकस्था काम-बीजा कृच्छाकृच्छगुणोदया,
कृच्छानन्दा कृच्छ-पूज्या कृच्छहा कृच्छ रक्षिका ॥ 18 ॥

कारणांगी कृच्छ-वर्णा कीलिता कोकिल-स्वरा,
कांची-पीठ-स्थिता कांची काम-रूप-निवासनी॥ 19॥
कूटास्था कूट-भक्षा च काल-कूट विनाशिनी,
कामाख्या कमला काम्या कामराज-तनूद्भवा॥ 20॥
कामरूप-धरा कम्रा कमनीया कवि-प्रिया,
कञ्जानना कञ्ज-हस्ता कञ्च-पत्रायतेक्षणा॥ 21॥
काकिनी कामरूपस्था कामरूप-प्रकाशिनी,
कोला-विध्वंसिनी कङ्का कलङ्कार्क-कलङ्किनी॥ 22॥
महाकुल-नदी कर्णा कर्ण-काण्ड-विमोहिनी,
काण्डस्था काण्ड-करुणा कर्मकस्था कुटुम्बिनी॥ 23॥
कमलाभा कल्मा कल्ला करुणा करुणामयी,
करुणेशी करा-कर्त्री कर्तृ-हस्ता कलोदया॥ 24॥
कारुण्य-सागरोद्भूता कारुण्य-सिंधु-वासिनी,
कार्तिकेशी कार्तिकस्था कार्तिक-प्राण-पालिनी॥ 25॥
करुणा-निधि-पूज्या च करणीया क्रिया कला,
कल्पस्था कल्प-निलया कल्पातीता च कल्पिता॥ 26॥
कुलपा कुल-विज्ञाना कर्पिणी काल-रात्रिका,
कैवल्या कोकरस्था कल-मंजीर-रञ्जिनी॥ 27॥
कलयन्ती काल-जिह्वा किंकरासन-कारिणी,
कुमुदा कुशलानन्दा कौशल्याकाश-वासिनी॥ 28॥
कसापहास-हन्त्री च कैवल्य-गुण-सम्भवा,
एकाकिनी अर्क-रूपा कुवला कर्कट-स्थिता॥ 29॥
कर्कोटका कोष्ठ-रूपा कूट-वह्नि-कर-स्थिता,
कूजन्ती मधुर-ध्वानं कामयन्ती सुलक्षणा॥ 30॥
केतकी-कुसुमानन्दा केतकी-पुष्प-मण्डिता,
कर्पूर-पूर-रुचिरा कर्पूर-भक्षण-प्रिया॥ 31॥
कपाल-पात्र-हस्ता च कपाल चन्द्र धारिणी,
कामधेनु स्वरूपा च कामधेनुः क्रियान्विता॥ 32॥
कश्यपी काश्यपा कुन्ती केशान्ता केश मोहिनी,
काल कर्त्री कूप कर्त्री कुलपा काम चारिणी॥ 33॥
कुंकुमाभा कज्जलस्था कमिता कोप घातिनी,
केलिस्था केलि कलिता कोपना कर्पट स्थिता॥ 34॥
कालातीता कालविद्या कालात्म-पुरुषोद्भवा,
कष्टस्था कष्ट कुष्ठस्या कुष्ठहा कष्टहा कुशा॥ 35॥

कलिका स्फुट कर्त्री च काम्बोजा कामला कुला,
कुशलाख्या काक कुष्ठा कर्मस्था कूर्म मध्यगा॥ 36॥
कुण्डलाकार चक्रस्था कुण्ड गोलोद्भवा कफा,
कपित्थाग्र वसाकाशा कपित्थरोध कारिणी॥ 37॥
काहोड़ी, काहड़ा, काड़ा कंकला भाषकारिणी,
कनका कनकाभा च कनकाद्रि निवासिनी॥ 38॥
कार्पास यज्ञ सूत्रस्था कूट ब्रह्मार्थ साधिनी,
कलञ्ज भक्षिणी क्रूरा पुञ्जा कपि स्थिता॥ 39॥
कपाली साधना रता कनिष्ठाकाशा वासिनी,
कुञ्जरेशी कुञ्जरस्था कुञ्जरा कुञ्जरा गतिः॥ 40॥
कुञ्जस्था कुञ्ज रमणी कुञ्ज मन्दिर वासिनी,
कुपिता कोप शून्या च कोपाकोप विवर्जिता॥ 41॥
कपिजलस्था कापिंजा कपिंजल तरुद्भवा,
कुन्ती प्रेम कथाविष्टा कुन्ती मानस पूजिता॥ 42॥
कुन्तला कुन्त हस्ता च कुल कुन्तल मोहिनी,
कान्तांघ्रि सेविका कान्त शुक्ल कोशलावती॥ 43॥
केशि हन्त्री ककुत्स्था च ककुत्स्थ वन वासिनी,
कैलास शिखरानन्दा कैलास गिरि पूजिता॥ 44॥
कीलाल निर्मलाकारा कीलाल मुग्ध कारिणी,
कुतुका कुट्टनी कुट्टा कूटनामोद कारिणी॥ 45॥
क्रौंकारी क्रौंकरी काशी कुहू शब्दास्था किरातिनी,
कूजन्ती सर्वं वचनं कारयन्ती कृताकृतं॥ 46॥
कृपा निधि स्वरूपा च कृपा सागर वासिनी,
केवलानन्दा निरता केवलानन्द कारिणी॥ 47॥
कृमिला कृमि दोषघ्नी कृपा कपट कूट्टिता,
कृशांगी क्रम भंगस्था किंकरस्था कट स्थिता॥ 48॥
कान्त रूपा कान्त रता काम रूपस्य सिद्धिदा,
काम रूप पीठ देवी काम रुपाकुंजा कुजा॥ 49॥
काम रूपा काम विद्या काम रूपादि कालिका,
काम रूप कला काम्या काम रूप कुलेश्वरी॥ 50॥
काम रूप जनानन्दा काम रूप कुशाय धीः,
काम रूप कराकाशा काम रूप तरु स्थिता॥ 51॥
कामात्मजा काम कला काम रूप विहारिणी,
काम शास्त्रार्थ मध्यस्था काम रूप क्रिया कला॥ 52॥

काम रूप महा काली काम रूप यशो मयी,
काम रूप रमानन्दा काम रूपादि कामिनी ॥ 53 ॥
कुल मूला काम रूप पद्म मध्य निवासिनी,
कृतांजलि प्रिया कृत्या देवी स्थिता कटा ॥ 54 ॥
कटका काटका कोटि कटि घण्ट विनोदिनी,
कटि स्थूल तरा काष्ठा कात्यायन सु सिद्धिदा ॥ 55 ॥
कात्यायनी काचलस्था काम चन्द्रानना कथा,
काश्मीर देश निरता काश्मीरी कृषि कर्मजा ॥ 56 ॥
कृषि कर्म स्थिता कौर्मा कूर्म पृष्ठ निवासिनी,
काल घण्टा नारद रता कल मञ्जीर मोहिनी ॥ 57 ॥
कलयन्ती शत्रु वर्गान् क्रोधयन्ती गुणागुणं,
कामयन्ती सर्व कामं काशयन्ती जगत् त्रयं ॥ 58 ॥
कौल कन्या काल कन्या कौल काल कुलेश्वरी,
कौल मन्दिर संस्था च कुल धर्म विडम्बिनी ॥ 59 ॥
कुल धर्म रताकारा कुल धर्म विनाशिनी,
कुल धर्म पण्डिता च कुल धर्म समृद्धिदा ॥ 60 ॥
कौल भोग मोक्षदा च कौल भोगेन्द्र योगिनी,
कौल कर्मा नव कुला श्वेत चम्पक मालिनी ॥ 61 ॥
कुल पुष्प माल्य कान्ता कुल पुष्प भवोद्मवा,
कौल कोल हरा करा कौल कर्म प्रिया परा ॥ 62 ॥
काशी स्थिता काश कन्या काशी चक्षु प्रिया कुशा,
काष्ठासन प्रिया काका काक पक्षक कालिका ॥ 64 ॥
कपाला कुल कर्त्री च कपाल शिखर स्थिता,
कथना कूपणा श्री दा कृपी कृपण सेविता ॥ 65 ॥
कर्म हन्त्री कर्म गता कर्माकर्म विवर्जिता,
कर्म सिद्धि रता कामी कर्म ज्ञान निवासिनी ॥ 66 ॥
कर्म धर्म सुशीला च कर्म धर्म वशंकरी,
कनकाब्ज सुनिर्माण महासिंहासन स्थिता ॥ 67 ॥
कनक ग्रन्थि माल्याद्या कनक ग्रन्थि भेदिनी,
कनकोद्भव कन्या च कनकाम्भोज वासिनी ॥ 68 ॥
काल कूटादि कूटस्था किटि शब्दान्तर स्थिता,
कंक पक्षि नाद मुखा कामधेनुद्भवा कला ॥ 69 ॥
कंकणाभा धरा कर्दा कर्मदा कर्दम स्थिता,
कर्दमस्थ जलाच्छन्ना कर्दमस्थ जन प्रिया ॥ 70 ॥

कमठस्था कार्मुकस्था कम्रस्था कंस नाशिनी,
कंस प्रिया कंस हन्त्री कंसाज्ञान करालिनी ॥ 71 ॥
काञ्चनाभा काञ्चनदा कामदा क्रमदा कदा,
कान्त भिन्ना कान्त चिंता कमलासन वासिनी ॥ 72 ॥
कमलासन सिद्धिस्था कमलासन देवता,
कुत्सिता कुत्सित रता कुत्सा शाप विवर्जिता ॥ 73 ॥
कुपुत्र रक्षिका कुल्ला कुपुत्र मानसा पहा,
कुज रक्ष करी कौजी कुब्जाख्या कुब्ज विग्रहा ॥ 74 ॥
कुनखी कूप विक्षुस्था कुकरी कुधनी कुदा,
कु-प्रिया कोकिला नन्दा कोकिला काम दायिनी ॥ 75 ॥
कु कामिनी कुबुद्धिस्था कूर्प वाहन मोहिनी,
कुलका कुल लोकस्था कुशासन सिद्धिदा ॥ 76 ॥
कौशिकी देवता कस्या कन्नाद नाद सुप्रिया,
कु सौष्ठवा कु मित्रस्था कुमित्र शत्रुं घातिनी ॥ 77 ॥
कु ज्ञान निकरा कुस्था कुजिस्था कर्जदायिनी,
ककर्जा कर्ज कारिणी कर्ज बद्ध विमोहिनी ॥ 78 ॥
कर्ज शोधन कर्त्री च कालास्त्र धारिणी सदा,
कु गतिः काल सुगतिः कलि बुद्धि विनाशिनी ॥ 79 ॥
कलि काल फलोत्पन्ना कलि पावन कारिणी,
कलि पाप हरा काली कलि सिद्धि सु सूक्ष्मदा ॥ 80 ॥
कालिदास वाक्य गता कालिदास सु सिद्धिदा,
कलि-शिक्षा-काल-शिक्षा कन्द-शिक्षा-परायणा ॥ 81 ॥
कमनीय भावरता कमनीया कमनीय सु भक्तिदा,
कर काजन-रूपा च कक्षा वाद कराकरा ॥ 82 ॥
कञ्चु-वर्णा काक-वर्णा क्रोष्टु रूपा कपामला,
कोष्ट्र नाद रता कीता कातरा कातर प्रिया ॥ 83 ॥
कातरस्था कातराज्ञा कातरानन्द कारिणी,
काश मर्द तरुद्भूता काश मर्द विभक्षिणी ॥ 84 ॥
कष्ट हानिः कष्ट दात्री कष्ट लोक विरक्ति दा,
काया गता काय सिद्धिः काया नन्द प्रकाशिनी ॥ 85 ॥
काय गन्ध हरा कुम्भा काय कुम्भा कठोरिणी,
कठोर तरु संस्था च कठोर लोक नाशिनी ॥ 86 ॥
कुमार्ग स्थापिता कुत्रा कार्पास तरु सम्भवा,
कार्पास वृक्ष सुत्रस्था कु वर्गस्था करोत्तरा ॥ 87 ॥

कर्णाट कर्ण सम्भूता कार्णाटी कर्ण पूजिता,
कर्णास्त्र रक्षिका कर्णा कर्णहा कर्ण कुण्डला ॥ 88 ॥
कुन्तलादेश नमिता कुटुम्बा कुम्भ कारिका,
कर्णास रासना कृष्टा कृष्ण हस्ताम्बुजार्जिता ॥ 89 ॥
कृष्णांगी कृष्ण देहस्था कु देशस्था कु मंगला,
क्रूर कर्म स्थिता कोरा किरात कुल कामिनी ॥ 90 ॥
काल वारि प्रिया कामा काव्य वाक्य प्रिया क्रुधा,
कंज लता कौमुदी च कुज्योत्सना कलन प्रिया ॥ 91 ॥
कलना सर्व भूतानां कपित्थ वन वासिनी,
कटु निम्ब स्थिता काख्या क वर्गाख्या का वर्गिका ॥ 92 ॥
किरातच्छेदिनी कार्या कार्य कार्य विवर्जिता,
कात्यायनादि कल्पस्था कात्यायन सुखोदया ॥ 93 ॥
कुक्षेत्रस्था कुलाविघ्ना करणादि प्रवेशिनी,
कांकाली किंकला काला कीलिता सर्व कामिनी ॥ 94 ॥
कीलितापेक्षिता कूटा कूट कुंकुम चर्चिता,
कुंकुमागन्ध निलया कुटुम्ब भवन स्थिता ॥ 95 ॥
कुंकृपा कारणानन्दा कविता रस मोहिनी,
काव्य शास्त्रानन्द रता काव्य पूजा कवीश्वरी ॥ 96 ॥
कटकादि हस्ति रथ हय दुन्दुभि शब्दिनी,
कितवा क्रूर धूर्तस्था केका शब्द निवासिनी ॥ 97 ॥
कें केवलाम्बिता केता केतकी पुष्प मोहिनी
कैं कैवल्य गुणोद्वास्या कैवल्य धन दायिनी ॥ 98 ॥
करी धनीन्द्र जननी काक्षताक्ष कलंकिनी
कुडुवान्ता कांति शांताकांक्षा पारम हंस्यगा ॥ 99 ॥
कर्त्री चित्ता कांत वित्ता कृष्णा कृषि भोजिनी
कुंकुमासक्त हृदया केयूर हार मालिनी ॥ 100 ॥
कीश्वरी केशवा कुम्भा कैशोर जन पूजिता,
कालिका मध्य निरता कोकिल स्वर गामिनी ॥ 101 ॥
कुर देह हरा कुम्बा कुडुम्बा कुर मेदिनी,
कुण्डलीश्वर संवादा कुण्डलीश्वर मध्यगा ॥ 102 ॥
काल सूक्ष्मा काल यज्ञा काल हार करी कहा,
कहलस्था कलहस्ता कलहा कलहं करी ॥ 103 ॥
कुरंगी श्री कुरंगस्था कोरंगी कुण्डलपहा,
कुल लक्ष्मीः कृष्ण बुद्धिः कृष्णा ध्यान निवासिनी ॥ 104 ॥

कुतवा काष्ठव लता कृतार्थ करणी कुसी,
कलनकस्था कःस्वरस्था कलका दोष भंगजा॥ 105॥
कुसुमाकार कमला कुसुम स्त्रग् विभूषणा,
किंजल्का कैतवाकाशा कमनीय जालोदया॥ 106॥
ककार कूट सर्वांगी ककाराम्बर मालिनी,
काल भेद करा काटा कर्प वासा ककुत्स्थला॥ 107॥
कुवासा कबरी कर्वा कूसवी कुरु पालिनी,
कुरु पृष्ठा कुरु श्रेष्ठा कुरुणां ज्ञान नाशिनी॥ 108॥
कुतूहल रता कांता कुव्याप्ता कष्ट बन्धना,
कषायण तरुस्था च कषायण रसोद्भवा॥ 109॥
कवि विद्या कुष्ट हन्त्री कुष्ठ शोक विसर्जनी,
काष्ठासन गता कार्याश्रया काश्रय कौलिका॥ 110॥
कालिका कालि संत्रस्थ कौलिक ध्यानवासिनी
क्लृप्तस्था क्लृप्त जननी क्लृप्तच्छन्ना कपिध्वजा॥ 111॥
केशवा केशवानन्दा केश्यादि दानवापहा,
केशवांगज कन्या च केशवांगज मोहिनी॥ 112॥
किशोरार्चन योग्या च किशोर देव देवता,
कांतश्री करणी कुल्या कपटाप्रिय घातिनी॥ 113॥
कुकाम जनिता कौंचा कौंचास्था कौंच वासिनी,
कूपस्था कूप बुद्धिस्था कूप माला मनोरमा॥ 114॥
कुल पुष्पाश्रया कांति क्रमदा क्रमदा क्रमा,
कुविक्रमा कुक्रमस्था कुण्डली कुण्ड देवता॥ 115॥
कौण्डिल्य नगरोद्भूता कौंडिल्य गोत्र पूजिता,
कपिराज स्थिता कापी कपि बुद्धि बलोदया॥ 116॥
कपिध्यान परा मुख्या कुव्यवस्था कुसाक्षिदा,
कुमध्यस्था कुकल्पा च कुल पंक्ति प्रकाशिनी॥ 117॥
कुल भ्रमर देहस्था कुल भ्रमर नादिनी,
कुलासंगा कुलाक्षी च कुल मत्ता कुलानिला॥ 118॥
कलि चिह्ना काल चिह्ना कण्ठ चिह्ना कवीन्द्रजा,
करीन्द्रा कमलेश श्रीः कोटि कन्दर्प दर्पहा॥ 119॥
कोटि तेजो मयी कोट्या कोटीर पद्म मालिनी,
कोटीर मोहिनी कोटिः कोटि विधूद्भवा॥ 120॥
कोटि सूर्य समानास्या कोटि कालानलोपमा,
कोटीर हार ललिता कोटि पर्वत धारिणी॥ 122॥

कुल-युग्म-धरा-देवी कुच-काम प्रकाशिनी,
कुचानन्दा कुचाच्छन्ना कुल-काठिन्य-कारिणी ॥ 123 ॥
कुच-युग्म-मोहनस्था कुच-मायातुरा-कुचा,
कुच-यौवन-सम्मोहा कुच-मर्दन-सौख्यदा ॥ 124 ॥
काचस्था काच-देहा च काच-पूर निवासिनी,
काचग्रस्था काच-पर्णा कीचक-प्राण-नाशिनी ॥ 125 ॥
कमला-लोचन-प्रेमा कोमलाक्षी-मन-प्रिया ।
कमलाक्षी कमलजा कमलास्थ्सया करालजा ॥ 126 ॥
कमलांघ्रि-द्वया काम्या कराख्या कर-मालिनी,
कर-पद्म-धरा कन्दा कन्द-बुद्धि-प्रदायिनी ॥ 127 ॥
कमलोद्भव-पुत्री च कमला-पुत्र-कामिनी,
किरन्ती किरणाच्छन्ना किरण-प्राण-वासिनी ॥ 128 ॥
काव्य-प्रदा काव्य-चित्ता काव्य-सार-प्रकाशिनी,
कलाम्बा कल्प-जननी कल्प-मेदासन-स्थिता ॥ 129 ॥
कालेच्छा काल-सारस्था काल-मरण-घातिनी,
किरण-क्रम-दीपस्था कर्मस्था क्रम-दीपिका ॥ 130 ॥
काल-लक्ष्मीः काल-चण्डा कुल-चण्डेश्वर प्रिया,
काकिनी-शक्ति-देहस्था कितवा किंत-कारिणी ॥ 131 ॥
करञ्चा कंचुका कौञ्चा काम-चंचु-पुट-स्थिता,
काकाख्या काक-शब्दस्था कालाग्नि-दहनार्थिका ॥ 132 ॥
कुचक्ष-निलया कुत्रा कुपुत्रा ऋतु-रक्षिका,
कनक-प्रतिमाकारा कर-बन्धाकृति-स्थिता ॥ 133 ॥
कृति-रूपा कृति-प्राणा कृति-क्रोध-निवारिणी,
कुक्षि-रक्षा-करा कुक्षा कुक्षि ब्रह्माण्ड-धारिणी ॥ 134 ॥
कुचि-देव-स्थिता कुक्षिः क्रिया-दक्षा क्रियातुरा,
क्रिया-निष्ठा क्रियानन्दा क्रतु-कर्मा क्रिया प्रिया ॥ 135 ॥
कुशलासव-संसक्ता कुशारि-प्राण-वल्लभा,
कुशारि-वृक्ष-मदिरा काशी-राज-वशोद्यमा ॥ 136 ॥
काशी-राज-गृहस्था च कर्तु-भातृ-गृह-स्थिता,
कर्णाभरण भूषाढ्य कण्ठ भूषा च कण्ठिका ॥ 137 ॥
कण्ठस्था-गता कण्ठा कण्ठ पद्म निवासिनी,
कण्ठ-प्रकाश-कारिणी कण्ठ-माणिक्य-मालिनी ॥ 138 ॥
कण्ठ पद्म सिद्धि करी कण्ठाकाशा निवासिनी,
कण्ठ पद्म साकिनीस्था कण्ठ षोडश पत्रिका ॥ 139 ॥

कृष्णाजिन धरा विद्या कृष्णाजिन सु-वाससी,
कुतकस्था कुखेलस्था कुण्डवालं कृताकृता ॥ 140 ॥
कल गीता काल ध्वजा कल भंग परायणा,
काली चन्द्रा कला काव्या कुचस्था कुचल प्रदा ॥ 141 ॥
कचौर घातिनी कच्छा कच्छास्था कजातना,
कञ्जा छद मुखी कञ्जा कञ्ज तुण्डा कजीवनी ॥ 142 ॥
काम राजीव खाद्यस्था कियद् हुंकार नादिनी,
कणाद यज्ञ सूत्रस्था कीलालमज्ञ संज्ञका ॥ 143 ॥
कटि हासा कपास्था कु धूम निवासनी,
कटि नाट घोर तरा कुट्टला पालि प्रिया ॥ 144 ॥
कामचाराब्ज नेत्रा च कामचोद्गार संक्रमा,
काष्ठा पर्वत सन्दाहा कष्टाकष्ट निवारिणी ॥ 145 ॥
कहोड मन्त्र सिद्धस्था काहला डिण्डिम प्रिया,
कुल डिण्डिम वाद्यस्था काम डामर सिद्धिदा ॥ 146 ॥
कुलामार मध्यस्था कुल केका निनादिनी,
कोजागर ढोल नादा कास्य वीर रण स्थिता ॥ 147 ॥
कालादि करणच्छिद्रा करुणानिधि वत्सला,
क्रतु श्री दा कृतार्थ श्रीः काल तारा कुलोत्तरा ॥ 148 ॥
कथा पूज्या कथानन्दा कथना कथन प्रिया,
कार्थ चिंता कार्थ विद्या काम मिथ्यापवादिनी ॥ 149 ॥
कदम्ब पुष्प सङ्काशा कदम्ब पुष्प मालिनी,
कादम्बरी पान तुष्टा काय दम्भा कदोद्यमा ॥ 150 ॥
कंकुले पत्र मध्यस्था कुलाधार धरा प्रिया,
कुल देव शरीरार्धा कुल धामा कला धरा ॥ 151 ॥
काम राग भूषणाढ्या कामिनीरगुण प्रिया,
कुलीन नाग हस्ता च कुलीन नाग वाहिनी ॥ 152 ॥
काम पूर स्थिता कोपा कपाली वन्दनोद्भवा,
कारागार जना पाल्या कारागार प्रपालिनी ॥ 153 ॥
क्रिया शक्ति काल पंक्तिः कर्ण पंक्तिः कफोदया,
काम फुल्लारविन्दस्था काम रूप फलाफला ॥ 154 ॥
काय फला काय फेणा कान्ता नाड़ी फलीश्वरा,
काम फेरू गौरी काय वाणी कुवीरगा ॥ 155 ॥
कबरी मणि बन्धस्था कावेरी तीर्थ संगमा,
काम भीति हरा कांता काम वाकु भ्रमातुरा ॥ 156 ॥

कवि भाव हरा भामा कमनीय भया पहा,
काम गर्भ देव माता काम कल्प लतामरा ॥ 157 ॥
कमठ प्रिय मांसादा कमठा कामठ प्रिया,
किमाकारा किमाधारा कुम्भ कार मनः स्थिता ॥ 158 ॥
काम्य यज्ञ स्थिता चण्डा काम यज्ञोपवीतिका,
काम यज्ञ सिद्ध करी काम मैथुन यामिनी ॥ 159 ॥
कामख्या यम लासस्था काल यामा कु योगिनी,
कुरु याग हतायोग्या कुरु मांस विभक्षिणी ॥ 160 ॥
कुरु रक्त प्रियाकारी किंकर प्रिय कारिणी,
कर्त्रीश्वरी कारणात्मा कवि भक्षा कवि प्रिया ॥ 161 ॥
कवि शत्रु प्रष्ठ लग्ना कैलासोपवन स्थिता,
कलि त्रिधा त्रिसिद्धिस्था कलि त्रिदिन सिद्धिदा ॥ 162 ॥
कलंक रहिता काली कलि कल्मष कामदा,
कुल-पुष्प-रंग-सूत्र-मणि-ग्रन्थि-सुशोभना ॥ 163 ॥
कम्बोज-वंग-देशस्था कुल-वासुकि-रक्षिका,
कुल-शास्त्र-क्रिया-शांतिः कुल-शांतिः कुलेश्वरी ॥ 164 ॥
कुशल-प्रतिभा काशी कुल-षट्-चक्र-भेदिनी,
कुल-षट्-पद्म-मध्यस्था कुल-षट्-पद्म-दीपिनी ॥ 165 ॥
कृष्ण-मार्जार-कोलस्था कृष्ण-मार्जार-षष्ठिका,
कुल-मार्जार-कुपिता कुल-मार्जार षोडशी ॥ 166 ॥
कालांत-कवलोत्पन्ना कपिलांतक-घातिनी,
कल-हासा कालह-श्री कहलार्था कलामला ॥ 167 ॥
कक्षप-पक्ष-रक्षा च कुक्षेत्र-पक्ष-संक्षया,
काक्ष-रक्षा-रक्षिणी च महा-मोक्ष प्रतिष्ठिता ॥ 168 ॥
अर्क-कोटि-शतच्छाया आन्वीक्षि-किंकरार्चिता,
कावेरी-तीर-भूमिस्था आग्नेयार्कास्त्र-धारिणी ॥ 169 ॥
इं किं श्रीं काम-कमला पातु कैलास-रक्षिणी,
मम श्री ईं बीज-रूपा पातु काली शिर-स्थलम् ॥ 170 ॥
अरु-स्थलाब्जं सकलं तमोल्का पातु कालिका,
उडू-मूलार्क-रमणी उष्ठोग्र कुल-मातृका ॥ 171 ॥
कृतापेक्षा कृत-मती कुङ्कारी किं-लिपि-स्थिता,
कुं-दीर्घ-स्वरा क्तृप्ता के-कैलास-करार्चिका ॥ 172 ॥
कैशोरी कैं करी कैं कें वीजाख्या नेत्र-युग्मकं,
कोमा-मतंग-यजिता कौशल्यादि-कुमारिका ॥ 173 ॥

पातु में कर्ण-युग्मं तु क्रौं क्रौं जीव-करालिनी,
गण्ड-युग्मं सदा पातु कुण्डली-स्वांक-वासिनी ॥ 174 ॥
अर्क-कोटि-शताभासा अक्षराक्षर-मालिनी,
आशुतोष-करी हस्ता कुल-देवी निरञ्जना ॥ 175 ॥
पातु मे कुल-पुष्पाढ्या पृष्ठ-देशं सुकृत-तमा,
कुमारी कामना-पूर्ण पार्श्व-देशं सदावतु ॥ 176 ॥
देवी कामाख्यका देवी पातु प्रत्यंगिरा कटिं,
कटिस्थ देवता पातु लिंग मूलं सदा मम ॥ 177 ॥
गुह्य देशं काकिनी मे लिंगाधः कुल सिंहिका,
कुल नागेश्वरी पातु नितम्ब देशमुत्तमं ॥ 178 ॥
कंकाल मालिनी देवी मे पातु चोरु मूलकं,
जंघा युग्मं सदा कीर्तिः चक्रापहारिणी ॥ 179 ॥
पाद युग्मं पाक संस्था पाक शासन रक्षिका,
कुलाल चक्र भ्रमरा पातु पादांगुलीर्मम ॥ 180 ॥
नखाग्राणि दश विद्या तथा हस्त द्वयस्य च,
विशं रूपा काललाक्षा सर्वदा परि रक्षतु ॥ 181 ॥
कुलच्छत्राधार रूपा कुल मण्डल गोपिता,
कुल कुण्डलिनी माता कुल पण्डित मण्डिता ॥ 182 ॥
काकानना काक तुण्डी काकायुः प्रखरार्कजा,
काम ज्वरा काक जिह्वा कपि क्रोधासन स्थिता ॥ 183 ॥
कपि ध्वजा कपि क्रोशा कपि वाला कपि स्वरा,
काल कांची विंशतिस्था सदा विंश नखाग्रहं ॥ 184 ॥
पातु देवी काल रूपा कलि काल फलालया,
वाते वा पर्वते वापि शून्यागारे चतुष्पथे ॥ 185 ॥
कुलेन्द्र समयाचारा कुलाचार जन प्रिया,
कुल पर्वता संस्था च कुल कैलास वासिनी ॥ 186 ॥
महा दावानले पातु कुमार्गे कुत्सिता ग्रहे,
राज्ञोऽप्रिये राज वश्ये महा शत्रु विनाशने ॥ 187 ॥
कलि काल महालक्ष्मीः क्रिया लक्ष्मीः कुलाम्बरा,
कवीन्द्र कीलिता कीला कीलाल स्वर्ग वासिनी ॥ 188 ॥
दश दिक्षु सदा पातु इन्द्रादि दश लोकपा,
नवच्छिन्नै सदा पातु सूर्यादिक नव ग्रहाः ॥ 189 ॥
पातु मां कुल मांसाढ्या कुल पद्म निवासिनी,
कुल द्रव्य प्रिया मध्या षोडशी भुवनेश्वरी ॥ 190 ॥

विद्या वादे विवादे च मत्त-काले महा भये,
दुर्भिक्षादि भये चैव व्याधि संकर पीड़िते॥ 191 ॥
काली कुल्ला कपाली च कामाख्या काम चारिणी,
सदा मां कुल संसर्गे पातु कौले सु संगता॥ 192 ॥
सर्वत्र सर्व देशे च कुल रूपा सदावतु,
इत्येतत् कथितं नाथं! मातः प्रसाद हेतुना॥ 193 ॥
अष्टोत्तर शतं नाम सहस्त्रं कुण्डली प्रियं,
कुल कुण्डलिनी देव्याः सर्व मन्त्र सुसिद्धये॥ 194 ॥

फलश्रुति

सर्व देव मनूनां च चैतन्याय सु सिद्धये।
अणिमाद्यष्ट सिद्धयर्थ साधकानां हिताय च॥
ब्राह्मणाय प्रदातव्यं कुल द्रव्य पराय च।
अकुलीनेऽब्राह्मणे च न देयः कुण्डली स्तवः॥
प्रवृत्ते कुण्डली चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा पृथक् पृथक्॥
कुलीनाय प्रदातव्यं साधकाय विशेषतः।
दानादेव हि सिद्धिः स्यान्ममाज्ञा बल हेतुना॥
मम क्रियायां यः तिष्ठेत् स मे पुत्रो न संशयः।
स आयाति मम पदं जीवन्मुक्त स मानवः॥
आसवेन स मांसानि कुल वह्नौ महा निशि।
नाम प्रत्येक मुच्चार्य जुहुयात् काय सिद्धये॥
पञ्चाचार रतो भूत्वा ऊर्ध्व रेता भवेद् यतिः।
संवत्सरान्मम स्थाने आयाति नात्र संशयः॥
ऐहिके कार्य सिद्धिः स्यात् दैहिके सर्व सिद्धिदः।
वशी भूत्वा त्रि मार्गस्थाः स्वर्ग भूतल वासिनः॥
अस्य भूत्याः प्रभवन्ति इन्द्रादि लोक पालकाः।
स एव योगी परमो यस्यार्थेऽयं सु-निश्चलः॥
यो लोकः प्रजपत्येवं स शिवो न च मानुषः।
सा समाधि गतो नित्यो ध्यानस्थो योगि वल्लभः।
चतुर्व्यूह गतो देवः सहसा नात्र संशयः।
यः प्रधारयते भक्त्या कण्ठे वा मस्तके भुजे॥
स भवेत् कालिका पुत्रो विद्या नाथः स्वयं भुवि।
धनेशः पुत्रवान् योग यतीशः सर्वगो भवेत्॥
यदि पठति मनुष्यो मानुषी वा महत्या।
सकल धन जनेशी पुत्रिणी जीव वत्सा॥

कुल पतिरिह लोके स्वर्ग मोक्षैक हेतुः।
स भवति भव नाथो योगिनी कल्लभेराः॥
पठति य इह नित्यं भक्ति भवेन मर्त्यो।
हरणमणि करोति प्राण विप्राण योगः॥
स्तवन पठन पुण्यं कोटि जन्माद्य नाशं।
कथितुमपि न शक्तोऽहं महा मांस भक्षा॥

दत्तात्रेय स्तोत्र

(योग सिद्धि तथा विघ्न निवारण के लिए देवर्षि नारद कृत)

जगदुत्पत्तिकत्रै च स्थिति संहार हेतवे।
भवपाशविमुक्ताय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 1॥
जराजन्म विनाशाय देहशुद्धिकराय च।
दिगंबर दयामूर्ति दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 2॥
कपूरकान्तिदेहाय ब्रह्ममूर्तिधराय च।
देवशात्रपरिज्ञाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 3॥
ह्रस्वदीर्घ कृशस्थूल नाम गोत्र विवर्जितः।
पंचभूतैकदीप्ताय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 4॥
यज्ञभेक्त्रे च यज्ञाय यज्ञरूपाय तथा चूं वै।
यज्ञ प्रियाम सिद्धाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 5॥
आद्यो ब्रह्मा मध्ये विष्णुरंते देव सदाशिवः।
मूर्तिमय स्वरूपाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 6॥
भोगलयाय भोगाय भोगयोग्याय धारिणे।
जितेंद्रिय जितज्ञाय दत्तात्रेय नमोऽस्तु॥ 7॥
दिगंवराय दिव्याय दिव्यरूपधराय च।
सदोदित परब्रह्म दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 8॥
भिक्षाटनं गृहे ग्राम पात्रं हेममयं करे।
नाना स्वादमयी भिक्षा दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 9॥

रुद्रमृत्युञ्जय स्तोत्र

आनन्द भैरव के आग्रह पर यह स्तोत्र आनन्द भैरवी ने प्रकट किया था। साधना मार्ग में रोगमुक्त रहने के लिए इसका नित्यपाठ एक प्रबल सम्बल हो यह 'रुद्रयामल तन्त्र' से लिया गया है। इसके नित्य पाठ से योग साधना में रोग, विकार नहीं सताते। यदि मणिपूरक चक्र में कुम्भक कर इस स्तोत्र का पाठ किया जाए तो साधक जीवनमुक्त हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। इस स्तोत्र में सुख व मोक्ष के लिए शिव की स्तुति की गई है।

विशेष

लेकिन केवल मन्त्र पाठ ही सफलता के लिए काफी नहीं होते, यम, नियम, संयम द्वारा पात्रता का उत्पन्न कर लेना आवश्यक होता है। दुर्भावनाएं, तामसिक वृत्ति और अशुद्धि या विकार सदैव साधना में घातक होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ परिग्रहात्।
परस्त्रीभिर्मनोदग्धं मन्त्रसिद्धिः कथं भवेत्॥

पराये अन्न को ग्रहण करने/अनधिकार चेष्टा द्वारा छीन या हड़प लेने से जीभ जल जाती है। पराये (धन आदि) को उठा लेने पर हाथ जल जाता है। पराई स्त्री पर कुदृष्टि रखने से मन जलता है, फिर मंत्र सिद्धि (ऐसे लोगों के लिए) कैसे संभव है।

स्तोत्र पाठ

ॐ भजामि शम्भु सुखमोक्षहेतुं रुद्र महाशक्ति समाकुलाङ्गम्।
रौद्रात्मकं चारु हिमांशुशेखर कालं गणेशसुमुखाय शंकरम्॥ 1॥
मृत्युञ्जययं जीवनरक्षकं परं शिवं परब्रह्माशरीरमंगलम्।
हिमांशु कोटिच्छविमादधानं भजासि पद्मद्वयमध्यसंस्थितम॥ 2॥
सर्वात्मकं कामविनाशमूलं तं चन्द्रचूडं मणिपूरवासिनम्।
चतुर्भुजं ज्ञानसमुद्रयाठयं पाशं मृगाक्षं गुणसूताव्याप्तम्॥ 3॥
धरामयं तेजसमिन्दुकोटिं वायु जलेशं गगनात्मकं परम्।
भजामि रुद्रं कुललाकिनीगतं सर्वांगयोगं जयदं सुरेश्वरम्॥ 4॥
शुक्तं महाभीमजयं पुराणं प्राणात्मकं व्याधिविनाशमूलम्।
यज्ञात्मकं कामनिवारणं गुरूं भजामि विश्वेश्वरशंकरं शिवम्॥ 5॥
वेदागमानामतिमूलदेशं तदुद्भवं भद्रहितं परापरम्।
कालान्तकं ब्रह्मासनातमप्रियं भजामि शम्भुं गगनाधिरूढ़म्॥ 6॥
शिवागमं शब्दमयं विभाकरं भास्वत्प्रचण्डानलविग्रहं ग्रहम्।
ग्रहस्थितं ज्ञानकरं करालं भजामि शम्भु प्रकृतीश्वरं हरम्॥ 7॥
छायाकरं योगकरं सुखेन्द्रं मत्तं महामत्तकुलोत्सवाढ्यम्।
योगेश्वरं योगकलानिधिविधिं विधानवक्तारमहं भजामि॥ 8॥
हेमाचलालंकृत शुद्धवेशं वराभयादाननिदान मूलम्।
भजामि कान्तं वनमालशोभितं चामूलपद्यामलमालिनं कुलम्॥ 9॥
स्वयं पुराणं पुरूषेश्वरं गुरु मिथ्यामयाह्लादविभाविनं भजे।
भावप्रियं प्रेमकलाधरं शिवं गिरीश्वरं चारूपदारविन्दम्॥ 10॥
ध्यानप्रियं ज्ञानगभीरयोगं भाग्यास्पदं भाग्यसमं सुलक्षणम्।
शूलायुधं शूलविभूषितांगं श्रीशंकरं मोक्षफलप्रियं भजे॥ 11॥
नमो नमो रुद्रगणेभ्य एवं मृत्युञ्जयेभ्यः कुलचञ्चलेभ्यः।
शक्तिप्रियेभ्यो विजयादिभूतये शिवाय धन्याय नमो नमस्ते॥ 12॥

बाह्यं त्रिशूलं वरसुक्ष्म भावं विशालनेत्र तनुमध्यगामिनम्।
महाविपद्दु:खविनाशबीजं प्रज्ञादयाकान्तिकरं भजामि॥ 13॥
पुरान्तकं पूर्णशरीरिणं गुरु स्मरारिमाद्यं निजतर्कमार्गगम्।
अनादिदेवं दिविदोषधातिनं भजामि पञ्चाक्षरपुण्य साधनम्॥ 14॥
दिगम्बरं पद्ममुखं करस्थं स्थितिक्रियायोग नियोजनं भवम्।
भावात्मकं भद्रशरीरिणं शिवं भजामि पञ्चाननमर्कवर्णम्॥ 15॥
मायामयं पंकजदामकोमलं दिग्व्यापिनं दण्डघरं हरेश्वरम्।
त्रिपक्षकं त्र्यक्षरबीजभावं त्रिपद्ममूलं त्रिगुणं भजामि॥ 16॥
विद्याधरं वेदविधानकार्यं कायागतं नीतिनि नादतोषम्।
नित्यं चतुर्वर्गफलादिमूलं वेदादिसूत्रं प्रणमामि योगम्॥ 17॥
वेदान्तवेद्यं कुलशास्त्रविज्ञं क्रियामयं योगसुधर्मदानम्।
भक्तेश्वरं भक्तिपरायणं वरं भक्तं महाबुद्धिकरं भजाम्यहम्॥ 18॥
गतागतं गम्यमगम्यभावं समुल्लसत्कोटि कलावतं सम्।
भावात्मकं भावमयं सुखासुखं भजामि भर्ग प्रथमारूणप्रथम्॥ 19॥
बिन्दुस्वरूपं परिवादवादिन मध्याह्न सूर्यायूतं सन्निभं नवम्।
विभूतिदानं निजदानदानं दानात्मकं तं प्रणमामि देवम्॥ 20॥
कुम्भापहं शत्रुनिकुम्भघातिनं दैत्यारिमीशं कुलकामिनीशम्।
प्रीत्यान्वितं चिन्त्यमचिन्त्यं भावं प्रभाकरह्लादमहं भजामि॥ 21॥
त्रिमूर्तिमूलाय जयाय शम्भवे हिताय लोकस्य वपुर्धराय।
नमो भयच्छिन्नविद्यातिने पते नमो नमो विश्वशरीरधारिणे॥ 22॥
तपः फलाय प्रकृतिग्रहाय गुणात्मने सिद्धिकराय योगिने।
नमः प्रसिद्धाय दयातुराय, वाञ्छाफलोत्साह विवर्धनायते॥ 23॥
शिवममरमहान्तं पूर्ण योगाश्रयन्तं धरणिधर कराब्जैर्वर्धमानं त्रिसर्गम्।
विषममरणधातं मृत्युपूज्यं जनेशं विधिगणपतिसेत्यं पूजये भावयामि॥ 24॥

गणेश साधना

विशेष—कोई भी पूजा, आराधना, साधना तब तक विघ्न-बाधाओं के कारण अनिश्चित ही रहती है, जब तक कि विघ्नेश्वर गणेश की आराधना न की जाए। योगसिद्धि के लिए भी गणेश जी की प्रसन्नता अनिवार्य है। अतः हम अपने पाठकों के कल्याणार्थ छोटी-सी गणेश साधना भी दे रहे हैं। पाठक अवश्य इसका लाभ उठाएंगे।

गणपति महामन्त्र

प्रणवं कमलां लज्जां कन्दर्प मठ-बीजकम्।
शंकरं षट् शिरोमन्त्रं ततः पल्लवमुद्धरेत्॥
गणपति पश्चादृ वाच्यं वर-वरदमेव च।
सर्वजनं ततः पश्चान्मे वशमानयेति च॥

'**रुद्रायमल तन्त्र**' के अनुसार इस मन्त्र का मूलमन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लीं गं गणपतेय वर वरद सर्वजनं में वशमानय स्वाहा।**'

उपर्युक्त मन्त्र का जाप करना हो तो इसके विनियोग और न्यासादि व ध्यानादि इस प्रकार हैं—

विनियोग

ॐ अस्य श्रीमहागणपतिमन्त्रस्य गणक ऋर्षिर्निचृद्गायत्रीच्छन्दो महागणपति देंवता गं बीजं स्वाहा शक्तिः ग्लौं कीलकं सम श्रीमहागणपति-प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

गण ऋषिये नमः (शिरसि), निचृद्गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुखं) महागणपति देवतायै नमः (हृदये), गं बीजाय नमः (गुह्यं), स्वाहा शक्तये नमः (पादयोः), ग्लौं कीलकाय नमः (नाभौ), महागणपति-प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।

कर-षडङ्गन्यास (कर) प्रथम बार (षडंग) दूसरी बार

ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गां	(अंगुष्ठाभ्यां नमः)	(हृदयाय नमः)
ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गीं	(तर्जनीभ्यां नमः)	(शिरसे स्वाहा)
ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गूं	(मध्यमाभ्यां नमः)	(शिखायै वषट्)
ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गें	(अनामिकाभ्यां नमः)	(कवचाय हुम्)
ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गौं	(कंनिष्ठिकाभ्यां नमः)	(नेत्राभ्याम् वौषट्)
ॐ श्रीं ह्लीं क्लीं ग्लौं गः	(करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः)	(अस्त्राय फट्)

ध्यान

बीजापुर गदेक्षुकार्मुकरुजा-चक्राब्जपाशोत्पला,
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्न-कलश-प्रोद्यत्मकराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरयाश्लिष्टो ज्वलद्भूपया,
विश्वोत्पत्ति-विपत्ति-संस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः ॥

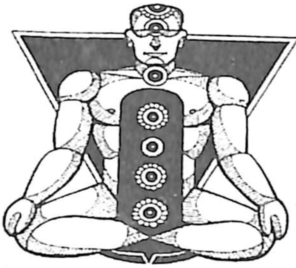
(इसके बाद मानसिक पूजन करके जाप करें।)

वैसे गणेशजी का एकाक्षरी मंत्र और बीज मंत्र 'गं' है।

गुरुकृपा

गणेशजी के साथ गुरुकृपा भी आवश्यक है। गुरु न हों तो भगवान शिव को ही गुरु मानें और '*रुद्राष्टक*' का पाठ करें। वैस '**ॐ गं गुरुभ्यौ नमः।**' गुरु प्रणाम मन्त्र हैं। जिससे संक्षिप्त गुरु पूजन हो जाता है।

❑❑❑



22

सप्तचक्रों की युक्ति संगतता

प्रमुख चक्रों की संख्या सात ही होना अधिक तर्कपूर्ण और युक्ति युक्त है। क्योंकि सृष्टि में प्रधान सत्ताओं का वर्गीकरण सप्तविभागों में ही हुआ है और **'यत्पिण्डेत्तत् ब्रह्माणे'** न्याय के अनुसार उसी सृष्टि का शरीर के भीतर होना भी सिद्ध होता है, जो शरीर से बाहर है। जैसा कि अनेक धर्म, योग एवं ज्योतिष सम्बंधित ग्रन्थों में इंगित किया गया है। **'शिव संहिता'** में तो स्पष्ट ही कहा है— **ब्रह्माण्ड सन्त के देहे यथा देशं व्यवस्थितः।** (शरीर ब्रह्मांड संज्ञक है। जो ब्रह्मांड में है, वही इस शरीर में भी स्थित है)।

उदाहरणार्थ—सृष्टि में **सात रंग** (इन्द्रधनुषीय या प्रकाश के), **सात वार** (सप्ताह के), **सात प्रमुख पर्वत** (विद्रूम, द्युतिमान, मंदराचल, हरिशैल, पुष्पवान, हिमशैल, कुशेशय) अथवा (सुमेरू, हिमवान या हिमालय, विन्ध्याचल, मन्दराचल, कैलाश) **सात समुद्र** (मार्कण्डेय पुराण के अनुसार—लवण, इक्षु, सुरा, दुग्ध, दधि, घृत एवं जल) वर्तमान व्यवहारिक दृष्टि से सात (लाल, अरब, प्रशांत, हिन्द, मृत एवं बंगाल) सागर, **सात द्वीप** (पौराणिक दृष्टि से जम्मू, प्लक्ष, श्याल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर), **सात अग्नि** (ब्रह्म, आत्म, योग, काल, सूर्य, वैश्वानर और आतप), **सात अग्नि जिह्वाएं** (काली, कराली, मनोजवा, लोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगनिी तथा विश्वरूचि—मुण्डकोपनिषद् के अनुसार) **सात हंवियज्ञ** अग्निपुराण के अनुसार (अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायण, निरुढ़), **सात चरू** (वैदिक दृष्टि से—पुरोष्टक, पार्वण, श्रावणी, अग्रहायणी, चैत्र, अश्व, युजी) **सात यज्ञ** (अग्निस्तोत्र, अष्टवक्य, षोडसी, बाजपेयक, अतिरात्र, आप्त, याम) **सात नदियां** (देवत, श्यामक, रम्भ, उद्रक, जलधर, केशर्य तथा अम्बिकेय) **सात निम्न लोक** (भूतल, सुतल, वितल, महातल, रसातल, पाताल आदि) **सात उर्ध्व लोक** (स्वर्ग, सूर्य, ब्रह्म, रुद्र, विष्णु, तप, सत्य), **गायत्री की सात व्याहृतियां तदनुसार-सप्तलोक** (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम), **सात ऋषि** (वशिष्ट, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र तथा भारद्वाज), इसी प्रकार श्रुतियों में **प्राण भी सात** कहे गए हैं। इत्यादि अनेक उदाहरणों के आधार पर शरीरस्थ प्रधान चक्रों की संख्या भी सात ही युक्ति संगत प्रतीत होती है। **विशेष तौर पर जबकि प्रत्येक चक्र सात विवरणों के साथ है। यथा—**बीज, वाहन,

अधिदेवता, दल, यन्त्र/आकृति, शब्द और रंग। अत: 8, 9, 10 अथवा 6 के स्थान पर प्रमुख चक्रों की संख्या 7 ही माना जाना तर्कपूर्ण है।

मन्त्र

'**विज्ञान भैरव**' में वर्णित धारणा–28, श्लोक–51 के अनुसार—

कालाग्नि कालेपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभा सस्तदा भवेत्॥

कालपदाद् दक्षिणपादाङ्गुष्ठाद् उत्थितेन कालाग्निना स्वकं पुरम् आत्मीयं देहमेव गुग्गुलम् "**ॐ र क्ष र य ऊं तनुं दाहयामि नमः**" इति मन्त्रोच्चारपूर्वक शरीरदाहादिचिन्तनयोगयुक्त्या आत्मभावनाया पलुष्टं विचिन्तयेन् दग्धं विभावयेत्। तदा अन्ते स योगी शान्ता भासो भवेद् अभिव्यक्तस्वात्मस्वरूप: स्यात्। 'शान्तामास: प्रजायते' इति पाठे योगिनश्चिन्मयमूर्तिमान् विभावसु: प्रकाशत इत्यर्थ: ॥'

'**ॐ र क्ष र य ऊं तनु दाहयामि नमः।**' इस मंत्र का उच्चारण करते हुए कालपद, अर्थात् दाहिने पैर के अंगूठे से उठती हुई कालाग्नि का ध्यान करके, उसकी ज्वाला से मेरा पूरा शरीर भस्म हो गया है—ऐसी भावना करें। अपने शरीर को गुग्गुल समझें। (जैसे गुग्गुल अग्नि में भस्म हो जाता है, वैसे ही अपने शरीर के कालाग्नि में भस्म हो जाने की भावना करें)। इस भावना के अभ्यास से साधक के सभी मल दग्ध हो जाते हैं और अपने शान्त स्वरूप को साधक प्राप्त कर लेता है।

श्लोक में '**पुर**' नामक श्लिष्ट पद का प्रयोग किया गया है। 'पुर' का अर्थ गुग्गुल भी होता है और यह देह का भी बोधक है। गुग्गुल जलकर जैसे वातावरण को सुगंधित करने के साथ-साथ उसे विषाक्त कीटाणुओं से मुक्त करता है, उसी प्रकार उक्त भावना का अभ्यास साधक के दोष व मलों को नष्ट कर उसे उसके शान्त स्वरूप की प्राप्ति कराता है। यानि उसके समक्ष चिन्मय मूर्तिमान, अग्नि प्रकाशित हो जाती है। जैसे 'महार्थ मंजरी' में इसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से शोष, दाह और आप्लावन प्रक्रिया के आधार पर साधक के देह को अमृतमय बना देने की बात कही गई है। यथा—

शोषा मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेद:।
आप्लावनं तनूनां ज्ञान सुधासे कनिर्मिता शुद्धि:॥

योग साधना में पंचमकार

तंत्र मार्ग में आध्यात्मिक साधनाओं में पंचमकारों का बहुत महत्व है। प्राय: अपने स्वार्थों की पूर्ति अथवा अल्पज्ञान के कारण पंचमकारों से गलत अर्थ निकाले जाते हैं। पंचमकारों में वर्णित—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन से प्राय:—मदिरा, मांसाहार, मछली खाना, शारीरिक मुद्राएं अथवा धन और मैथुन का अर्थ निकाला

जाता है। परन्तु यह इनका भावार्थ नहीं है। **'रुद्रयामल तन्त्र'** में भगवान शिव ने **'ज्ञानमार्गोक्त पंचमकार-स्तोत्र'** के अन्तर्गत इन पंचमकारों के अध्यात्मिक अर्थ देवी को उनकी जिज्ञासा करने पर बताए हैं। उसके अनुसार—

'कण्ठ में 17 कलाओं वाले चन्द्रमा से झरने वाले अमृत का पान ही सुरा/मद्य का सेवन है। शेष अन्य तो मदिरा पात्र हैं। ज्ञान की तलवार से कर्म और अकर्म रूपी पशुओं की योग यज्ञ में बलि/हनन ही मांस का अर्थ है। अन्य तो केवल मांसाहार/गोश्तखोरी है। मन रूपी मत्स्य (जो अत्यंत चपल है) का दमन करके व्यर्थ के संकल्पों को नष्ट करना ही 'मीन' का अर्थ है, अन्य नहीं। भक्ष्य, भोज्य, अन्न तथा इन्द्रियों का निग्रह ही 'मुद्रा' है। ध्यान मुद्राएं व जप मुद्राएं इनमें सहयोगिनी हैं। इनका अर्थ मात्र शारीरिक मुद्राओं से लेना अल्पज्ञता तथा काममुद्रा या धन से लेना भ्रष्टता है। 'हंस:' या 'सोऽहं' मन्त्र के आधार पर स्व को परम से संयुक्त करना अथवा शिव और शिवा का सामरस्य करना ही 'मैथुन' है। उसका अर्थ यौन क्रीड़ा से नहीं है। अत: जहां कभी भी पंचमकार के समर्पण अथवा सेवन के निर्देश दिए गए हैं। वहां पंचमकारों की आध्यात्मिकता के अनुसार उनका भावार्थ लेना चाहिए। शब्द जाल में नहीं उलझना चाहिए।'

पाठकों के लाभार्थ—'ज्ञान मार्गोक्त पंचमकार स्तोत्र' भी दिया जा रहा है—

'ज्ञानमार्गोक्त पंचमकार स्तोत्र'

('रुद्रयामल तन्त्र' से)

कला: सप्तदश प्रोक्ता अमृतं स्राव्यते शशी।
प्रथमा सा विजानीयादितरे मद्यपायिन:॥
कर्माकर्म पशून् हत्वा ज्ञानखड्गेन चैव हि।
द्वितीयं विन्दते येन इतरे मांस भक्षका:॥
मनोमीनं तृतीयं च हत्वा संकल्प-कल्पना:।
स्वरूपाकार वृत्तिश्च शुद्धं मीन तदुच्यते॥
चतुर्थ भक्ष्य भोज्यं न—भक्ष्यमिन्द्रिय-निग्रहम्।
सा चतुर्थी विजानीयादितरे भ्रष्टकारका:॥
हंस: सोऽहं शिव: शक्तिर्द्राव आनन्दनिर्माला:।
विज्ञेया पञ्चमीतीद मितरे तिर्यगामिने:॥
स द्रावश्चक्षु:-पात्रेण पूज्यते यत्र उन्मनी।
दिद्युल्लेखाशिवै केमां साध्यन्ते दैव साधका:॥
पूजकस्तन्मयानन्द: पूज्य-पूजकवर्जित:।
स्वसंवेद्य-महानन्दस्तन्मयं पूज्यते सदा॥

पंचदेवपूजन व गुरु उपासना

पंचदेव पूजा—पंचमहाभूतों की उपासना के इच्छुक अथवा पंच तत्त्वों पर अधिकार करने के इच्छुक साधकों को 'चक्र-साधना' अथवा 'तत्व साधना' के साथ 'पंचदेवोपासना' भी करनी चाहिए। वैसे तो गृहस्थों के लिए भी 'पंचदेवोपसना' सर्वापयोगी कही गई है। किन्तु 'पंचतत्व साधना' में तो विशेष रूप से। पांच देवता पांच महाभूतों के स्वामी है। (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश और सूर्य) जैसा कि कहा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशी जीवनस्य गणाधिपः॥

अर्थात्—आकाश तत्त्व के अधिपति देवता विष्णु, अग्नि तत्व की अधिष्ठात्री महेश्वरी शक्ति, वायु तत्त्व के स्वामी सूर्य, पृथ्वी तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान शिव और जल तत्त्व के अधिपति गणेश हैं।

इनमें जो ईष्ट हों अथवा जिनकी साधना की जानी हो उनको मध्य भाग में स्थापित कर शेष चार दिशाओं में अन्य प्रतिमाओं को स्थापित करना चाहिए।

गुरुपूजा—गुरु की कृपा बिना योग मार्ग में सफलता होनी असम्भव प्रायः है। सभी ग्रन्थों ने एक कंठ से इसे स्वीकार किया है। '**गुरुपाद विहीना ये, ये नश्यन्ति ममाज्ञया**' (गुरु की सेवा से विहीन मेरी आज्ञा से नष्ट हो जाते हैं)—ऐसा स्वयं भगवती भैरवी ने 'रुद्रायमल' में कहा है। इसके अतिरिक्त—

गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः।
गुरुपूजां बिना नाथ! कोटि पुण्यं वृथा भवेत्॥

अर्थात्—सभी भक्तिशास्त्रों में गुरु भक्ति से बढ़कर कोई भक्ति नहीं है। अतः हे नाथ! गुरु की पूजा किए बिना करोड़ों पुण्य भी व्यर्थ हो जाते हैं।

ऐसा भी देवी ने स्वयं कहा है, अतः गुरु पूजा के लिए कुछ मन्त्र व स्तोत्र और भी दे रहे हैं, जिनसे पाठक अवश्य ही लाभांवित होंगे—

गुरु उपासना/मंत्र व स्तोत्र

'**ॐ ऐं (नाम) आनन्दनाथाय गुरुवे नमः ॐ**' गुरु पूजा के लिए इस लघु मंत्र का जाप किया जा सकता है। गुरु गायत्री—(**ॐ वेदादिगुरुदेवाय विद्महे, परमगुरवे धीमहि, तन्नौ गुरुः प्रचोदयात्**) द्वारा भी जप कर सकते हैं। अथवा '**गुरुपादुका मंत्र**' से उपासना करें।

गुरुपूजा स्तोत्र

नमस्ते नाथ भगवन्! शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेक-विग्रह॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैक रूपिणे।

सर्वाज्ञान-तमोभेदभानवे चिद्धनाय ते॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्त-पिग्रहाय परात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे॥
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिणाम्।
प्रकाशिनां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानरूपिणे॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यामुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम्॥

अथवा '**रुद्राष्टक स्तोत्र**' का ही पाठ करें।

(अजपा-जपा-विधि)

श्वांस प्रश्वांस के साथ हंस मंत्र पर ध्यान लगाना अजपा गायत्री है। इसके अर्न्तगत श्वांस प्रक्रिया का उसे परम सत्ता के आगे समर्पण किया जाता है, तन्त्र विधि से अजपा जप की प्रक्रिया 'रुद्रयामल तन्त्र' में वर्णित है। पाठकों के लाभ के लिए उसे साविधि दे रहे हैं—

❑ मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोण यन्त्रे ऐरावत वाहने लं बीजे स्थिताय सिद्धि बुद्धि शक्ति सहिताय कुङ्कुम पर्याण महागणपतये षट्शतमजपाजपं निवेदयामि।

❑ स्वाधिष्ठाने षडदलपद्मे बं भं मं यं रं लं षडक्षरे अर्धचन्द्र-यन्त्रे मकर वाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वती शक्ति सहिताय सिन्दूर-वर्णाय ब्रह्माणे षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ मणिपूर चक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मी शक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे-षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ अनाहतचक्रे द्वादशदलपदमे कं खं गं घं ङंचं छं जं झं ञं टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्तो हरिणवाहने यं वीजे स्थिताय पार्वतीशक्ति-सहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ विशुद्धचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने हं बीजे स्थिताय प्राणशक्ति सहिताय शुद्धस्फटिकसंकाशाय जीवाय सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

❑ आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्वयक्षरे लिंगयंत्रे नर-वाहने स्थिताय ज्ञानशक्ति सहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

❑ ब्रह्मारन्ध्रे सहस्रदलपदमे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः मं खं गं घं ङंचं छ जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं—इति विंशति बारोच्चारिते सहस्राक्षरे विसर्गयन्तो बिन्दुवाहने

पूर्णचन्द्र मण्डले आनन्दमहासमुद्रमध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणि मन्दिरे कल्पवृक्षाधः स्थले अव्याकृत ब्रह्मामहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीवाय चिच्छक्ति सहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

इसके पश्चात् कुछ क्षण तक 'हंसः सोऽहम्' की श्वास-निःश्वास के साथ भावना करें। तदनन्तर शरीर के चक्रों में जिन-जिन देवताओं का ध्यानपूर्वक आवाहन किया है उनकी मानसोपचार-पूजा करें—

❑ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि। (कनिष्ठा और अंगुष्ठ मिलाकर)

❑ हं आकाशत्मकं पुष्पं समर्पयामि। (अंगुष्ठ और तर्जनी मिलाकर)

❑ यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि। (तर्जनी और अंगुष्ठ मिलाकर)

❑ रं वाह्न्यात्मकं द्वीपं दर्शयामि। (अंगुष्ठ और मध्यामा मिलाकर)

❑ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि। (अंगुष्ठ और अनामिका मिलाकर)

❑ सं सर्वात्मकान् ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (अंगुष्ठ सहित सभी अंगुलियों से)

(मणिपूर विभेदकं रुद्रस्तोत्रम्)

ॐ नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वभावन।
नमस्ते पार्वतीनाथ उमाकान्त नमोऽतु ते॥
विश्वात्मनेऽविचिन्त्याय गुणाय निर्गुणाय च।
धर्माय ज्ञानभक्षाय नमस्ते सर्वयोगिने॥
नमस्ते कालरूपाय त्रैलोक्यरक्षणाय च।
गोलोकघातकायैव चण्डेशाय नमोऽस्तु ते॥
सद्योजाताय देवाय नमस्ते शूलधारिणे।
कालान्ताय च कान्ताय चैतन्याय नमो नमः॥
कुलात्मकाय कौलाय चन्द्रशेखर ते नमः।
उमानाथ नमस्तुभ्य योगीन्द्राय नमो नमः॥
शर्वाय सर्वपूज्याय ध्यानस्थाय गुणात्मने।
पार्वती प्राणनाथाय नमस्ते परमात्मने॥

फलश्रुति

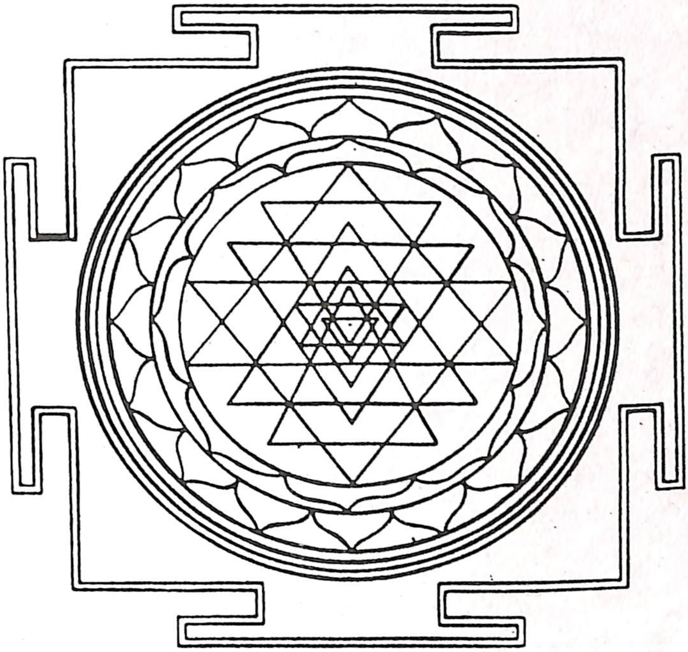
एतत्स्तोत्रं पठित्वा, स्तौति यः परमेश्वरम्।
याति रुद्रकुलस्थानं, मणिपूरं विभिद्यते॥
एतत्स्तोत्र प्रपाठेन, तुष्टो भवति शंकरः।
खेचरत्वपदं नित्यं, ददाति परमेश्वरः॥

मणिपुर चक्र में अन्य तत्वों के साथ अमृत तत्त्व की भी स्थिति मानी गई है। इस चक्र के अधिपति देवलाकिनी शक्ति के साथ स्वयं मृत्युञ्जय हैं। अतः इस चक्र

के भेदन का विशेष महत्व है। इसलिए पाठकों के लाभार्थ यहां 'मणिपूर विभेदक स्तोत्र' दिया जा रहा है।

(संक्षिप्त श्रीयन्त्र पूजा)

आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ च संकीर्त्य।
श्री गुरुं महा-गणपति भगवतीं महात्रिपुर
सुन्दरीं च प्रणस्य पूजयेत्।



श्रीयंत्र

ध्यानम्

बालार्कारूण-तेजसं त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं,
नानालंकृतिराजमानवपुणं बालोड्डुराड्-शेखराम्।
हस्तैरिक्षुधनुः सृर्णासुमशरान् पाश मुदा बिक्षतीं,
श्रीचक्र स्थितसुन्दरी त्रिजगतामाधारभूता भजे॥
इति ध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूजयेत् ततश्च—

❑ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अं आं सौः चतुरस्त्रत्रयात्मकतौलोक्यमोहनचक्राधिष्ठायै अणिमाद्यष्टार्विंशति शक्ति सहित-प्रकटयोगिनीरूपायै त्रिपुरादेत्यै नमः।

❑ ॐ त्रिवृत्तात्मकत्रि वर्ग साधक चक्राधिष्ठात्यै कालरात्र्यादिसहित मातृकायोगिनीरूपायै त्रिपुरेशिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ ऐं क्लीं सौः षोडशदलपद्मात्मकसर्वाशापरिपूरक-चक्राधिष्ठात्यै कामाकर्षिण्यादि षोडशशक्ति सहित गुप्त योगिनीरूपायै त्रिपुरेश्वरी देव्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं क्लीं सौः अष्टदल पद्मात्मक सर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यै अनङ्गकुसुमाद्यष्टशक्ति सहित गुप्ततरयोगिनी रूपायै त्रिपुरसुन्दरी-दैत्यै नमः।

❑ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हैं हक्लीं हसौः चतुर्दशारात्मक—सर्व सौर्भाय-दायक चकाधिष्ठात्र्यै सर्वसंक्षोभिण्यादि चतुर्दशशक्ति सहित सम्प्रदाय-योगिनी रूपायै-त्रिपुरावासिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ हसैं हस्क्लीं हस्सौः बहिर्दशारात्मक सर्वार्थसाधक-चक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसिद्धि प्रदादि दशशक्ति सहित—कुलोत्तीर्ण योगिनी रूपायै त्रिपुराश्री देत्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं क्लीं व्लें अन्तर्दशारात्मक सर्वरक्षाकर-चक्राधिष्ठात्र्यै सर्वज्ञादिदशशक्ति सहित—निगर्भयोगिनी रूपायै त्रिपुरमालिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं श्रीं सौः अष्टारात्मक सर्वरोग हर चक्राधिष्ठात्र्यै वशिन्याद्यष्टशक्ति सहित रहस्य योयिगनी रूपायै-त्रिपुरासिद्धादेव्यै नमः।

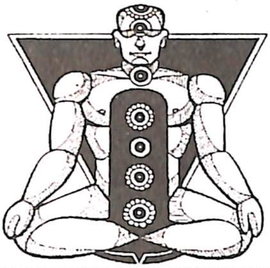
❑ ॐ हस्रैं हस्क्ल्रीं हस्रोः त्रिकोणात्मक सर्वसिद्धि प्रदचक्रा-धिष्ठात्र्यै कामेश्वर्यादि त्रिशक्तिसहितातिरहस्य योगिनी रूपायै त्रिपुराराम्बादेव्यै नमः।

❑ ॐ (मूलमन्त्रः) बिन्द्वात्मकसर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्र्यै षडङ्गायुधदशशक्ति सहित परापरातिरहस्य योगिनी रूपायै महात्रिपुर-सुन्दरी देव्यै नमः।

इसके बाद नैवेद्यादि विधि करके नित्यकर्म पूर्ण करें।

श्रीविद्या—'**दशमविद्या**' के अर्न्तगत षोडशी '**श्रीविद्या**' भी आती है। '**परशुराम कल्प,**' '**श्रीविद्यार्णव,**' '**तन्त्रराज,**' व '**षड्वानलतन्त्र**' आदि अनेकों ग्रन्थों में श्रीविद्यासाधना का विस्तृत वर्णन मिलता है, श्रीविद्या साधना का मूलाधार '**श्रीयन्त्र**' है। इसी को '**श्रीचक्र**' भी कहते हैं। यह यन्त्र—1. विन्दु, 2. त्रिकोण, 3. अष्टकोण, 4. दशकोण, 5. षटकोण, 6. चर्तुदशकोण, 7. अष्टदल, 8. षोडशदल, 9. वृत्तत्रय और 10. भुपुर से बनता है। '**रुद्रयामलतन्त्र**' में भी श्रीयन्त्र के माध्यक से शरीरस्थ चक्रों को जागृत करने का विस्तार से वर्णन मिलता है। इन प्रयोगों में एक '**उद्घाटन कवच**' है। जो पाठकों के लाभार्थ हमने दे दिया है। साथ ही '**संक्षित श्रीयन्त्र पूजा**' भी दे दी गई है। विस्तार के इच्छुक पाठकों को ऊपर बताए मूलग्रन्थ देखने चाहिएं।

❑❑



23

योगासन–समय तालिका

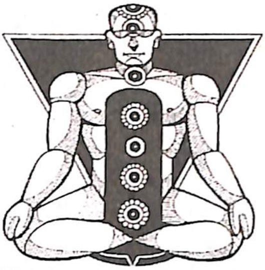
प्रमुख योगासनों को करने का आदर्श समय

1.	शीर्षासन	20 मिनट कम से कम
2.	मयूरासन	2 मिनट कम से कम
3.	हंसासन	3 मिनट कम से कम
4.	ऊर्ध्व सर्वांगासन	10 मिनट कम से कम
5.	पश्चिमोत्तानासन	10 मिनट कम से कम
6.	जानुशिरासन	10 मिनट कम से कम
7.	उत्तानपादासन	5 मिनट कम से कम
8.	पवनमुक्तासन	4 मिनट कम से कम
9.	भुजंगासन/सर्पासन	6 मिनट कम से कम
10.	शलभासन	4 मिनट कम से कम
11.	त्रिबन्धासन	5 मिनट कम से कम
12.	ताड़ासन	5 मिनट कम से कम
13.	पादहस्तासन	5 मिनट कम से कम
14.	सम्प्रसारण भू–नमनासन	5 मिनट कम से कम
15.	हृदयस्तम्भासन	3 मिनट कम से कम
16.	शीर्षपादासन	4 मिनट कम से कम
17.	हलासन (सर्वांगासन)	5 मिनट कम से कम
18.	कर्णपीड़ासन	4 मिनट कम से कम
19.	मस्तकपादांगुष्ठासन	5 मिनट कम से कम
20.	नाभ्यासन	5 मिनट कम से कम
21.	यानासन	5 मिनट कम से कम
22.	धनुरासन	5 मिनट कम से कम
23.	उष्ट्रासन	5 मिनट कम से कम
24.	सुप्तवज्रासन	5 मिनट कम से कम
25.	मत्स्यासन	10 मिनट कम से कम

26.	अर्धमत्स्येन्द्रासन	10 मिनट कम से कम
27.	द्विपादमध्यशीर्षासन	5 मिनट कम से कम
28.	कपोतासन	4 मिनट कम से कम
29.	पार्वती आसन	4 मिनट कम से कम
30.	मत्स्येन्द्रासन	8 मिनट कम से कम
31.	वृश्चिकासन	2 मिनट कम से कम
32.	कन्दपीड़ासन	2 मिनट कम से कम
33.	सिंहासन	3 मिनट कम से कम
34.	बकासन/बगुलासन	2 मिनट कम से कम
35.	लोलासन	2 मिनट कम से कम
36.	एकपादांगुष्ठासन	2 मिनट कम से कम
37.	जानुगमनासन	सामर्थ्यानुसार
38.	आकर्ण धनुषासन	4 मिनट कम से कम
39.	आंजनेयासन	3 मिनट कम से कम
40.	कागासन	आवश्यकतानुसार
41.	उत्थित पद्मासन	2 मिनट कम से कम
42.	ऊर्ध्वपद्मासन	5 मिनट कम से कम
43.	कुक्कुटासन	2 मिनट कम से कम
44.	गर्भासन	2 मिनट कम से कम
45.	कूर्मासन	3 मिनट कम से कम
46.	तुलासन/दोलनासन	2 मिनट कम से कम
47.	एकपाद शिरासन	4 मिनट कम से कम
48.	वातायनासन	4 मिनट कम से कम
49.	गरुड़ासन	3 मिनट कम से कम
50.	द्विपाद मध्य शीर्षासन	2 मिनट कम से कम
51.	हस्तपादांगुष्ठासन	2 मिनट कम से कम
52.	कोणासन/त्रिकोणासन	5 मिनट कम से कम
53.	चन्द्रासन/अर्धचन्द्रासन	4 मिनट कम से कम
54.	चक्रासन	2 मिनट कम से कम
55.	शीर्षपादासन	2 मिनट कम से कम
56.	स्नायु संचालनासन	2 मिनट कम से कम
57.	पादांगुष्ठनासाग्रस्पर्शासन	2 मिनट कम से कम
58.	सेतुबन्धासन	5 मिनट कम से कम

59.	योगनिद्रासन/द्विपादशिरासन	4 मिनट कम से कम
60.	शवासन/विश्रामासन	10 मिनट कम से कम
61.	जानुशक्ति विकासकासन	2 मिनट कम से कम
62.	स्वस्तिकासन	30 मिनट कम से कम
63.	सिद्धासन	30 मिनट कम से कम
64.	समासन	30 मिनट कम से कम
65.	पद्मासन	30 मिनट कम से कम
66.	अर्धपद्मासन	60 मिनट कम से कम
67.	बद्धपद्मासन	60 मिनट कम से कम
68.	वीरासन	30 मिनट कम से कम
69.	गोमुखासन	45 मिनट कम से कम
70.	वज्रासन	30 मिनट कम से कम
71.	सरलासन/सुखासन	60 मिनट कम से कम
72.	समस्त बन्ध व मुद्राएं	सामर्थ्यानुसार अधिकाधिक
73.	द्विपाद चक्रासन	5 मिनट कम से कम
74.	उत्थिद द्विपादासन	2 मिनट कम से कम
75.	उत्थित एकैकपादासन	2 मिनट कम से कम
76.	उत्थित हस्तमेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
77.	शीर्षबद्धहस्तमेरुदण्डासन	सार्मथ्यानुसार
78.	जानुस्पृष्ट भाल मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
79.	उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
80.	उत्थित पाद मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
81.	भाल स्पृष्अ द्विजानुमेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
82.	सरलहस्त भुजंगासन	5 मिनट कम से कम
83.	उत्थितैकपाद भुजंगासन	3 मिनट कम से कम
84.	उत्थित पादशीर्ष भुजंगासन	2 मिनट कम से कम

❑❑



24

उपसंहार तथा निष्कर्ष

योग समस्त ज्ञानों में सर्वोत्तम है। क्योंकि योग के अंगों का अनुष्ठान करने से शुद्धि एवं विवेक ख्याति प्राप्त होती है। जैसा की '*योगदर्शन*' में कहा है— '**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति राविवेक ख्यातेः**'। (योग के अंग का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का नाश होने पर, ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है) इसीलिए '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किन्मयैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥

अर्थात्—जो पुरुष नित्य प्रति योग शास्त्र को पढ़ता है, उसे किसी अन्य शास्त्र के विस्तार की क्या आवश्यकता है? क्योंकि यह शास्त्र साक्षात् आदिनाथ शिवजी के मुखारविन्द से ही निकला है।

योगशास्त्राध्ययने साधकस्य कृतकृत्यता।
स्नातं तेन समस्ततीर्थ सलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा॥
यज्ञानां च हुतं सहस्त्रमयुतं देवाश्य संपूजिताः॥
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्ग च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारेण क्षणमापि प्राप्नोतिधैर्य मनः॥

अर्थात्—जिसने योगशास्त्र का अध्ययन कर लिया, उसने मानो सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसने मानो ब्राह्मणों को पृथ्वी का दान दिया और हजारों यज्ञों में आहूतियां दे डालीं। मानो सभी देवताओं का पूजन और पितरों का तर्पण करके उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति करा दी। क्योंकि उक्त सभी फल इसके द्वारा ब्रह्मचिन्तन करने में क्षण भर में ही प्राप्त हो सकते हैं।

(लेकिन पढ़कर समझना, गुनना और आचरण में लाना ही प्रभाव उत्पन्न करता है। मात्र पढ़ना या रटना नहीं। इसीलिए '*कबीर*' ने कहा है—'**पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ...**')।

प्राण शक्ति व समस्त शक्तियों की केन्द्रभूता शक्ति कुण्डलिनी का जागरण मात्र योगविद्या द्वारा ही सम्भव है जिसके बल पर मनुष्य स्वयं परमात्मा हो जाता है। (यानि आत्मा परमात्मा में लीन होकर परमात्मा ही हो जाता है)।

इसीलिए वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों आदि में उन्मुक्त कण्ठ से कुण्डलिनी शक्ति की महिमा का गुणगान किया गया है। यथा—'हे प्राणाग्नि! मेरे जीवन में उषा बनकर प्रकट हो और अज्ञान का अन्धकार दूर करो। ऐसा बल प्रदान करो जिससे देवशक्तियां खिंची चली आएं।'

—ऋग्वेद

'हे आत्माग्नि! तेरे द्वारा बल, प्रकाश, तेज, प्रतिभा, पराक्रम, ओज सभी मेरे भीतर से उभर रहे हैं। हे अग्नि, तेरे तैंतीस विभाग (मेरुदण्ड की 33 कशेरुकाएं जो 33 करोड़ देवताओं की ही प्रतीक हैं) मुझ पर अनुग्रह करें।'

—अथर्ववेद

'जिसकी कुण्डलिनी जाग जाती है उसकी बैखरी, मध्यमा, परा और पश्यन्ति वाणियां जागृत हो जाती हैं। अतः उसका कथन सत्य होकर रहता है।'

—महातन्त्र

'हे दिव्याग्नि! तू आयु, वर्चस, सुसंतति, धन, मेधा, रति, पौरुष बनकर हमें अपना अनुग्रह प्रदान कर।'

—यजुर्वेद

'कुण्डलिनी के जगते ही अन्तर में छिपे वैभव अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं।'

—योगिनीतन्त्र

योग साधना द्वारा जगाई हुई कुण्डलिनी बिजली के समान तड़पती चमकती है। उससे जो सोया है, सो जाग जाता है, जो जागा है, वह दौड़ने लगता है (अर्थात् आत्मोत्थान एवं बहुविधि प्रगतियां होती हैं, अन्तः प्रेरणा व शक्ति मिलती है)।

—त्रिशिखब्राह्मण

जिसकी मूलाधार शक्ति सार ही है। उसका सारा संसार सो रहा है, जिसकी कुण्डलिनी जाग गई, समझो कि उसका भाग्य जाग गया।'

—महा योग विज्ञान

'कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्थित आत्माग्नि तेज के मध्य में अवस्थित है। वह जीव की जीवनी शक्ति है। तेजस और प्राण आकार है।'

—योग कुण्डल्युपनिषद्

'यह कालाग्नि कुण्डलिनी जब अधोगामी होती है तो मनुष्य को अशक्त बना देती है। परन्तु जब ऊपर उठती है तो उच्च सिद्धियों को प्रदान करती हुई ब्रह्मलोक तक पहुंचती है।'

—बृहज्जाबालोपनिषद्

अतः योग और कुण्डलिनी का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इनके विषय में अधिक कहना भी सूर्य को जुगनू दिखाने के ही समान होगा। बहरहाल—योग या ध्यान, मंत्र या समाधि, कुण्डलिनी या सिद्धियां, शांति या मोक्ष—सभी कुछ मन और प्राणों के निरोध से ही सम्बन्ध रखते हैं। **मन से प्राण और प्राण से मन वश में आता है** अतः दोनों में से एक को साधे बिना योग मार्ग में सफलता मिल ही नहीं सकती। अतः समस्त शास्त्रों ने मन के संयम पर विशेष बल दिया है और सिद्धि प्राप्ति तथा उसे सहेज पाने के लिए पात्रता उत्पन्न करने का निर्देश दिया है।

जिस व्यक्ति का मन इन्द्रियों सहित जीत लिया गया है, वह तो जीता हुआ भी मुक्त या मोक्ष पाए हुए के समान ही है जैसा कि '*श्रीमद्‌भागवत् गीता*' में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्माणि ते स्थिताः॥

अर्थात्—जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा जीवितावस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया हो, अर्थात् वे जीते हुए ही संसार में मुक्त है। क्योंकि सच्चिदानन्द घन परमात्मा निर्दोष और सम हैं। अतः वे सच्चिदानन्द धन परमात्मा में ही स्थित हैं।

इसके लिए सर्वप्रथम संशयों का नाश कर ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं माना गया—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।**' (ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में निस्संदेह कुछ नहीं है)। तभी *गीता* में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतम्।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

अर्थात्—'यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जाएगा।'

अतः कल्याण चाहने वाले को सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तब अविद्या रूपी अन्धकार दूर होकर और ज्ञान का प्रकाश होकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः संसार की निःसारता, माया का प्रभाव व ब्रह्म का महत्त्व सहज ही समझ आ जाता है। भेद बुद्धि का नाश होने लगता है। आत्म तत्त्व को जानने की छटपटाहट उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति भौतिक स्तरों से ऊपर उठ जाता है। पात्रता के लिए उपयुक्त धरातल प्राप्त हो जाता है। अतः तब वह मन व इन्द्रियों को विषयों से कछुए के अंग सिकोड़ लेने के समान सिकोड़ कर अन्तर्मुखी करने में सफल होता है।

इस प्रकार चित्त वृत्ति निरोध से विषयों की विरसता से तथा मन, प्राण व इन्द्रियों के अन्तर्मुखी हो जाने पर वह सहज ही ध्यानावस्था को प्राप्त करता हुआ

अन्ततः समाधि तक पहुंचता है। तब उसके लिए सम्भव, असम्भव, भोग, मोक्ष, चमत्कार, सिद्धि आदि कुछ भी दुष्कर नहीं रहता। उसके समस्त मल, विकार, पाप और कर्म तक योगाग्नि में भस्म हो जाते हैं। तब वह कर्म बन्धन से मुक्त हो, योगाग्नि में परिस्कृत हो, कुण्डलिनी के प्रकाश में आत्म तत्त्व का साधात्कार करता है। और बिन्दु से सागर अथवा स्व से परम हो जाता है। इसीलिए महर्षि अष्टावक्र ने समस्त योगशास्त्रों का निचोड़ राजा जनक को दो पंक्तियों में कह दिया था।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥

—अष्टावक्र गीता

अर्थात्—विषयों में विरसता मोक्ष है। विषयों में रस बन्धन है। इतना ही विज्ञान है। (अब) तू जैसा चाहे वैसा कर।

—इति—



कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

सशैलवनधात्रीणं यथा धरोऽहिनायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथा धारोहि कुंडली।

अर्थात जिस प्रकार पर्वत, वन, सागर आदि को धारण करने वाली पृथ्वी का आधार अनन्त नाग है, उसी प्रकार शरीर की समस्त गति, क्रिया शक्ति ऊर्जा व समस्त योग तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जितनी भी शक्तियां विद्यमान हैं उन सबको ईश्वर ने मनुष्य रूपी पिंड में एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है यही शक्ति कुण्डलिनी शक्ति है।

'ह' अक्षर की भांति, साढ़े तीन लपेटे खाए हुये सर्पिणी की भांति सुप्त पड़ी रहने वाली यह शक्ति जब यौगिक उपायों द्वारा गति प्राप्त करने पर ऊपर की ओर बढ़ती है तब यह अद्भुत शक्ति कुण्डलिनी जैसे-जैसे चक्रों का भेदन करती है, वैसे-वैसे ही मनुष्य चमत्कारी एवं आलौकिक शक्तियों को प्राप्त करता जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इस गुप्त महाविद्या का विस्तृत, सचित्र एवं सरल विवरण है। पुस्तक में कुण्डलिनी परिचय, कुण्डलिनी जागरण के उपाय, अष्टांग योग, ध्यानयोग, हठ योग, सभी मुद्रायें, एवं तंत्र एवं मंत्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जागृत कर अब आप भी उन चमत्कारी एवं आलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं जो ... स्त करती हैं।

पवन पॉकेट बुक्स

ISBN-81-87673-67-2